हिन्दू-विवाह
की
उत्पत्ति और विकास

भारतीय लोक संस्कृति शोध संस्थान
* वाराणसी *

लोक संस्कृतिः जयतु

डा० कृष्णदेव उपाध्याय

१९५४ ई०

डा॰ कृष्णदेव उपाध्याय एम. ए., पी. एच.-डी.

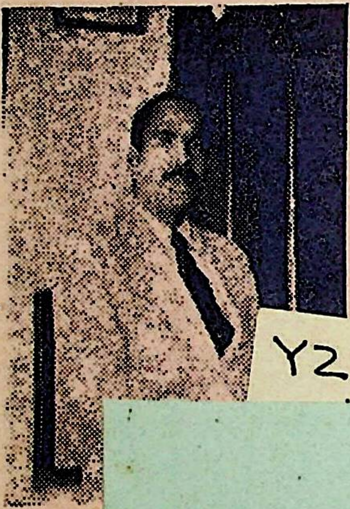

बलिया जिले के सोनवर्सा नामक गाँव में सन् १९११ ई० में जन्म। प्रारम्भिक शिक्षा ग्रामीण पाठशाला में। माध्यमिक शिक्षा बलिया में तथा उच्च शिक्षा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में।

... (हिन्दी),

नैनीताल त ...

ग्रेड में ...

के हिन्दी ...

भारतीय ...

भारतीय ...

तथा उज्ज ...

सम्मेलन, ...

स्वागताध्य ...

Y217-73(Q2)2329
L4
...देव)
...उपाध्याय

Y217-73(Q2) 2329
152L4

पुस्तक नं० २८८८

हिन्दू - विवाह

की

उत्पत्ति और विकास

लेखक

डा० कृष्णदेव उपाध्याय

(एम. ए., पी. एच. डी.)

संस्थापक - संचालक,

भारतीय लोक - संस्कृति शोध - संस्थान, वाराणसी

भूमिका - लेखक

पद्म - भूषण, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

प्रकाशक

भारतीय लोक-संस्कृति शोध-संस्थान

दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

सन् १९७४ ई०

प्रकाशक,
भारतीय लोक-संस्कृति शोध-संस्थान,
दुर्गा कुण्ड रोड, वाराणसी

Y217-73(82)
152L4

प्रथम संस्करण

मूल्य रु. २०=०० (बीस रुपया)

सर्वाधिकार लेखक के आधीन

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय
वाराणसी।
आगत क्रमांक... 2321
दिनांक ...

मुद्रक
लोक - संस्कृति - प्रेस
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

THE ORIGIN AND DEVELOPMENT OF HINDU MARRIAGE

By

Dr. K. D. Upadhyaya

Founder—Director,

Indian Folk - Culture Research Institute, VARANASI

With an Introduction by

Padma - Bhushan, Dr. Hajari Prasad Dwivedi

1 9 7 4

Published by

Indian Folk-Culture Research Institute,

Durga Kund Road, Varanasi

(U. P.) INDIA

All rights reserved by the author

Price 20=00 (Rupees Twenty only)

Printed by

Lok Sanskriti Press,
Durga Kund Road, Varanasi
(U. P.) India

समर्पण - पत्र

जिनका अजस्र आशीर्वाद ही मेरे जीवन का बल और सम्बल है, जिनका स्वाभाविक वात्सल्य - स्नेह ही मुझ अकिंचन की परम विभूति है, जिनकी धार्मिक वृत्ति तथा परोपकारी प्रवृत्ति ही मेरे परिवार में मंगल की धात्री और कल्याण की विधातृ है,

उन्हीं

प्रातः स्मरणीय, परम महा भागवत, पूज्य पिता जी

पं॰ राम सूचित उपाध्याय जी

की

परम पावन पुण्य - स्मृति में

उनके कनिष्ठ पुत्र की यह विनम्र कृति

सादर, सप्रेम, समर्पित

"पितरि प्रीतिमापन्ने, प्रीयन्तां सर्वदेवताः"

कृष्णदेव

भूमिका

मनुष्य समाज का सबसे प्रधान संस्कार विवाह है। इसी से समाज की व्यवस्था बनी हुई है। संसार के हर हिस्से में यह संस्कार किसी न किसी रूप में पाया जाता है, पर इसकी विधियों में बड़ा अन्तर है। प्रसिद्ध समाज-शास्त्री वेस्टरमार्क ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'हिस्ट्री आफ ह्यूमन मैरेज' में संसार में प्रचलित विविध विवाह–पद्धतियों का ब्योरा दिया है। उसे देखने से लगता है कि कितनी विचित्र प्रथाएँ इस संस्कार को केन्द्र करके विकसित हुई हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वेस्टरमार्क ने या उसके अन्य समानधर्मा समाज-शास्त्रियों ने जितनी प्रथाओं का उल्लेख किया है उतनी ही प्रथाएँ संसार में विद्यमान हैं। निश्चय ही बहुत-सी छूट गई हैं। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि मनुष्य समाज में विवाह की सैकड़ों विधियाँ प्रचलित हैं। सब का उद्देश्य है, समाज को स्थिरता प्रदान करना और स्वैराचार को नियन्त्रित करना। देश और काल में प्रचलित सभी प्रथाओं का आकलन कठिन कार्य है।

डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने प्रस्तुत पुस्तक में संक्षेप में विवाह पद्धति का इतिहास देकर उसके इस देश में प्रचलित रूपों का विवेचन किया है। अपने देश में पुराकाल से अब तक विवाह-विधियों का जो उल्लेख मिलता है, वह अपने आप में इतना विशाल है कि उसी के अध्ययन के लिए जीवन भर की साधना आवश्यक है। डा० उपाध्याय ने इस विषय का गंभीर अध्ययन किया है और उसके विकास-क्रम को समझाने का सफल प्रयत्न किया है। इस देश के पुराने साहित्य में इस प्रथा की उत्पत्ति के बारे में भी इंगित मिलते हैं, अनेक प्रकार के विवाहों के प्रचलन का भी संकेत मिलता है और यह भी देखा जाता है कि पुराने ऋषियों ने अनेक प्रकार के विवाहों में से उत्तम विवाह-विधि को किस प्रकार खोज की है। डा० उपाध्याय ने एक ओर अपने देश के प्राचीन साहित्य से इस विषय की उल्लेख योग्य बातों का संग्रह और प्रतिपादन किया है तो दूसरी ओर आधुनिक पंडितों के विचारों का भी सावधानी से विवेचन किया है और इस प्रकार एक अत्यन्त जटिल विषय को सहज-सरल भाषा में स्पष्ट किया है। उन्होंने सूत्र-काल से लेकर आधुनिक काल तक की वैवाहिक-विधियों का अनुशीलन किया है और बताया है कि गृह्यसूत्रों से ही इस बात का आभास मिलने लगता है कि नई बातों का धीरे-धीरे समावेश होता गया। उदाहरणार्थ

उन्होंने दिखाया है कि मधुपर्क, लाजा-होम, अश्मारोहण, गाथागान, मूर्द्धाभिषेक, हृदय-स्पर्श, सूर्य-दर्शन तथा सप्तपदी परवर्ती विधान है। ऐसा ज्ञात होता है कि वैदिक काल के पश्चात् पुरोहितों ने स्थानीय प्रथाओं को स्थान देने की इच्छा से प्रेरित होकर विवाह की विधियों का अत्यधिक विस्तार कर दिया जो कई कारणों से अनिवार्य था। आपस्तम्ब तथा आश्वलायन ने विवाह-संस्कारों में ग्रामीण रीतियों तथा कुल की प्राचीन परम्पराओं को सम्मिलित करने का विधान करते हुये इस पर बहुत ही जोर दिया है। सूत्रकाल के पश्चात् वैवाहिक-विधियों में और अधिक परिवर्तन हुआ। बहुत-सी नयी विधियाँ तथा परम्परायें इनमें जोड़ दी गयी। पारस्कर के मत से ग्राम की वृद्ध स्त्रियों के द्वारा जो विधि बतलायी जाय वह भी मान्य है क्योंकि वे प्राचीन तथा प्रचलित लौकिक विवाह-परम्परा की रक्षा करने वाली समझी जाती हैं। आश्वलायन ने लिखा है कि स्थानीय रीतियाँ भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं। अतः विवाह-संस्कार में उनका भी ध्यान रखना चाहिए। नारायण भट्ट तथा कमलाकर भट्ट ने भी 'देशाचार' का आदर करने की व्यवस्था की है।

डा० कृष्णदेव उपाध्याय लोक प्रथाओं के मर्मज्ञ हैं। उन्होंने इस पुस्तक में लोकाचारों का प्रामाणिक विश्लेषण किया है। इस प्रकार यह पुस्तक लोक और वेद द्वारा प्रतिपादित विधियों का बहुत अच्छा विवेचन प्रस्तुत करती हैं। डा. उपाध्याय आधुनिक युग की समस्याओं पर भी दृष्टिपात करते हैं। वे विस्तार से विवाह के इतिहास पर विचार करते समय शास्त्रीयता के साथ मानवीय दृष्टि को उपेक्षणीय नहीं समझते। वे विवाह-विधियों के परिवर्तमान रूपों को भी ध्यान में रखते हैं और इस महत्वपूर्ण संस्कार में संयम और मर्यादा को आदर देते हैं। स्वैराचार पर नियन्त्रण और सामाजिक कल्याण ही विवाह के लक्ष्य हैं। जिन देशों में स्वैराचार बढ़ा है उनके कर्णधारों में इसके दुष्परिणाम पर दृष्टि गई है। संयम और मर्यादा विवाह के लिए ही नहीं, मानव की निर्बाध जय - यात्रा के लिए भी आवश्यक है। मुझे इस पुस्तक को पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई है। इसका मैं हार्दिक स्वागत करता हूं।

हजारी प्रसाद द्विवेदी

लेखक का वक्तव्य

इस ग्रन्थ के प्रणयन तथा प्रकाशन की अपनी एक राम कहानी है। परन्तु मैं इसे विस्तार पूर्वक लिख कर पाठकों का समय नष्ट नहीं करना चाहता। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि पाठ्य - पुस्तकों के प्रकाशन की अन्धाधुंध दौड़ में विद्वता-पूर्ण पुस्तकों का प्रकाश में आना प्रायः असम्भव सा हो गया है। प्रस्तुत पुस्तक अनेक वर्षों तक प्रकाशकों की बन्द आलमारियों की शोभा बढ़ाती रही। परन्तु आज मुझे इस पुस्तक को पाठकों के सन्मुख प्रस्तुत करने में बड़ी प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

हिन्दी में समाजशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का आज नितान्त अभाव है। फिर हिन्दू - विवाह के सम्बन्ध में तो पुस्तकों का अत्यन्ताभाव हो समझना चाहिए। जहाँ तक इन पंक्तियों के लेखक को ज्ञात है डा० राजबली पाण्डेय की लिखी "हिन्दू संस्कार" नामक पुस्तक इस विषय में अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। परन्तु इसमें समस्त सोलहों संस्कारों का वर्णन है। इसमें विवाह का विवरण केवल एक संस्कार के रूप में संक्षिप्त रीति से दिया गया है। विद्यालंकार जी की पुस्तक 'हिन्दू-परिवार मीमांसा' निःसन्देह एक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है जिसमें विषय का प्रतिपादन बड़ी ही गंभीरता के साथ किया गया है। परन्तु इसका वर्ण्य विषय बड़ा ही व्यापक है। डा० सम्पूर्णानन्द जी का "हिन्दू-विवाह में कन्या-दान" अपने विषय का अनूठा ग्रन्थ है। परन्तु हिन्दी में ऐसी पुस्तक का नितान्त अभाव था जिसमें हिन्दू - विवाह की उत्पत्ति और विकास का विस्तृत विवेचन किया गया हो। इसके साथ ही विवाह-सम्बन्धी अनेक समस्याओं पर गंभीर विचार प्रस्तुत किया गया हो। अंग्रेजी में इस विषय पर अनेक ग्रन्थ विद्यमान हो सकते हैं, परन्तु राष्ट्र भाषा हिन्दी में इसका अभाव

खटकने वाली बात थी। हमारे धर्मशास्त्रकारों ने विवाह की उत्पत्ति, उसके विभिन्न प्रकार, कन्या तथा वर की वैवाहिक योग्यता तथा विभिन्न वैवाहिक विधियों पर जितना गंभीर, विद्वत्तापूर्ण तथा मनोवैज्ञानिक विचार किया है उतना अन्यत्र उपलब्ध होना कठिन है। इन विषयों का जितना शास्त्रीय विवेचन अपने देश में किया गया है उतना संसार के किसी देश में सम्भव नहीं है। परन्तु अभी तक हिन्दी में कोई ऐसा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं था जिसमें इन विषयों का शास्त्रीय दृष्टि से साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया हो। प्रस्तुत पुस्तक इसी अभाव की पूर्ति के लिए लिखी गयी है। हमारे स्मृतिकारों ने विवाह के जो आठ प्रकार बतलाये हैं, वे किस प्रकार से सभ्यता के विकास के क्रम की ओर संकेत करते हैं, इसको भी दर्शाने का प्रयत्न किया गया है। इसके साथ ही संसार के विभिन्न देशों में, इतिहास के विभिन्न कालों में, जो वैवाहिक प्रथायें प्रचलित थीं, उनसे हमारी प्रथाओं का कहाँ तक साधर्म्य तथा वैधर्म्य है यह भी दिखलाने का विनम्र प्रयास यहाँ किया गया है। सती, नियोग तथा विधवा - विवाह की प्रथाओं की भी अन्य देशों में प्रचलित प्रथाओं से यथा स्थान तुलना की गई है। अतः इस ग्रन्थ की रचना तुलनात्मक दृष्टि को ध्यान में रखकर की गई है। इस प्रकार हिन्दू - विवाह की उत्पत्ति तथा विकास के शास्त्रीय स्वरूप का प्रतिपादन यहाँ साङ्गोपाङ्ग रूप में किया गया है।

वर्तमान काल में हिन्दू - समाज में अनेक बुराइयाँ आ गई हैं जिससे यह समाज द्रुत गति से पतन की ओर उन्मुख हो रहा है। प्रस्तुत लेखक ने हिन्दू - समाज को संगठित करने तथा इसे शक्तिशाली बनाने के लिए कुछ सुझाव भी उपस्थित करने का प्रयास किया है। ये सुझाव कोरे पुस्तकीय ज्ञान के ऊपर आश्रित नहीं है, बल्कि चिर अनुभव की सुदृढ़ शिला पर निर्मित हैं। यदि हिन्दू - समाज के नेता इन सुझावों पर ध्यान देंगे और तदनुकूल जन-मत जगाने का प्रयत्न करेंगे तो हिन्दू - समाज का ही नहीं, बल्कि देश का भी कल्याण होगा।

भारतीय लोक - साहित्य के अध्येता तथा भारतीय लोक - संस्कृति के अनुसन्दिधित्सु के लिए विवाह के क्षेत्र में ग्रन्थ - रचना करना कुछ लोगों को अनधिकार चर्चा के समान जान पड़ेगा। परन्तु इस संबंध में केवल इतना ही निवेदन करना पर्याप्त होगा कि सरस्वती के पावन मंदिर में पूजा करने का अधिकार सबको समान रूप से प्राप्त है। यदि वाक् देवता के प्रति हृदय में अटूट श्रद्धा है तो कोई भी व्यक्ति—चाहे वह कितना ही तुच्छ क्यों न हों—अपनी सुमनांजलि अर्पित कर सकता है। फिर दूसरी बात यह है कि लोक - संस्कृति का क्षेत्र इतना व्यापक तथा विस्तृत है कि मानव - जीवन के सभी संस्कार, प्रथायें, तथा विश्वास इसकी सीमा में अन्तर्भुक्त हैं। अतः लोक-संस्कृति के शोध-कर्ता के लिए विवाह की चर्चा उसके अधिकार क्षेत्र के भीतर ही समझनी चाहिए। इन्हीं उपर्युक्त दोनों दृष्टियों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत लेखक इस गहन कर्म में प्रवृत्त हुआ है। यदि इस प्रयास से किसी विद्वान् को कुछ लाभ पहुंचा, किसी शोधी - छात्र का कुछ पथ - प्रदर्शन हुआ, किसी समाज सेवी के हृदय में समाज सुधार का विचार जागृत हुआ और किसी नवयुवक के हृदय में समाज की बुराइयों को दूर करने की भावना पैदा हुई, तो वर्तमान लेखक अपने इस विनम्र प्रयास को सफल समझेगा। इस पुस्तक के लिखने में मैंने इस मल्लिनाथी प्रतिज्ञा को निभाने का प्रयास किया है—

"नामूलं लिख्यते किंचित् नानपेक्षितमुच्यते।"

अतः अपने कथन के प्रमाण में वेद, पुराण गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों से प्रचुर उद्धरण उद्धृत किये गये हैं जिससे इस विषय पर शोध करने वाले विद्वानों तथा छात्रों को मूल ग्रंथ का पता लग सके। अंग्रेजी ग्रंथों से भी इसी कारण उद्धरण दिया गया है। इस प्रकार यहाँ जिस विषय का प्रतिपादन किया गया है, जिन मतों अथवा सिद्धान्तों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है व निराधार या निर्मूल नहीं हैं। इसके साथ ही यहाँ ऐसे किसी विषय का वर्णन नहीं किया गया है जो व्यर्थ तथा अनपेक्षित हों। मुझे इस प्रतिज्ञा के निर्वाह करने में तथा इस ग्रंथ के प्रणयन करने में कितनी सफलता मिली है इसे दोषज्ञ आलोचक तथा सुधी-समुदाय ही बतलाने में समर्थ हैं।

मैं उन लेखकों तथा विद्वानों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना अपना कर्तव्य समझता हूँ जिनके ग्रन्थों से इस पुस्तक के प्रणयन में अत्यधिक सहायता ली गई है। ऐसे विद्वानों में डा० ए० एस० अल्टेकर, डा० पी० वी० काणे तथा डा० राजबली पाण्डेय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। विदेशी विद्वानों में डा० वेस्टरमार्क की पुस्तक का विशेष उपयोग किया गया है। इसके साथ ही जिन अन्य विद्वानों के ग्रन्थों से सहायता ली गई है उनके नामों का निर्देश पाद - टिप्पणी में 'यथा - स्थान कर दिया गया है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिखकर मुझे गौरवान्वित करने की जो कृपा की हैं इसके लिए मैं नतमस्तक होकर उनका हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ। अन्त में अपने कनिष्ठ पुत्र रवि शंकर उपाध्याय तथा कनिष्ठा पुत्री बीणा कुमारी उपाध्याय, एम. ए. को मै हृदय से आशीर्वाद देता हूँ जिनकी विविध प्रकार की सहायता से ही यह पुस्तक इतनी शुद्ध और सुन्दर प्रकाशित हो सकी है। भूत भावन भगवान् विश्वनाथ, माता अन्नपूर्णा और मेरे इष्टदेव संकट हरण भगवान् 'संकट मोचन' हनुमान् से मेरी यही हार्दिक प्रार्थना है कि वे मुझे सुन्दर स्वस्थ्य, दीर्घ आयुष्य तथा ग्रंथ-प्रणयन के प्रति अटूट अनुराग और अनवरत उत्साह प्रदान करने की कृपा करें जिससे मैं भारतीय लोक-साहित्य तथा लोक - संस्कृति की सेवा करने में आजीवन समर्थ हो सकूँ। भगवती दुर्गा के श्री चरणों में मेरा यही सविनय निवेदन है कि—

"देहि सौभाग्यमारोग्यं, देहि मे परमं सुखम्।
वयं देहि, बलं देहि, यशो देहि, मदं जहि॥"

एवमस्तु

—०—

भारतीय लोक-संस्कृति शोध-संस्थान,
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी.
रामनवमी सं० २०३१ वि०; १। ४। ७४.

विनीत—
कृष्णदेव उपाध्याय

(१४)

विषय-सूची

(१) प्रथम अध्याय—विवाह की उत्पत्ति १—३०

विषय प्रवेश १; मानव समाज की भिन्न भिन्न अवस्थायें ३; वैवाहिक प्रवृत्ति के भीतर अन्तर्हित भावना ५; विवाह की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मत—

(१) डा० वेस्टरमार्क का मत ६; पक्षियों में मैथुन कर्म और सहवास ८; पशुओं में इस आदत की सत्ता ६, विवाह तथा परिवार में सम्बन्ध १२; (२) दूसरा मत १४; महाभारत में विवाह बन्धन के अभाव का उल्लेख १८ वेस्टरमार्क के द्वारा इस मत का खण्डन २४; (३) तीसरा मत २५; भारत में विवाह की उत्पत्ति २७; समीक्षा २८—

(२) दूसरा अध्याय—विवाह का महत्त्व तथा उद्देश्य ३१-४८

विवाह शब्द का अर्थ ३२; भारत में वैवाहिक प्रथा की प्राचीनता ३३; मानव-जीवन में विवाह की आवश्यकता ३४; विवाह की सामाजिक आवश्यकता ३४; विवाह की महत्ता ३७; संसार के अन्य देशों में विवाह का महत्व ३६; विवाह का उद्देश्य ३६; विवाह का धार्मिक उद्देश्य ४३; यूरोपीय देशों में विवाह की कल्पना ४५; दोनों के उद्देश्यों की तुलना ४७

(३) तीसरा अध्याय—विवाह का विकास ४७-९९

वेदों में विवाह के प्रकार ४६; धर्मसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों में विवाह के बिभिन्न भेद ५०; स्मृतियों में उल्लेख ५१, विवाह के भेद ५२; (१) पैशाच विवाह ५२; पैशाच विवाह को जायज मानने का कारण ५३; (२) राक्षस विवाह ५५; राक्षस विवाह के उदाहरण ५७; इस प्रथा के अवशिष्ट चिह्न ५८;

इस प्रथा का क्रमिक ह्रास ५८; संसार के अन्य देशों में कन्या हरण की प्रथा ५६; (३) गान्धर्व विवाह ६३; नामकरण तथा प्राचीनता ६४; गान्धर्व विवाह का औचित्य ६५; इस विवाह के कुछ उदाहरण ६७; इस प्रथा का ह्रास ६७; स्वयम्वर की प्रथा ६६; ऐतिहासिक उदाहरण ७१; संसार के अन्य देशों में गान्धर्व विवाह की प्रथा ७२; (४) आसुर विवाह ७४; नाम करण का करण ७५; वेदों में इस प्रथा का उल्लेख ७६; आसुर विवाह के कुछ उदाहरण ७७; शास्त्रकारों द्वारा इस प्रथा की निन्दा ७८; संसार के अन्य देशों में कन्या विक्रय की प्रथा ८०; (५) आर्ष विवाह ८४; आसुर तथा आर्ष विवाह में अन्तर ८४; परिभाषा ८५; (६) प्राजापत्य विवाह ८७; प्राजापत्य शब्द का अर्थ तथा नामकरण का कारण ८८; (७) दैव विवाह ६०; (८) ब्राह्म विवाह ६१; विभिन्न वर्णों के लिये इन विवाहों की उपयोगिता ६३; इन विवाहों से उत्पन्न सन्तति के गुण का विचार ६५; महत्व ६७; आधुनिक समय में विवाह की प्रथा ६८।

(४) चौथा अध्याय—विवाह - सम्बन्ध १००–१७१

उपक्रम १००; (क) विवाह में वर तथा वधू की योग्यता १०१ (१) वर की योग्यता १०१; कुल का महत्व १०२; [illegible] कन्या की पात्रता १०६; बाह्य गुण १०६; आभ्यान्तर गुण १०६; कन्या के चुनाव की पद्धति १०६; वर तथा कन्या की अवस्था में अनुपात १११; भ्रातृहीन कन्या से विवाह का निषेध ११२; (ख) विवाह को निश्चित करने में वधू का हाथ ११४; स्वयम्वर की प्रथा ११६; इस प्रथा का ह्रास ११७; कोर्टशिप ११८; (ग) विवाह के समय वर तथा वधू की आयु ११९ (१) वर की आयु १२०; (२ क) कन्या की आयु १२२ वैदिक काल १२२; धर्मसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों का काल १२४; नग्निका शब्द का अर्थ १२६; बौद्धग्रन्थ १२७; महाभारत तथा रामायण १२८; (२ ख) कन्या की वैवाहिक आयु में क्रमशः कमी १२६; कन्याओं के विवाह की आयु में

कमी का कारण १३१; कन्याओं का बाल-विवाह १३३; विलम्ब से विवाह करने में पाप की उद्भावना १३५; मुसलमानी काल में विवाह की आयु १३६; यूरोप के अन्य देशों में विवाह-वय १३७; वर्तमान अवस्था १३८।

(घ) विवाह के कुछ प्रतिबन्धक १४०

(१) सपिण्डता—सपिण्ड का अर्थ १४०; सपिण्डता की सीमा १४१; इस सम्बन्ध में आचार्यों के विभिन्न मत १४४; सपिण्ड में विवाह न करने के कारण १४५; (२) सगोत्रता—गोत्र शब्द का अर्थ १४६; प्रधान गोत्र १४७; सगोत्र में विवाह न करने का कारण १४८; (३) सप्रवरता—सप्रवर का अर्थ १५०; गोत्र और प्रवर में भेद १५०; सप्रवर में विवाह न करने का कारण १५१, (४) अन्य प्रतिबन्धक—१५१; गोत्र के बाहर विवाह के सम्बन्ध में पश्चिमी आचार्यों के विभिन्न मत १५२।

(ङ) विवाह में शुल्क-ग्रहण १५५

प्राचीन भारत में तिलक तथा दहेज की प्रथा का अभाव १५५ (१) तिलक तथा दहेज की प्रथा की उत्पत्ति १५७, वर्तमान अवस्था १५८, बुराइयाँ १५८, (२) कन्या-शुल्क १५९।

(च) विवाह में ज्योतिष का स्थान १६०

(१) विवाह के लिये शुभ मुहूर्त १६०, विवाह का समय १६३, (२) विवाह में जन्मकुण्डली का स्थान १६४, जन्मकुण्डली में विभिन्न विषयों पर विचार १६५, (३) विवाह के प्रबन्धक एवं कन्यादान के अधिकारी १६६।

(५) पाँचवाँ अध्याय—विवाह-संस्कार १७२—२०६

वैवाहिक विधि का क्रमिक विकास १७२, वेदों में वैवाहिक विधि १७५, सूत्रकाल में विवाह की विधि १७८, वैवाहिक विधि-विधानों की सूची १७९, पद्धति और प्रयोग के समय में वैवाहिक-विधि १८१, विवाह सम्बन्धी कुछ प्रधान विधियाँ १८५, (१) वाक्दान १८५, (२) मृदाहरण १८७, (३) घटी स्थापन १८८, (४) वधूगृहगमन १८८, (५) मधुपर्क १८९, (६) समञ्जन १९०, (७) गोत्रोच्चार १९०, (८) कन्यादान १९०

(६) कङ्कण बन्धन १६१, (१०) लाजाहोम १६१, (११) पाणि ग्रहण १६३, (१२) अश्मारोहण, १६३, (१३) अग्नि प्रदक्षिणा १६४ (१४) सप्तपदी १६५, (१५) हृदय - स्पर्श १६६, (१६) सिन्दूर - दान १६६, (१७) आचार्य - दक्षिणा १६८, (१८) ध्रुवदर्शन १६८, (१६) त्रिरात्र - व्रत १६६, (२०) चतुर्थी कर्म २०१, (२१-२२) देवोत्थापन और मण्डपोंद्वासन २०२, आधुनिक वैवाहिक - विधि २०३।

(६) छठवाँ अध्याय - वैवाहिक - जीवन २०७—२३०

क—स्त्री और पुरुष में परस्पर संबंध २०७

स्त्री के साथ व्यवहार २०७, दुर्व्यवहार के कुछ उदाहरण २०८, पत्नी और पति की एकता २०६, पत्नी का महत्व २०६, (१) पत्नी के धार्मिक कर्तव्य २११, (२) स्त्रियों के साधारण कर्तव्य २१४, पतिव्रता का लक्षण, महत्व और कर्तव्य २१६, कर्तव्य के पालन का तुलनात्मक विवरण २२०, (३) पति की सम्पत्ति में स्त्री का अधिकार २२१, स्त्री-धन २२२।

ख—विवाह - विच्छेद २२४

धर्मशास्त्रों में विवाह - विच्छेद की प्रथा २२५, बौद्ध - ग्रन्थों में तलाक २२७, तलाक की प्रथा की अवनति २२८, यूरोप में विवाह - विच्छेद की प्रथा २२६, वर्तमान अवस्था २३०।

(७) सातवाँ अध्याय—विविध - विवाह २३१—२५५

(१) बहु - विवाह—२३१, वेदों में बहु - विवाह का उल्लेख २३१, गृह्यसूत्रों, स्मृतियों, महाभारत तथा रामायण में उल्लेख २३३, बहु-विवाह के कुछ ऐतिहासिक प्रमाण २३५, गृह्यसूत्रों तथा स्मृतियों में इस प्रथा की निन्दा २३६, वर्तमान अवस्था २३७, बहु - विवाह की बुराइयाँ २३८, (२) बहु - पति - विवाह—२४०, प्राचीन भारत में इसका अभाव २४०, महाभारत में इसका उल्लेख २४२। (३) अन्तरजातीय - विवाह २४४, वेदों में इस प्रथा का उल्लेख २४५, गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों, स्मृतियों तथा महाभारत आदि में उल्लेख २४५, मनु स्मृति में उल्लेख २४८, इसके कुछ ऐतिहासिक प्रमाण २५०, संस्कृत साहित्य में अन्तर - जातीय विवाह का

उल्लेख २५१, अन्तरजातीय विवाह की अवनति का कारण २५२, वर्तमान अवस्था २५३, असवर्ण विवाह का औचित्य २५४। (४) वृद्ध - विवाह २५५, वृद्ध - विवाह की प्रथा २५५।

(८) आठवाँ अध्याय—सती की प्रथा २५६—२९३

सती प्रथा के आविर्भाव का कारण २५६, यूरोपीय देशों में सती की प्रथा २५७, वेदों में सती प्रथा का अभाव २५८, गृह्यसूत्रों में अभाव २६०, महाभारत में सती प्रथा का उल्लेख २६१, संस्कृत - ग्रन्थों में उल्लेख २६३, ब्राह्मणी के सती होने का निषेध २६४, सहमरण तथा अनुमरण २६६, सती प्रथा के कुछ ऐतिहासिक उदाहरण २६७, राजपूतों में सती की प्रथा २६९, सिक्खों तथा मराठों में सती की प्रथा २७१, उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथमार्ध में सतियों के कुछ आँकड़े २७२, बङ्गाल प्रान्त में सतियों के कुछ आँकड़े २७४, वर्तमान अवस्था २७६, स्मृतियों में सतियों की विपुल प्रशंसा २७७, विशेष अवस्था में सती होने का निषेध २७९, सती होने की शास्त्रीय विधि २८०, विभिन्न प्रान्तों में सती होने की विभिन्न प्रथायें २८३, सती होने के लिये बल का प्रयोग २८४, सती प्रथा की निन्दा तथा इसका विरोध २८६, मुसलमानी काल में इसे कम करने का प्रयत्न २८९, अंग्रेजी राज्य में सती प्रथा का कानूनी निषेध २९०, सती होने के उद्देश्य तथा कारण २९१, सती प्रथा पर कुछ विचार २०२।

(९) नवाँ अध्याय - विधवा - विवाह २९४—३२३

'पुनर्भू' शब्द का अर्थ २९४, वेदों में विधवा - विवाह का उल्लेख २९५, गृह्यसूत्रों में इसका उल्लेख २९६, स्मृतियों तथा अन्य ग्रन्थों में उल्लेख २९७, जातकों में उल्लेख ३००, ऐतिहासिक उल्लेख ३०१, कालान्तर में स्मृतिकारों द्वारा इस प्रथा का प्रचण्ड विरोध ३०१, वर्तमान अवस्था ३०४, विधवाओं की संख्या ३०६, विधवा विवाह निषेध के दुष्परिणाम ३०७, १) जातीय शक्ति का ह्रास ३०८, (२) व्यभिचार की वृद्धि ३०८, (३) विधवाओं की दुर्दशा ३०९, विधवा के धर्म ३१०, विधवाओं के द्वारा इन नियमों का पालन ३१५, विधवाओं का मुण्डन ३१५, स्मृतियों में इस प्रथा का अभाव ३१७, महाभारत में मुण्डन का अभाव ३१८, विधवाओं के मुण्डन का उल्लेख ३२०, दाय में हिन्दू - विधवा का अधिकार ३२३।

(१०) दसवाँ अध्याय—नियोग की परम्परा ३२४-४२

गृह्य सूत्रों में नियोग का उल्लेख ३२४, स्मृतियों में उल्लेख ३२६, महाभारत में इस प्रथा का उल्लेख ३२७, इस प्रथा को निन्दा ३३०, नियोग के कुछ नियम ३३२, नियोग से उत्पन्न पुत्र किसका है ३३५, नियोग की प्रथा का रहस्य ३३६, इसका उपयोग एवं वर्तमान अवस्था ३३८, पाश्चात्य देशों में नियोग की प्रथा ३४०—४२ ।

(११) वाँ अध्याय—हिन्दू - विवाह का भविष्य ३४३—५९

उपक्रम ३४३, यूरोपीय देशों में विवाह के विभिन्न प्रचलित भेद ३४४—(१) ट्रायल मैरेज ३४४, (२) कम्पेनियनेट मैरेज ३४६—[३] टेम्पोररी मैरेज ३४६, पाश्चात्य समाज में अशान्ति का कारण ३५०, यूरोपीय देशों में विवाह के लोप को सम्भावना ३५०, हिन्दू-समाजकी स्थिरता और श्रेष्ठता ३५३, हिन्दू - विवाह में वर्तमान कुछ दोष ३५५, (१) तिलक तथा दहेज की प्रथा ३५५, (२) बाल तथा वृद्ध विवाह ३५६, (३) विधवा-विवाह का न होना ३५७ (४) असवर्ण विवाह ३५८, (५) प्राचीन आदर्शों का ह्रास ३५८—हिन्दू-विवाह का भविष्य। ३५६,

(१२) वाँ अध्याय—हिन्दू-विवाह के सम्बन्ध में कुछ विचार ३६०

क—परिवार नियोजन की समस्या ३६० परिवार नियोजन से हानियाँ ३६३ ; १. देश को पौरुष शक्ति का ह्रास ३६४ ; २. हिन्दू - जाति का ह्रास ३६४ , ३. महान विभूतियों के जन्म पर प्रतिबन्ध ३६५ । ख—स्मृतिकारों का द्विविध नैतिक मापदण्ड ३६६, ग—हिन्दू - समाज में सुधार की आवश्यकता ३६७ (१) बाल-विवाह तथा वृद्ध-विवाह पर प्रतिबन्ध ३६८ (२) बहु-विवाह का कानून द्वारा निषेध ३६६ (३) विधवा-विवाह का प्रचार ३७० (४) नियोग की प्रथा का पुनः प्रचलन ३७२ (५) तलाक की प्रथा ३७२ (६) तिलक तथा दहेज की कुत्सित प्रथा ३७४ (७-८) ऊँच - नीच की भावना का परित्याग तथा एक ही जाति के लोगों में वैवाहिक सम्बन्ध की स्थापना । उपसंहार३७६ ।

१. परिशिष्ट ३७७, २. परिशिष्ट ३७८, ३. परिशिष्ट—पठनीय सामग्री ३८१, अनुक्रमणिका ३८५—३६०.

—o—

१—विवाह की उत्पत्ति

विषय-प्रवेश—विवाह मनुष्य के जीवन का सबसे प्रधान संस्कार है। इसके बिना मनुष्य का जीवन वास्तव में अधूरा ही समझा जाता है। वेदों में तो यहाँ तक लिखा है कि जो मनुष्य अविवाहित है वह अपवित्र है[१] और यज्ञ में भाग लेने का वह अधिकारी नहीं हो सकता। संसार की कोई भी सभ्य या असभ्य जाति क्यों न हो, विवाह-सम्बन्ध सभी जातियों में सदा से होता रहा है; और आज भी प्रचलित है। जङ्गली से जङ्गली तथा सभ्य से सभ्य जातियों में विवाह मनुष्य मात्र का एक आवश्यक संस्कार रहा है। सम्भवत: इस भूतल पर कोई भी जाति ऐसी नहीं है जिसमें विवाह की प्रथा किसी न किसी रूप में वर्तमान न हो। सन्तान की उत्पत्ति कर गृहस्थी चलाने का आकर्षण मनुष्य मात्र में स्वभाव से ही है। अंग्रेजी में एक कहावत प्रसिद्ध है कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है'[२]। वह समाज में रहना चाहता है। उसे एकान्तवास पसन्द नहीं। जो जातियाँ खानाबदोश हैं, वे भी अपनी इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण झुण्डों या गिरोहों में रहा करती हैं। अतः जब मनुष्य समाज में ही रहने का अभ्यासी है तब उसके लिए अपने परिवार में एक छोटा समाज स्थापित करना स्वाभाविक ही है।

वेदों में एक उपाख्यान मिलता है जिससे पता चलता है कि महर्षि सोभरि, काण्व वंश के अवतंस थे। उनका शास्त्रानुचिन्तन गहरा था परन्तु उससे भी गहरा था उनका वैराग्य। ब्रह्म के अनुसन्धान के लिए, जगत् के प्रपञ्चों

---

१. अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः। तै० ब्रा० २।२।२।६

२. Man is a social animal.

को देखकर उनको वैराग्य हो गया और उन्होंने अपने माता, पिता के बहुत मना करने पर भी घर से सदा के लिये नाता तोड़ विरक्ति से सम्बन्ध जोड़ लिया। वे कठिन तपस्या करने लगे तथा परम उद्देश्य की प्राप्ति में अपनी कांचन काया को कृशित करने लगे। एक दिन कल्लोलिनी कालिन्दी के किनारे ये महर्षि बैठे हुये थे। इतने ही में उन्होंने देखा कि एक मत्स्यराज (मछली) अपनी स्त्री तथा बाल-बच्चों के साथ आनन्द से जल में क्रीड़ा कर रहा है। उसके सुखी परिवार को देखकर ब्रह्मर्षि का चित्त आनन्द से भर आया और उनके जी में आया कि मैं भी क्यों न इसी प्रकार का सुखी जीवन बिताऊँ। बस, यह विचार मनमें आते ही उन्होंने वैराग्य से वैराग्य धारण कर लिया और वृद्धावस्था में पुनः विवाह कर अपने गृहस्थी जोड़नी प्रारम्भ कर दी१। कहने का आशय केवल इतना ही है कि घर बसाने का आकर्षण मनुष्य में स्वाभाविक है। अतः विवाह करने की कामना भी प्रकृति सिद्ध है।

विवाह का सर्वप्रधान अङ्ग मैथुन कर्म है। इसकी भी इच्छा मानवों में समान रूप से पायी जाती है। मनुष्यों के अतिरिक्त पशु, पक्षियों में भी यह प्रवृत्ति मिलती है। इसीलिये हमारे शास्त्रकारों ने ठीक ही कहा है कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन यह पशु तथा मनुष्यों में समान रूप से पाया जाता है२। विवाह मनुष्य जीवन का नवीन नवनीत है, यह अमृत की तलैया है, यह सुख का सागर है, और मनुष्य के चित्त को प्रसन्न करने वाला झूला या हिंडोला है। अतः सब जातियों में समान रूप से प्राप्त होने वाले विवाह-संस्कार की उत्पत्ति कैसे हुयी यह जानना अत्यन्त आवश्यक है। विवाह-संस्था का प्रादुर्भाव कैसे हुआ, किन कारणों से इसका आविर्भाव हुआ इसकी गवेषणा करना हमारा परम कर्तव्य है। अतः संक्षेप में इसी विषय पर यहाँ विचार किया जाता है।

---

१. ऋग्वेद ८।२१

२. आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।

मानव समाज की भिन्न-भिन्न अवस्थायें—मानव समाज अतीत की पगडण्डी पर चलता हुआ आज इस अवस्था में वर्तमान है। परन्तु यहाँ तक पहुँचने के पहिले उसे अनेक घाटियों, नदी और नालों को पार करना पड़ा होगा। उसने भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का अनुभव करके ही इस अवस्था को प्राप्त किया होगा। प्राचीन इतिहास के अध्ययन करने से पता चलता है कि मानव समाज अपने जीवन के प्रभात में खनाबदोश जाति (nomadic tribe) के रूप में वर्तमान था। उसका कोई निश्चित स्थान नहीं था। उसका घर उसके साथ ही चलता था और वह जहाँ ठहर जाता था वहीं अपना घर बना लेता था। जब जी में आया वहाँ से हट कर दूसरी जगह चला जाता था। वह जङ्गलों में शिकार कर अपना पेट पालता था और मछली मार कर अपने उदर की ज्वाला को शान्त करता था। वह जोगियों की तरह रमता योगी था। उसका न तो कोई निश्चित घर था न कोई नियमित निवास-स्थान। निश्चित ही ऐसे समाज में विवाह-संस्था की उत्पत्ति की सम्भावना बहुत ही कम रही होगी।

परन्तु मानव ज्यों-ज्यों उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने लगा त्यों-त्यों उसके रहन-सहन में भी अन्तर होने लगा। अब उसे जङ्गल में शिकार कर अपना पेट पालना पसन्द नहीं था। वह आखेट के ऊपर आश्रित रहना अब नहीं चाहता था। अतः उसने पशुओं को पालना शुरू कर दिया। यह उसके जीवन की दूसरी अवस्था थी जिसको चरागाही जीवन (Pastoral life) कह सकते हैं। वह गाय, भेड़, बकरियों तथा अन्य पशुओं को पालता था। वह उनको खेतों में चराने के लिए नित्य ले जाया करता था तथा उनके साथ घूमता हुआ अपना जीवन व्यतीत करता था। जहाँ उसके पशु रात को ठहरते थे वहीं उसका घर होता था। उन्हीं पशुओं को मार कर वह खाता था तथा उनको बेचकर अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। इस प्रकार मानव ने अपनी जीविका का कुछ निश्चित प्रबन्ध तो कर लिया था परन्तु उसका अभी भी कोई स्थायी घर नहीं था। अतः ऐसे समाज में भी वैवाहिक संस्था की उत्पत्ति की सम्भावना बहुत कम थी।

मानव समाज ने उन्नति के पथ पर एक पग और आगे बढ़ाया। अब वह अपने घुमन्तू जीवन से तंग आगया था। वह धूप, शीत और वर्षा के कठोर प्रहारों से ऊब उठा था, उसे अनिश्चित रूप से घूमते हुये पशुओं को चराते फिरने से परेशानी हो रही थी। वह चाहता था कि किसी स्थान पर नियमित रूप से रह कर अपनी जीविका का कोई निश्चित प्रबन्ध किया जाय। धीरे धीरे उसका परिचय खेती के औजारों से होने लगा अतः उसने निश्चय किया कि इस विशाल पृथ्वी को जोतकर, इसमें से अन्न पैदा किया जाय और इसीसे अपनी पेट पूजा की जाय। परन्तु यह काम तभी सम्भव था जब मानव स्थायी रूप से एक स्थान पर रहता। अतः उसने एक स्थान पर रहने का निश्चय किया और इसके लिए घर बनवाया। यह मानव समाज के विकास की तीसरी अवस्था थी जिसको कृषि-जीवन (Agricultural life) कहते हैं। संस्कृत की एक सूक्ति है कि घर को घर नहीं कहते बल्कि घरनी (स्त्री) ही घर है१। अतः मनुष्य ने जब अपना घर बना कर खेती का काम करना प्रारम्भ किया होगा तो उसे घर की रखवाली तथा खेतों में सहायता पहुँचाने के लिए एक अन्य व्यक्ति (घरनी) की भी आवश्यकता पड़ी होगी। ऐसी दशा में विवाह करके घर में किसी स्त्री को लाने की इच्छा उसके लिए स्वाभाविक तथा आवश्यक रही होगी। इस प्रकार मानव ने अपनी गृहस्थी जमाकर खेती करना प्रारम्भ किया होगा। मानव-जीवन की जिन तीन अवस्थाओं का ऊपर वर्णन किया गया है उन पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि विवाह करने की योग्यता अथवा सम्भावना केवल तीसरी अवस्था—कृषि जीवन—में ही वर्तमान थी। अतः वैवाहिक संस्था की उत्पत्ति तभी हुई होगी जब मानव कृषक का जीवन व्यतीत करने लगा होगा।

---

१. न गृहं गृहमित्याहुः, गृहिणी गृहमुच्यते।

वैवाहिक प्रवृत्ति के भीतर अन्तर्निहित भावना—मनुष्य के जीवन में दो भावनायें स्वाभाविक प्रवृत्ति (Instincts) के रूप में विद्यमान हैं जिनमें पहिली है (१) स्वरक्षा और दूसरी है (२) स्ववृद्धि। मनुष्य मात्र ही नहीं, प्राणिमात्र यही चाहता है कि किसी प्रकार अपने जीवन की सुरक्षा हो। इसीलिए वह अपनी रक्षा के लिये अनेक उपाय करता है। वह चाहता है कि उसका जीवन सुखपूर्वक व्यतीत हो, उसके शरीर को किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे तथा उसकी रक्षा सब प्रकार से होती रहे। इसी कारण से लोग नौकर-चाकर तथा दास-दासियों को रखते हैं। पुरुष जानता है कि स्त्री के द्वारा उसे अनेक प्रकार का सुख मिलेगा और स्त्री को भी अपनी रक्षा के लिए किसी शक्ति-शाली पुरुष की आवश्यकता होती है। इसीलिये, इन्हीं कारणों से प्रेरित होकर दोनों विवाह की ओर प्रवृत्त होते हैं। दूसरी भावना स्ववृद्धि की है। मनुष्यमात्र चाहता है कि हमारे परिवार, वंश तथा जाति की वृद्धि हो। वेदों में लिखा है कि सृष्टि के आदि में ब्रह्मा ने देखा कि मैं अकेला हूं। अतः उसकी यह इच्छा हुयी कि मैं बहुत हो जाऊं—एकोऽहं बहुस्याम् और उसकी इच्छा होते ही वह अनेक हो गया। इस प्रकार सृष्टि चल पड़ी। जब सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ऐसी कामना करता है तो मनुष्य मात्र का तो पूछना ही क्या! सभी मनुष्य यही चाहते हैं कि मेरी वृद्धि हो अर्थात् मेरी अनेक सन्तानें उत्पन्न हों जिससे मेरा परिवार विशाल बन जाय। सन्तान की वृद्धि विवाह करके पुत्र की उत्पत्ति करने से ही हो सकती है। अतः इस भावना से प्रेरित होकर भी मनुष्य विवाह करने की ओर प्रवृत्त होता है। मनुष्य की ये दोनों स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ जन्म-सिद्ध हैं और ये विवाह की उत्पत्ति के प्रमुख कारण हैं।

विवाह की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मत—विवाह की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों में बड़ा मतभेद है। किसीका विचार है कि इसकी उत्पत्ति प्रधानतया स्वभाव के कारण है। प्राचीन काल में पुरुष तथा स्त्रियाँ एक ही स्थान पर रहती थीं। पर्दे की प्रथा का अभाव था। मैथुन कर्म के

के प्रति उनकी प्रवृत्ति स्वभाविक थी। इसके साथ दोनों ही को 'स्वरचा' की भी आवश्यकता हुई। इसी कारण विवाह की उत्पत्ति हुई। दूसरे विद्वानों का मत यह है कि प्राचीन काल में मानव समाज विवाह बन्धन से रहित था। उस समय अनाचार का प्रचुर प्रचार था। कोई भी मनुष्य किसी भी स्त्री से प्रेम सम्बन्ध कर सकता था। अतः समाज की नैतिक दशा का अधः पतन होने लगा। इस बुराई को देखकर समाज के नेताओं ने विवाह की प्रथा की उद्भावना की जिसके अनुसार विवाह बन्धन नियमित कर दिया गया और सब लोग विवाह करने के पश्चात् सुखपूर्वक रहने लगे। तीसरे मत के अनुसार प्राचीन काल में सामूहिक विवाह (Group marriage) की प्रथा प्रचलित थी जिसके अनुसार एक समूह के लोग दूसरे वर्ग की स्त्रियों से बिना बन्धन के ही प्रेम सम्बन्ध स्थापित करते थे। इस प्रकार एक ही पत्नी के अनेक पति होते थे और अनेक पति साझे में कई स्त्रियों से सम्पर्क रखते थे। इन्हीं विभिन्न मतों का संक्षेप में आगे वर्णन प्रस्तुत किया किया जाता है।

[१] डा० वेस्टर मार्क का मत—डा० वेस्टरमार्क ने संसार की अनेक जातियों के इतिहास तथा उनकी वैवाहिक संस्थाओं का अध्ययन कर यह मत निश्चित किया है कि "वैवाहिक संस्था की उत्पत्ति आदिम स्वभाव के ही कारण हुई। मानव समाज के प्रारम्भिक युग में भी स्त्रियों तथा पुरुषों को मैथुनी प्रवृत्ति थी। इस सम्बन्ध से जो सन्तति उत्पन्न होती थी उसकी ये दोनों (स्त्री और पुरुष) मिलकर रचा तथा पालन-पोषण करते थे। पुरुष परिवार का अभिभावक होता था और स्त्री उसकी सहायता करती हुयी बच्चों की देखरेख करती थी। यह प्रथा प्रारम्भ में रीति रिवाजों के द्वारा अनुमोदित थी और बाद में कानून के द्वारा स्वीकार कर ली गयी। इस

प्रकार यह आदत (habit) सामाजिक संस्था के रूप में परिवर्तित हो गयी१ ।" वेस्टरमार्क के कथन का आशय यह है कि मनुष्य मात्र में मैथुन कर्म तथा अपनी सन्तान की रक्षा की भावना स्वाभाविक है। वह इतनी प्राकृतिक है कि यह आदत के रूप में परिणत हो गयी है। इसी आदत के कारण, प्रारम्भिक युग में पुरुष किसी एक स्त्री से मैथुन करता था और फलस्वरूप इससे जो सन्तति उत्पन्न होती थी उसकी रक्षा करता था। स्त्री नवजात शिशु का पालन-पोषण और लालन-पालन करती थी तथा पुरुष को अन्य प्रकार से भी सहायता पहुँचाती थी। पहिले यह बात केवल आदत के रूप में थी परन्तु कालान्तर में कानून की स्वीकृति मिल जाने पर यही सामाजिक संस्था के रूप में परिणत हो गयी।

---

1. As for the origin of the Institution of marriage, I consider it probable that it has developed out of a primeval habit. It was, I believe even in primitive times, the habit of a man and a woman (or several women) to live to gather, to have sexual relations with another, and to rear their offspring in common, the man being the protector and supporter of his family and the woman being his helpmate and the nurse of their children. This habit was sanctioned by custom, and afterwards by law, and was thus transformed into a social institution.

१. वेस्टरमार्क—हिस्ट्री आफ ह्यूमन मैरेज भाग १ पृ० २७-२८ ।

पक्षियों में मैथुन कर्म तथा सहवास—अब हमें यह देखना है कि इस आदत का मूल कारण क्या है ? यह आदत कैसे पड़ी ? यह केवल मनुष्यों में ही पायी जाती है अथवा पशु और पक्षियों में भी इसकी सत्ता विद्यमान है ? जीव-विज्ञान के पण्डितों ने अपने गम्भीर अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला है कि यह आदत विभिन्न पशुओं तथा पक्षियों में भी पायी जाती है जिनमें स्त्री और पुरुष (नर और मादा) जोड़ियाने के समय में (Pairing season) में ही एक साथ नहीं रहते बल्कि सन्तति उत्पन्न होने के बाद भी साथ ही साथ निवास करते हैं। मैथुन कर्म की समाप्ति हो जाने के बाद भी नर अपनी मादा के साथ उस आदत के कारण बाधित होकर रहता है जिसे वह धीरे-धीरे मादा के सहवास के कारण प्राप्त करता है। पुरुष (male) को इस बात की भी स्वाभाविक इच्छा रहती है कि उसकी अग्रिम सन्तति सुरक्षित रहे। इस कारण भी वह साथ रहने के लिए बाध्य होता है। इस बात का पता इसीसे स्पष्ट लग जाता है कि वह अपनी स्त्री और बच्चों के पास ही नहीं रहता बल्कि उनकी रक्षा भी करता है। पिता के द्वारा अपनी सन्तति की रक्षा करने की प्रवृत्ति उतनी ही स्वाभाविक है जितनी कि माता का उसके प्रति प्रेम। अर्थात् यदि जीवों की रक्षा उनका जनक न करे तो उनका जीवित रहना कठिन या असम्भव हो जाय। चिड़ियों के विषय में भी यही बात समझनी चाहिये। चिड़ियों की अधिकांश जातियों में नर और मादा जोड़ियाने के समय के पश्चात् भी चिरकाल तक एक साथ रहते हैं। नर और मादा दोनों मिलकर अपना घोंसला बनाते हैं। नर घास-पात आदि सामग्री को बाहर से लाकर जुटाता है और मादा उस घोंसले को बनाने का कार्य करती है। अण्डा सेने के समय में (Breeding season) भी दोनों बराबर काम करते हैं। यद्यपि यह कार्य प्रधानतया मादा करती है परन्तु नर भी उसकी सहायता करता है। जब मादा कुछ देर के लिए घोंसला छोड़कर चली जाती है तब नर उस अंडे के पास बैठकर उसकी रक्षा करता है। बच्चा पैदा होने के बाद भी कौआ का जोड़ा साथ में रहता है और नर दूर से अन्न का दाना लाकर अपने बच्चों को खिलाता है। अण्डा देने के कुछ दिन बाद भी नर और

मादा चिरकाल तक अपने बच्चों को नहीं छोड़ते। जब बच्चा बड़ा हो जाता है, वह उड़ने की शक्ति प्राप्त कर लेता है तब वह अपने माँ-बाप को तथा उस घोंसले को छोड़कर अन्यत्र चला जाता है। यद्यपि पक्षियों की कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं जिनमें नर गृहस्थी का भार मादा पर छोड़ देता है फिर भी वह बच्चों की रक्षा में सदा तैयार रहता है। ब्रेहम (Brehm) नामक विद्वान ने इन पक्षियों की गृहस्थी से प्रसन्न होकर यहाँ तक लिखा है कि वास्तव में सच्चा विवाह पक्षियों में ही पाया जाता है[1]।

पशुओं में इस आदत की सत्ता—यह आदत पक्षियों के अतिरिक्त पशुओं में भी पायी जाती है। सच तो यह है कि स्तनपायी जानवरों में माता के द्वारा पालन-पोषण की और भी अधिक आवश्यकता पड़ती है। माता सदा अपने बच्चों का ध्यान रखती है और पुरुष परिवार का अभिभावक बन कर उन दोनों की रक्षा करने में लगा रहता है। ऐसे ही पशुओं की श्रेणी में 'एप्' (Apes) भी हैं जो बन्दर की एक विशेष जाति है। यह सदा अपने परिवार के साथ रहता है और कभी भी झुण्ड में रहना पसन्द नहीं करता। शिपाञ्जी और गोरिला (बन्दरों की विशिष्ट जातियाँ) के लिये सामाजिक एकता इनके परिवार में ही निहित है। परन्तु इनमें यह भी देखा जाता है कि अनेक परिवार मिलकर झुण्ड (ग्रूप) बन जाते हैं और इन्हीं में से कोई हृष्ट-पुष्ट बन्दर इनका नेता बन जाता है। झुण्ड में चलने वाले बन्दरों में भी अनेक अपने परिवार के साथ ही घूमा करते हैं। इन बन्दरों में यह आदत विशेष रूप से पायी जाती है। जब कोई

1. Real genuine marriage can only be found among birds. Brehm—Bird Life P. 285.

व्यक्ति इनकी स्त्री या बच्चों पर हमला करता है तब सभी बन्दर 'खाँव' 'खाँव' कर दौड़ पड़ते हैं१। कहने का भाव यह है कि साधारण बन्दरों में भी परिवार की भावना वर्तमान रहती है और माता अपनी सन्तति की रचा करने में उतनी ही तत्पर रहती है जितना पुरुष इसके लिए उद्यत दिखाई पड़ता है।

बन्दर की एक विशेष जाति एप (Apes) है। इनके रहन-सहन के अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि इनको पैतृक सहायता की कितनी आवश्यकता होती है। इनकी पहिली विशेषता कम बच्चों का पैदा होना है। मादा एप एक समय में एक ही बच्चा उत्पन्न करती है। दूसरी बात सन्तति का चिरकालिक बालपन है अर्थात् इन बन्दरों का जो बच्चा पैदा होता है वह अनेक वर्षों तक बच्चा ही रहता है। गिबन (Gibbon) नामक बन्दर पाँच वर्षों से आठ वर्षों के भीतर युवावस्था को प्राप्त करता है; शिपान्जी आठ से बारह वर्षों के अन्दर और गोरिला दस से चौदह वर्षों के अन्दर२। ये उपर्युक्त बन्दर कभी भी झुण्डों में नहीं चलते बल्कि अपने परिवार के साथ रहते हैं। इस प्रकार से यह सिद्ध होता है कि जानवरों में—खासकर बन्दरों में—परिवार के साथ रहने की आदत बड़ी जबरदस्त है। ये सब बातें मानव-समाज में परिवार की उत्पत्ति के लिये कारणी-भूत हैं। माता, पिता तथा बच्चों से संयुक्त परिवार असभ्य से असभ्य जातियों से लेकर अत्यन्त सभ्य जातियों तक में पाया जाता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि जिन कारणों से मैथुन कर्म तथा पैतृक रचा बन्दरों के लिये आवश्यक

---

१. लेखक ने एक ऐसी बन्दरिया को स्वयं देखा जिसका बच्चा एक बगीचे में कुछ लोगों के द्वारा पकड़ लिया गया था। क्रोध से युक्त उस बंदरिया की मुद्रा देखते ही बनती थी और वह सभी उपस्थित लोगों को काटने के लिये पागल की भाँति दौड़ती थी।

2. A. W. Yerkes—The great Apes P. 541.

थी उन्हीं कारणों से यह हमारे मानव पूर्वजों के लिये भी आवश्यक रही होगी१।

मनुष्यों के सम्बन्ध में विचार करने पर यही पता लगता है कि अन्य जीवों की तुलना में मनुष्यों की सन्तति कम पैदा होती हैं। मनुष्य की सन्तान अनेक वर्षों तक बालक ही रहती है। इसलिए मनुष्य तथा बन्दरों में सन्तान की उत्पत्ति के कारण (हेतु) प्रायः समान ही होते हैं। इसके अतिरिक्त भोजन की समस्या ने भी दोनों को इसके लिए बाध्य किया होगा। झुण्ड में रहकर भोजन-प्राप्ति की आशा न देखकर ही बन्दर और मनुष्य दोनों को परिवार की शरण लेनी पड़ी होगी।

आदत तथा किसी प्रथा की उत्पत्ति में गहरा सम्बन्ध रहता है। जो वस्तु प्रारम्भ में केवल आदत के रूप में रहती है वही कालान्तर में प्रथा का रूप धारण कर लेती है। सामाजिक आदतें कुछ दिनों में रीति-रिवाज के रूप में परिणत हो जाती हैं। आजकल बहुत सी जातियों में हुक्का पीना एक सामाजिक रीति है। यह पहिले समाज के चन्द लोगों की आदत रही होगी परन्तु अब यह सामाजिक प्रथा बन गयी है। इसी प्रकार से कोई भी आदत कालान्तर में समाज की सच्ची प्रथा बन जाती है। विवाह की उत्पत्ति के

---

1. "The family consisting of parents and children prevails among lowest savages as well as among the most civilised races of men; and we may suppose that the factors which made marital and paternal relations indispensable for the Apes, were also necessary for our earliest human or half human ancestors."
Westermark—Future of marriage P. 7.

सम्बन्ध में भी यही बात समझनी चाहिये। वेस्टरमार्क का कथन है[1] "कि मनुष्य अपनी स्वाभाविक मनोवृत्ति के कारण स्त्री के साथ रहना चाहता है और वह जिस स्त्री से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करता है उसकी तथा उससे उत्पन्न सन्तति की रक्षा करने में तत्पर रहता है। ऐसी दशा में समाज के अन्य पुरुष जो इन स्वाभाविक मनोवृत्तियों से सम्पन्न रहते हैं, उस मनुष्य से नैतिक दृष्टि से घृणा करने लगते हैं, जो अपनी स्त्री और बच्चों का परित्याग कर देते हैं। यही सार्वजनिक घृणा या अस्वीकृति समाज में विभिन्न प्रथाओं के प्रचलित होने का कारण होती है।"

विवाह तथा परिवार में सम्बन्ध—विवाह तथा परिवार में अभिन्न संबंध है। यदि कहें कि एक दूसरे में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है तो कुछ अत्युक्ति न होगी। प्रधानतया नवजात शिशु की रक्षा तथा सेवा-सुश्रूषा के लिए स्त्री और पुरुष एक साथ रहते हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि विवाह का मूल

---

1. "If men are induced by instincts to remain with a women with whom they have had sexual relations and to take care of her and of their common offspring; other members of the group, endowed with similar instincts would feel moral resentment against a man who forsook his mate and children. Public or moral resentment or disapproval is at the bottom of the rules of customs."

Future of marriage in western civilisation. Page 8.

परिवार में है न कि परिवार का विवाह में१। यदि परिवार रखने तथा सन्तान–उत्पत्ति की इच्छा न हो तो मनुष्य विवाह बन्धन में कदापि फँसे ही नहीं। इसलिये कुछ जातियों में यह प्रथा है कि मनुष्य का वैवाहिक जीवन तबतक प्रारम्भ नहीं समझा जाता अथवा तबतक निश्चित नहीं माना जाता जबतक कोई बच्चा न पैदा हो जाय अथवा गर्भाधान के लक्षण न दिखाई पड़ने लगें। कुछ जातियों में यह प्रथा है कि गर्भाधान के हो जाने पर अथवा सन्तान पैदा होने पर ही उस स्त्री से विवाह करना आवश्यक होता है।

गत पृष्ठों में वेस्टरमार्क के जिस मत का प्रतिपादन किया गया है उसका सारांश यह है कि प्रारम्भिक आदत के द्वारा ही विवाह की उत्पत्ति हुई होगी। पुरातनकाल में मैथुन की स्वाभाविक इच्छा से तथा इससे उत्पन्न सन्तति की रक्षा के लिए पुरुषों को स्त्रियों के साथ रहने की आदत पड़ गई। यह आदत पक्षियों तथा पशुओं में भी पायी जाती है। यही प्रारम्भिक आदत कालान्तर में प्रथा के रूप में परिणत हो गयी और सामाजिक संस्था बन गयी। मनुष्य तथा पशुओं में परिवार को सुरक्षित रखने की भावना बनी हुयी है। अतः इसी भावना से प्रेरित होकर विवाह की उत्पत्ति हुयी होगी।

---

1. "It appears that marriage and the family are intimately connected with one another. It is originally for the benefit of the young that male and female live to-gather. We may therefore say that marriage is rooted in the family rather tnan the family in marriage".

Westermark—History of human marriage

Vol. I Page 72.

दूसरा मत—कुछ विद्वानों का मत है कि विवाह-संस्था की उत्पत्ति के पहिले मानव-समाज एक ऐसी अवस्था में वर्तमान था जिसमें विवाह-बन्धन बिल्कुल नहीं था। व्यक्तिगत विवाह क्या वस्तु होती है, इसे कोई जानता भी नहीं था। इस समाज में एक जाति अथवा गिरोह के लोग दूसरी जाति की किसी भी स्त्री के पास बिना विचार के जाकर अपनी काम वासना की तृप्ति कर सकते थे। इस सम्बन्ध से उत्पन्न लड़के समाज की सम्पत्ति समझे जाते थे। वे अपने पिता को तो नहीं जानते थे परन्तु माता को अवश्य पहचानते थे। इस विषय में डा० ब्लाख का मत है कि "इसमें सन्देह नहीं कि मानव समाज की उन्नति के प्रारिम्भक युग में बन्धन रहित स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध अवश्य विद्यमान था१।" इस सिद्धान्त की पुष्टि के सम्बन्ध में जो प्रमाण मिलते हैं वे दो प्रकार के हैं। (१) प्रचीन तथा मध्यकालीन पुस्तकों में ऐसी जातियों का उल्लेख मिलता है जिनमें यह प्रथा प्रचलित थी। (२) कुछ जातियों में ऐसी प्रथाएँ आज भी अवशिष्ट हैं जिनसे पता चलता है कि प्राचीन समाज में विवाह-बन्धन का नितान्त अभाव रहा होगा। इन्हीं दोनों प्रकार के मतों पर क्रमशः विचार किया जाता है।

प्रसिद्ध विद्वान् मैकलेनन का कथन है कि सभी देशों में ऐसी परम्परा पाई जाती है जिससे पता चलता है कि प्राचीन काल में विवाह की प्रथा नहीं थी। भिन्न-भिन्न देशों में किसी चतुर पुरुष ने हीं इस प्रथा का विधान किया होगा। मिस्र देश के लोगों में मेन्स ने, चीनी लोगों में फोही ने, ग्रीक लोगों में

---

1. "That there can be no doubt, whatever, that in the beginings of human development a state of sexual promiscuity actually prevailed."

सेक्रोपस ने और हिन्दुओं में श्वेतकेतु ने इस प्रथा की नींव डाली[१]। चीनी इतिहास से यह पता चलता है कि अपने जीवन-यापन में मनुष्य पशुओं के समान थे। जंगल में घूमते फिरते उन्हें जो ही स्त्री सामने मिल जाती थी उसीसे व्यभिचार करने लगते थे। इस अनाचार को बादशाह फोही ने बन्द कर दिया और इसके स्थान पर विवाह की प्रथा चलायी[२]। एथेन्स की परंपरा के अनुसार स्त्रियाँ पुरुषों की सम्पत्ति समझी जाती थीं। जो उनके साथ पशुओं के समान व्यवहार करते थे। इस प्रथा को एथेन्स के प्रथम राजा केक्रोपस (Kekrops) ने बन्द कर दिया और इसके स्थान में कानून के द्वारा विवाह की संस्था स्थापित की[३]।

ग्रीक तथा रोमन साहित्य में विवाह-बन्धन से मुक्त समाज का उल्लेख पाया जाता है। हीरोडोटस तथा स्ट्रेबो[४] ने लिखा है कि मेसेगेटी (Massagetae) लोगों में प्रत्येक मनुष्य एक से अधिक स्त्रियाँ रखता था। जब वह किसी स्त्री से सम्बन्ध करना चाहता था तब उसके रथके आगे अपना तरकस

---

1. "Tradition is found every where pointing to a time when marriage was unknown and to some legislator to whom it owed its institution," among the Egyptans to Menes; the Chinese to Fohi; the Greeks to Cecrops and the Hindus to Svetaketu."

   Mclennan—Studies in Ancient history Page 95.

2. Goguet—Origin of Laws, Arts and Sciences Vol. III, P. 311-13.
3. Westermark—History. Vol I, P. 105.
4. Strabo—Geograplica XI 8, 6

रख देता था और बिना किसी लज्जा के उसके साथ व्यभिचार करता था। निकोलस (Nicolaus) ने सिदियन लोगों के विषय में लिखा है कि वे लोग सम्पत्ति तथा स्त्रियों को समान रूप से व्यवहार में लाते थे। इसमें बड़े, छोटे का कुछ भी भेदभाव नहीं था। इसी लेखक से यह भी पता चलता है कि इलिरिया के लोग भी स्त्रियों को सबकी सम्मिलित सम्पत्ति समझते थे। वे स्त्री-संबंध से उत्पन्न सब लड़कों को पाँच वर्ष तक एक ही जगह पालते थे। अन्त में जिस पुरुष की आकृति से जिस शिशु की आकृति अधिक मिलती जुलती थी उसीका वह पुत्र समझा जाता था। मरमोल (marmol) नामक विद्वान् ने न्यूमीड़िया प्रदेश की एक प्रथा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार सालभर में एक रात के लिए किसी मन्दिर में वहाँ के सभी स्त्री और पुरुष एकत्रित होते थे और दीपक बुझा दिये जाने पर आपस में यौन-व्यापार करते थे[1]। मोरोक्को में यह प्रथा अभी भी प्रचलित है।

मध्य युग के ऐतिहासिकों तथा लेखकों ने भी यूरोप के अन्य देशों में ऐसी प्रथा का उल्लेख किया है। प्राग के कासमास (Cosmas) नामक विद्वान् ने बोहेमियन लोगों में विवाह-बन्धन रहित व्यभिचार का उल्लेख किया है[2]। रूस देश में ११ वीं सदी में उत्पन्न होनेवाले नेस्टर के द्वारा रचित इतिहास से जान पड़ता है कि ड्रेमलियन जाति के लोगों में विवाह-संस्था का नितांत अभाव था। ये लोग पशुओं की भाँति जीवन व्यतीत करते थे। युवती लड़कियों को पकड़ कर पुरुष नदियों के किनारे भाग जाते थे। स्लेवानिक जातियों के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उनमें विवाह नहीं होता था। गाँव के बाहर खेल होते थे। इन खेलों में पुरुष तथा स्त्रियाँ दोनों ही भाग लेते थे। पुरुष स्त्रियों के साथ अनेक प्रकार की क्रीड़ायें करते थे और अन्त में

---

1. Marmol Carawajal—La description general de Affrica, Vol. II book IV, ch. 109. P. 163.

2. Coswas—Chronica Bohemorum Vol. P. 3.

उन्हें लेकर भाग जाते थे। इस प्रकार एकही पुरुष दो, तीन स्त्रियों को भी पत्नी के रूप में रख लेता था१।

इस सम्बन्ध में यहाँ यह उल्लेख करना कुछ अनुचित न होगा कि बिहार राज्य के छोटा नागपुर कमिश्नरी के सन्ताल परगना में यह प्रथा अभी थोड़े हो दिन पहिले प्रचलित थी। यह प्रथा "धुमकुरिया" के नाम से प्रसिद्ध थी। इस प्रथा के अनुसार गाँव के सभी सन्ताली तरुण युवक और युवतियाँ प्रतिदिन रात्रि में एक 'कामन हाल' में एकत्रित होते थे। वे रात्रि में नाच, गान करते थे और जीवन का आनन्द उठाते थे। कुछ दिनों के पश्चात् कोई युवक किसी मनचाही सुन्दरी युवती को लेकर भाग जाता था और बाद में उसी से विवाह कर लेता था। प्रारम्भ में समाज इस वैवाहिक सम्बन्ध को उचित नहीं मानता था परन्तु दण्डस्वरूप कुछ धनराशि दे देने पर इस विवाह को सामाजिक स्वीकृति मिल जाती थी। इसाइयों के प्रचार के कारण अब यह प्रथा धीरे धीरे विलीन हो रही है फिर भी आज भी इसकी सत्ता किसी न किसी रूप में विद्यमान है।

लार्ड एमबरी ने अनेक आधुनिक जंगली जातियों की प्रथाओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि दक्षिण अफ्रिका की बुशमेन नामक जाति में विवाह की प्रथा का अत्यन्त अभाव है२। पूल ने शारलाट टापू के हैदा जाति के लोगों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वे विवाह की संस्था से नितान्त अपरिचित हैं। इस जाति की स्त्रियाँ पुरुषों से यौन सम्बन्ध करती हैं३। केलिफोर्नियन पेनिन्सुला में स्त्री-पुरुष बिना किसी बन्धन के आपस में मिलते हैं तथा उन लोगों में 'विवाह' के लिये कोई शब्द नहीं पाया जाता। इस प्रकार आधुनिक जातियों में भी विवाह बन्धन रहित स्त्री-पुरुष के सहवास की प्रथा के अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं।

---

1. Nestor—Chronique P. 10.
2. Lord Avebury—origin of civilization P. 68
3. Poole—Queen Charlotte Islands P. 312

कुछ ऐसी भी जातियाँ विद्यमान हैं जिनकी प्रथाओं के अध्ययन करने से विवाह बन्धन का अभाव दिखाई पड़ता है। क्रिस्प ने योगी द्वीप के निवासियों के विषय में लिखा है कि इनमें अविवाहित स्त्री तथा पुरुषों का आपस में सम्बन्ध होना न तो कोई जुर्म ही समझा जाता है और न अपमान ही। नयी युवती को लोग सन्तानोत्पत्ति के लिए अधिक पसन्द करते हैं[1]। एक विद्वान् ने लिखा है कि मलक्का में व्यक्तिगत विवाह अज्ञात है। फ्रायर ओड़ोरिक के अनुसार सुमात्रा में विवाह बन्धन नहीं पाया जाता। स्त्रियाँ सबकी समान सम्पत्ति हैं। कोई व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि यह मेरी स्त्री है अथवा यह मेरा पति है[2]।

महाभारत में विवाह बन्धन के अभाव का उल्लेख—गत पृष्ठों में संसार की अनेक जातियों में विवाह बन्धन की शिथिलता का उल्लेख कर यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि मानव समाज के विकास के प्रारम्भिक युग में विवाह की संस्था का नितान्त अभाव था। अब यह देखना है कि भारतवर्ष में भी ऐसा कोई युग था जिसमें विवाह बन्धन आवश्यक नहीं समझा जाता था। महाभारत के अध्ययन से पता चलता है उत्तरकुरु देश में विवाह की प्रथा का अभाव था। "स्त्रियाँ स्वतन्त्र थीं, अपनी इच्छा से विहार करती थीं, घर के भीतर नहीं रहती थीं और व्यभिचार करती थीं। परन्तु ऐसा करने से उन्हें कोई पाप नहीं लगता था क्योंकि प्राचीनकाल में यही धर्म था। बड़े-बड़े ऋषि इस प्रथा की प्रशंसा करते थे जो आज भी उत्तर कुरु में वर्तमान है। परन्तु एक बार उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु ने देखा कि उनके पिता के सामने ही एक मनुष्य उनकी (श्वेतकेतु) माता का हाथ पकड़ कर उन्हें लिये जा रहा है। यह देखकर उन्होंने इस प्रथा को बन्द कर दिया और वैवाहिक

1. Crisp—Account of the inhabitants of the Poggy islands P. 87
2. 'Travels of Friar odoric of Pordenone, Vol II, P. 147.

संस्था की नींव डाली। श्वेतकेतु ने यह आदेश दिया कि आज से जो स्त्री ऐसा व्यभिचार करेगी उसको बहुत बड़ा पाप लगेगा१।"

---

१. अनावृताः किल पुरा, स्त्रियः आसन्वराननें ।
कामाचारविहारिण्यः, स्वतन्त्राश्चारुहासिनि ॥४॥
तासां व्युच्चरमाणानां, कौमारात्सुभगे ! पतीन् ।
नाधर्मोऽभूत् वरारोहे स हि धर्मः पुराऽभवत् ॥५॥
प्रमाणदृष्टो धर्मोऽयं, पूज्यते च महर्षिभिः ।
उत्तरेषु च रम्भोरू ! कुरुष्वद्यापि दृश्यते ॥७॥
स्त्रीणामनुग्रहकरः स हि धर्मः सनातनः ।
अस्मिंस्तु लोके न चिरात् मर्यादेयं शुचिस्मिते ॥८॥
स्थापिता येन यस्माच्च तन्मे विस्तरतः शृणु ।
बभूवोद्दालको नाम महर्षिरिति नः श्रुतम् ॥६॥
श्वेतकेतुरिति ख्यातः पुत्रस्तस्याभवन्मुनिः ।
मर्यादेयं कृता तेन धर्म्या वै श्वेतकेतुना ॥१०॥
श्वेतकेतोः किल पुरा समक्षं मातरं पितुः ।
जग्राह ब्राह्मणः पाणौ गच्छाव इति चाब्रवीत् ।
ऋषिपुत्रस्ततः कोपं चकारामर्षचोदितः ॥१२॥
ऋषिपुत्रोऽथ तं धर्मं श्वेतकेतुर्न चक्षमे ।
चकार चैव मर्यादामिमां स्त्रीपुंसयोर्भुवि ॥१६॥
तदा प्रभृति मर्यादा स्थितेयमिति नः श्रुतम् ।
व्युच्चरन्त्याः पतिं नार्याः अद्य प्रभृति पातकम् ॥१७॥
भ्रूणहत्यां समं घोरं भविष्यत्यसुखावहम् ।
भार्यां तथा व्युच्चरतः कौमारब्रह्मचारिणीम् ॥१८॥
पतिव्रतामेतदेव भविता पातकं भुवि ॥२०॥

म० भा० आदिपर्व १२२ ।

महाभारत के सभापर्व में इस बात का उल्लेख पाया जाता है कि माहिष्मती (मान्धाता, मध्यप्रदेश) नगरी में अग्नि देवता के वरदान के कारण स्त्रियाँ स्वच्छन्द होकर घूमती थीं; उनपर किसी तरह का नियन्त्रण नहीं था और वे स्वैरिणी होकर स्वेच्छा से व्यभिचार करती थीं१। इन दोनों उल्लेखों से जान पड़ता है कि भारत में भी कभी ऐसी सामाजिक अवस्था विद्यमान थी जब विवाह का बन्धन नहीं था और सभी को स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

महामहोपाध्याय डा० पो० वी० काणे ने महाभारत के इन दोनों उल्लेखों पर विचार करते हुये लिखा है कि भारत में विवाह बन्धन की शिथिलता कभी भी नहीं थी। ऋग्वेद में विवाह की प्रथा पूर्ण रूप से मिलती है और उसमें विवाह का उच्च आदर्श दिखाई पड़ता है। दूसरी बात यह है कि जिस उत्तर कुरु में इस प्रथा के प्रचलित होने का उल्लेख किया गया है वह एक कपोल कल्पना से प्रसूत प्रदेश है। इन उद्धरणों से केवल इतना ही पता चलता है कि अत्यन्त प्राचीनकाल के भारतीय समाज के विषय में कवि का अनुमान क्या था न कि उनके हजारों वर्ष पहिले भारतीय समाज की वास्तविक स्थिति क्या थी२। डा० अल्टेकर ने भी डा० काणे के मत का

---

१. तस्यां पुर्यां तदा चैव माहिष्मत्यां कुरुद्वह।
बभूवुरनतिग्राह्या योषितश्छन्दतः किल ॥३७॥
एवमग्निर्वरं प्रादात् स्त्रीणामप्रतिवारणे।
स्वैरिण्यस्तत्र नार्यो हि यथेष्टं विचरन्त्युत ॥३८॥
म० भा० सभापर्व ३१।३७-३८

2. These passages can not be relied upon for proving promiscuity of intercourse. In the first place, the contry of Uttar Kuru is more or less mythical. This passage rather gives expression to what the poet imagined about remotest ages and not what he knew was the real state of society thousands of years before him." Kane—History of Dharmashastra Vol II, Part I, P. 428

समर्थन करते हुए लिखा है कि भारत में विवाह बन्धन की शिथिलता या अभाव कभी नहीं था। महाभारत में उल्लिखित उत्तर कुरु नामक देश कल्पित है जिसकी सत्ता संसार के भूगोल में नहीं पायी जाती। माहिष्मती नगरी में अनाचार का वर्णन पांडव विजेता सहदेव की अल्पकालीन सैनिक यात्रा में देखे गये समाज का वर्णन है जिसका मूल्य यात्रियों की कहानी अथवा यात्रा-विवरण से कदापि अधिक नहीं माना जा सकता[१]।

भारत में विवाह-संस्था के अभाव की अवस्था हिन्दू समाज में कभी वर्तमान थी या नहीं, इस विषय में किसी निश्चित परिणाम पर पहुँचना अत्यन्त कठिन कार्य है। महाभारत में इस विषय में जो उल्लेख मिलते हैं वे कदापि झूठे नहीं हो सकते। डा० लैसन ने उत्तर कुरु देश की स्थिति हिमालय के उत्तरी प्रदेश में बतलायी है। यदि यह मान भी लिया जाय कि उत्तर कुरु कल्पित प्रदेश था तो फिर भी माहिष्मती की सत्ता तो माननी ही पड़ेगी। यदि यह प्रथा उस नगरी में नहीं होती तो सहदेव ऐसी बात का वर्णन ही

---

1. It may however be added that Uttar Kuru is very probably a mythical country, not existing on the terristrial globe, and the evidence about Mahishmati consists of an observation made by its Pandava conqueror Sahadeva during his short stay there, in the course of an hurricane military campaign. It may not be worth more than the proverbial traveller's tale."

Dr. Altekar—The position of women in Hindu civilization. P. 34-35.

क्यों करते जो समाज के लिये कलंक की बात थी । सहदेव ने यह बात किसी से सुनकर नहीं कही होगी बल्कि वे स्वयं वहाँ दिग्विजय के लिये गये थे और जिस प्रथा को उन्होंने अपनी आँखों देखा उसी का उल्लेख किया । वे थोड़े ही दिन वहाँ क्यों न ठहरे हों परन्तु किसी प्रचलित प्रथा को जानने के लिये थोड़ा भी समय कम नहीं होता । अतः डाक्टर अल्टेकर का उपर्युक्त कथन युक्तिसंगत नहीं दीख पड़ता । डा० काणे का मत है कि महाभारत के रचयिता वेदव्यास ने प्राचीन समाज की जैसी कल्पना की होगी, वैसा ही उसका वर्णन किया है । उनके समय की यह कोई सत्य घटना नहीं थी । परन्तु महाभारतकार ने स्पष्ट ही लिखा है कि उत्तर कुरुमें यह प्रथा आज भी वर्तमान है ।— "उत्तरेषु च रम्भोरु ! कुरुष्वद्यापि दृश्यते—" । अतः मानना पड़ेगा कि भारत में भी यह प्रथा प्राचीनकालमें वर्तमान थी । डा० वेस्टरमार्क ने इस विषय पर विचार करते हुये ठीक ही लिखा है कि ये उल्लेख प्राचीन समय में प्रचलित सामाजिक अवस्था के द्योतक हैं । महाभारत की कहानी भारत के इण्डो-आर्यन लोगों में आचरण की शिथिलता की सूचना दे सकती है क्योंकि इनमें बहुपति विवाह प्रचलित था १ । डा० अल्टेकर ने भी अन्त में इस मत को स्वीकार किया है ।

---

1. "But at the same time, I do not deny that they may be an echo of the social condition in the past. The story in the Mahabharat may allude to the laxity of morals among the Indo-Aryan people of India and the Himalayas, as the polyandry of the five Pandavas is probably an illution to their polyandrous practices." Westermark—History of Human marriage. Vol I, P. 106.

वे लिखते हैं कि भारत में प्राचीन समय में विवाह-बन्धन के अभाव का होना असम्भव नहीं हो सकता। महाभारत में जो उद्धरण मिलते हैं उनसे नैतिक आचरण की शिथिलता का परिचय मिलता है१।

संसार की इन भिन्न-भिन्न जातियों में वैवाहिक प्रथा का अभाव देखकर तथा आजकल जो वैवाहिक प्रथायें अनेक जातियों में वर्तमान हैं उनका अनुसन्धान कर मैकलेनन, एमबरी, मोर्गन, लिपर्ट, पोस्ट तथा ब्लाख आदि विद्वानों का मत है कि मानव समाज के प्रारम्भिक युग में विवाह की प्रथा का नितान्त अभाव था। उस समय स्त्री और पुरुष स्वच्छन्दता से इधर-उधर विचरा करते थे और जिस किसी से चाहते थे उसीसे अपनी कामवासना की पूर्ति कर लेते थे। उनके लिए न तो कोई नियम था और न कोई नियामक। परन्तु जब समाज सभ्यता की ओर अग्रसर होने लगा तब मानव को यह प्रथा असभ्य तथा जंगली मालूम पड़ने लगी। समाज में अनाचार का प्रचार उसे खटकने लगा। इसलिए समाज के नेताओं ने यह उचित समझा कि व्यक्तिगत विवाह का नियम बना दिया जाय जिससे कोई पुरुष या स्त्री एक ही से संबंध स्थापित कर सके। भारत में श्वेतकेतु ने और चीन में फोही ने इस नियम की स्थापना की। इस प्रकार समाज में विवाह की संस्था की उत्पत्ति हुयी२।

---

1. There are a few passages in the epic showing that a state of promiscuity may not have been an impassibility at an early period. They disclose an astounding laxity in sexual morality."
   डा० अल्टेकर—पोजीशन आफ विमेन० पृ० ३५।

२. इस विषय के विस्तृत विवरण के लिए देखिए।
   डा० वेस्टरमार्क—हिस्ट्री० ह्यू० मै० भाग १, अध्याय ३।

वेस्टरमार्क के द्वारा इस मत का खण्डन—वेस्टरमार्क ने अनेक प्रमाणों के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि विवाह-बन्धन की शिथिलता सामान्य रूप से प्राचीन काल में कभी नहीं थी। इस प्रकार इन्होंने मैकलेनन तथा एमबरी के द्वारा स्थापित मत का खंडन किया है। इनका मत है कि विरुद्ध मत वाले विद्वानों ने विवाह शब्द का अभाव, बहुपति विवाह, पति-पत्नी में विच्छेद तथा नैतिक आचार की कमी को विवाह बन्धन का अभाव (Promiscuity) समझ लिया है जो ठीक नहीं है। इन विद्वानों ने जो प्रमाण दिये हैं वे भी अधूरे हैं। प्राचीन लेखकों ने इस विषय का जो उल्लेख किया है वह सुना-सुनाया होने से निराधार है। इन प्रमाणों की विस्तृत परीक्षा करने पर इसी परिणाम पर पहुंचा जा सकता है कि इन प्रमाणों में से किसी में विवाह-बन्धन का अभाव (प्रोमिस्क्विटी) परिलक्षित नहीं होता। मनुष्य-जीवन के विकास में यह अवस्था समान रूप से वर्तमान थी इसकी कथा तो दूर की बात है[1]। यह संभव है कि कुछ जातियों में बन्धन रहित स्त्री-पुरुष यौन-संबन्ध रहा हो परन्तु इस विषय में कोई भी विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिलता। अतः यह कहना कठिन है कि प्राचीन समय में

---

1. "After a detailed examination of them, I arrived at the conclusion that none of them, justifies the assumption, that promiscuity has ever been the prevailing form of sexual relations among a single people, and far less that it has constituted a general stage in the social development of man."

Westermark—Future of marriage in western civilisation. P. 16

आचार की शिथिलता एक साधारण नियम था१। इस प्रकार से वेस्टरमार्क ने इस मत का बड़े जोरदार शब्दों में खंडन किया है।

तीसरा मत—तीसरा मत डाक्टर ब्रिफांत (Briffault) का है। इनके मत से प्राचीन काल में सामूहिक-विवाह (Group-marriage) होते थे जिसमें एक समुदाय के लोग दूसरे समुदाय की स्त्रियों से स्वच्छन्दतापूर्वक यौन संबंध स्थापित कर सकते थे। आपका कथन है कि "कतिपय समुदायों में सामूहिक कामवासनाजन्य संबंध व्यक्तिगत यौन संबंध से पहिले वर्तमान था। विवाह के नियमों की उत्पत्ति से यह नहीं जान पड़ता कि इनका संबंध व्यक्तिगत काम वासनाजन्य संबंध से रहा होगा, लेकिन इनसे सामूहिक संबंध का ही पता चलता है२।" डा० ब्रिफाँत के कहने का आशय यह है कि मानव समाज के आदिम काल में व्यक्तिगत कामवासनाजन्य संबंध की प्रथा

---

1. **"It is not of course impossible that among some peoples, intercourse between the sexes may have been almost promiscuous. But there is not a shred of genuine evidence for the notion that promiscuty even formed a general stage in the history of mankind."**

Westermark—History of Human marriage Vol. I, Chap. III.

2. ***"The regulation of collective sexual relatsons between given groups has everywhere preceded any regulation of those relations between individual members of those groups; and that in their origin, marriage regulations had no reference to such individual relations, but to relations between groups."***

Dr. R. Briffault—The Mothers (London 1927) I, P. 766

नहीं थी। बल्कि इसके बिपरीत एक समूह या समुदाय के स्त्री या पुरुष दूसरे समुदाय के लोगों से स्वेच्छा से यौन संवंध रखते थे। इस प्रकार उस समय व्यक्तिगत विवाह की प्रथा नहीं थी, बल्कि सामूहिक विवाह का प्रचलन था। इस प्रकार के सामूहिक विवाह तिब्बत और लंका में बहुत पाये जाते हैं१। संसार की अन्य जातियों में भी इस प्रकार की प्रथा पाया जाती है। डाक्टर बोगोरस (Bogororas) ने लिखा है कि चुकची (Chukchee) नामक जातियों में एक ही जोड़ा (स्त्री-पुरुष) तक में सुरत-संबंध सीमित नहीं रहता बल्कि पूरे समुदाय में रहता है। इस 'वैवाहिक गठबन्धन' (marriage union) से संबंध रखने वाले व्यक्ति समान स्त्री वाले कहे जाते हैं। इस प्रकार एक व्यक्ति दूसरी सभी स्त्रियों से यौन सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका में हेरोरो जाति में भी सामूहिक विवाह की प्रथा थी। इस सम्बन्ध को वहाँ की देशी भाषा में "ओपङ्ग" (Oupange) कहते थे जिसका अर्थ 'मित्रता' है। इससे ज्ञात होता है कि वहाँ सुरत-सम्बन्ध मित्रता के रूप में किया जाता था। विवाह की कल्पना वहाँ विद्यमान नहीं थी। प्राचीन इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि मसाई (Masai) जाति में सामूहिक रूप से यौन संबंध होता था। यदि कोई पुरुष अपनी ही अवस्था की किसी स्त्री से संभोग करता था तो इसे अपराध नहीं माना जाता था और स्त्री भी अपनी जाति में किसी भी पुरुष से यौन-संबंध करने में स्वतन्त्र थी२। कुछ जंगली जातियों में यह भी प्रथा विद्यमान है कि सगे भाई भी एक दूसरे की स्त्री से अनुचित संबंध कर सकते हैं। सेमाइट (Semite) लोगों में इस प्रथा के प्रचलित होने का वर्णन मिलता है। डा० रिभर्स (Revers) ने लिखा है कि मेलनेशिया (Melanesia) के कुछ हिस्सों में सगे भाइयों का उनकी स्त्री की बहिनों से सुरत संबंध होता रहता था। आस्ट्रेलिया की

---

1. Westermark—History of Human marriage Vol. III, P. 223

2. Hollis—Masai P. 312.

अनेक जातियों में सामूहिक विवाह की प्रथा आज भी पायी जाती है[१]। इन सब उल्लेखों से डा० ब्रिफाँत आदि विद्वानों ने यह मत स्थिर किया है कि व्यक्तिगत वैवाहिक प्रथा के पहिले समाज में सामूहिक सुरत सम्बन्ध की प्रथा प्रचलित थी तथा धीरे-धीरे इसी प्रथा से विवाह की उत्पत्ति हुई।

भारत में विवाह को उत्पत्ति—स्मृतियों में विवाह के विभिन्न प्रकारों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन मिलता है। परन्तु विवाह की उत्पत्ति के संबंध में कुछ विवरण उपलब्ध नहीं होता। महाभारत में इस विषय का जो उल्लेख मिलता है उसका पहिले वर्णन किया जा चुका है। वेदों में भी विवाह की महत्ता के विषय में विस्तृत रूप में प्रतिपादन किया गया है परन्तु इसकी उत्पत्ति के संबंध में कुछ भी वर्णन नहीं पाया जाता। हाँ, ताण्ड्य महा-ब्राह्मण में इतना अवश्य लिखा है कि पृथ्वी और आकाश पहिले एक थे परन्तु बाद में वे पृथक् हो गये। तब उन्होंने कहा कि हम दोनों को विवाह करना चाहिए। इसलिए हमारे लिए आपस में संबंध या सहवास करना आवश्यक है[२]। परन्तु इससे केवल इतना ही पता चलता है कि विवाह को योग्यता एक पक्ष में नहीं होती। जब स्त्री और पुरुष दो पृथक् होते हैं तभी विवाह हो सकता है अन्यथा नहीं। परन्तु उपर्युक्त कथन से विवाह की उत्पत्ति की समस्या पर कुछ विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।

---

१. 'सामूहिक-विवाह' के विशेष वर्णन के लिए देखिए डा० वेस्टरमार्क—हिस्ट्री—भाग ३, अध्याय ३१।

२. इमौ वै लोकौ सहास्तां तौ विन्यस्तावभूतां, विवाहं विवहावहै सह नावस्त्विति ॥ ता० म० ७।१०।१

ऋग्वेद में पुरुरवा और उर्वसी की कथामें "अस्थायी विवाह" की प्रथा का उल्लेख मिलता है। परन्तु ऋग्वेद के समय में इस प्रकार के विवाह की प्रथा नहीं थी। बहुत संभव है कि यह कथा किसी प्राचीन काल की प्रथा की ओर संकेत करती हो जब समाज में 'अस्थायी विवाह' का प्रचार रहा हो[1]।

समीक्षा—गत पृष्ठों में विवाह की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मतों का उल्लेख करते हुए यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि मानव-समाज ज्यों ज्यों सभ्यता की पगडण्डी पर आगे कदम बढ़ाता गया त्यों त्यों उसके विचारों तथा संस्थाओं में भी परिवर्तन होता गया। मानव-सभ्यता के विकास-क्रम पर दृष्टिपात करते हुए यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्रारंभिक युग में मनुष्यों का आध्यात्मिक तथा नैतिक स्तर इतना अधिक ऊँचा नहीं हुआ था जितना इस समय है। समाज में जब नैतिक विचार का विकास विशेष नहीं हुआ था, उस समय बहुत संभव है कि लोगों में विवाह-संबंध का अभाव रहा हो तथा समाज के प्रत्येक स्त्री और पुरुष को सुरत-संबंध स्थापित करने की पूरी स्वतन्त्रता रही हो। प्राचीन जातियों की भिन्न-भिन्न प्रथाओं का जो उल्लेख मिलता है तथा आज भी अनेक जातियों में जो प्रथायें पायी जाती हैं उनसे इस मत की पुष्टि पूर्णरूप से होती है। जिस प्रकार मानव शरीर का विकास क्रमशः धीरे धीरे हुआ है उसी प्रकार मानव-संस्थाओं का विकास भी समझना चाहिए। यह मानना नितान्त भूल होगी कि मानव समाज एक ही दिन में सदाचारी बन गया होगा तथा सभी जातियों में वैवाहिक-बन्धन समान रूप से दृढ़ हो गया होगा। यह कल्पना विकास के सिद्धान्त के नितान्त प्रतिकूल होगी। डा० वेस्टरमार्क जैसे समाजशास्त्र

---

1. Dr. R. B. Pande—"This form of marriage was not current in the Rigvedic times and must have been a recollection of ancient times when the temporary marriages were in vogue." J. B. H. U. Vol 6, No 1, P. 7.

वेत्ता भले ही इस सिद्धान्त का खण्डन करें परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि मानव समाज के शैशव काल में ऐसी अवस्था अवश्य वर्तमान थी जिसमें किसी प्रकार का वैवाहिक वन्धन नहीं था। कुछ दिनों तक मानव ने ऐसे ही स्वच्छन्द समाज में अपनी शैशव क्रीड़ा कीं। परन्तु धीरे धीरे जब वह युवावस्था को प्राप्त होने लगा; जब सभ्यता की प्रखर किरणों को प्राप्त कर वह अपनी चिर निद्रा को त्याग अँगड़ाइयाँ लेने लगा, तब उसने अपनी इस 'प्रिमिटिव प्रथा' की पगडण्डी को छोड़ा और वैवाहिक-संस्था की नींव डालकर सदाचार के राजमार्ग को ग्रहण किया।

मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ तथा उसकी भावनाएँ सर्वत्र प्रायः एक ही प्रकार की हुआ करती हैं। मानव स्वभाव जैसा इस देश में पाया जाता है वैसा ही अन्य देशों में भी मिलता है। इसलिये अन्य देशों में प्रारम्भिक युग में जो प्रथायें विद्यमान थीं उनकी सत्ता यहाँ भी स्वाभाविक ही है। भारत में विवाह की उत्पत्ति कैसे हुयी इसका संक्षेप में वर्णन किया गया है। इसके देखने से मालूम होता है ऋग्वेद के समय में भी हमारे यहाँ विवाह का आदर्श अत्यन्त उच्च था तथा हम भारतीय इसे केवल शारीरिक-संबंध न समझ कर आध्यात्मिक बन्धन भी मानते थे। परन्तु इस देश में भी प्रारम्भ में विवाह-बन्धन-रहित समाज था इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अतएव यह सिद्धान्त मानना ही पड़ेगा कि विवाह की उत्पत्ति सर्वप्रथम ऐसे ही समाज से हुई होगी जिसमें स्त्री तथा पुरुषों का यौन संबंध किसी बन्धन से मुक्त रहा होगा।

वेस्टरमार्क ने भी विकासवाद के उपर्युक्त सिद्धान्त को स्वीकार किया है तथा अपने मत के प्रतिपादन में इससे सहायता ली है। उनके मतानुसार मनुष्य की प्रारम्भिक आदतों से ही विवाह की उत्पत्ति हुई। उनका कथन है कि पुरुष तथा स्त्री में स्व सुख तथा स्वरक्षा का भाव स्वाभाविक मनोवृत्ति (Instinct) के रूप में विद्यमान रहता है। पुरुष स्त्री के साथ सुरत-संबंध कर सुख की प्राप्ति करता है और उससे सन्तान उत्पन्न कर

स्व-वृद्धि चाहता है। स्त्री भी पुरुष के संयोग से आनन्द का अनुभव कर सन्तान के शैशव काल में अपनी तथा अपने संतान की रक्षा चाहती है। ऐसी दशा में पुरुष तथा स्त्री के एक साथ रहने की आदत स्वभाव से सिद्ध है। यह आदत केवल मनुष्यों में ही नहीं हैं प्रत्युत पशु और पक्षियों में भी पायी जाती है। मनुष्यों की यही आदत (Habit) समाज से अनुमोदित होने पर प्रथा के रूप में परिणत हो गयी और कानून से वैध समझी जाने पर संस्था बन गयी। इस प्रकार जो वस्तु पहिले केवल आदत थी, वही कालान्तर में विवाह की उत्पत्ति का कारण बन गयी।

परन्तु निश्चित रूप से यह कहना कि अमुक कारणों या कारण से ही विवाह की उत्पत्ति हुयी होगी नितान्त अनुचित होगा। यह संभव है कि देश तथा अवस्था भेद से भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न कारणों से विवाह की उत्पत्ति हुयी हो। 'अन्धगजन्याय' के अनुसार जिस प्रकार गज के भिन्न भिन्न अङ्गों की समष्टि ही गज के स्वरूप का कारण होती है उसी प्रकार से यदि हम यह कहें कि इन विभिन्न सिद्धान्तों की समष्टि ही वैवाहिक-प्रथा की उत्पत्ति का कारण है तो यह कथन कुछ अनुचित न होगा।

२—विवाह का महत्व तथा उद्देश्य

मनुष्य के जीवन में विवाह अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है तथा जब तक मानव समाज की सत्ता रहेगी तब तक इसका नाश नहीं हो सकता। यदि हम यह कहें कि मनुष्य के जीवन में विवाह संस्कार सबसे प्रसिद्ध तथा प्रधान संस्कार है तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी। सभ्य से सभ्य तथा अत्यन्त जंगली जातियों में भी इस प्रथा का अस्तित्व समान रूप से पाया जाता है। मानव जाति के विकास के प्रारम्भिक युग में विवाह किसी संस्कार या संस्था के रूप में भले ही वर्तमान न रहा हो परन्तु इसकी सत्ता को स्वीकार करने में भला किसे संदेह हो सकता है। सच तो यह है कि विवाह के एक उद्देश्य—मैथुन कर्म—में मनुष्य की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है। प्रारम्भ में मनुष्य इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति के वशीभूत होकर विवाह करता था। विवाह के आध्यात्मिक तथा धार्मिक उद्देश्य की कल्पना बहुत पीछे हुई। मनुष्य के हृदय में अपनी गृहस्थी को जमाने की भावना स्वाभाविक होती है। वह चाहता है कि वह अपनी स्त्री तथा बाल-बच्चों के साथ आनन्द से रहे। मानव चूँकि सामाजिक प्राणी है अतः उसकी ऐसी कामना प्रकृति सिद्ध है। प्रधानतया इसी भावना से प्रेरित होकर मनुष्य विवाह-संबंध करना चाहता है। डा० वेस्टरमार्क ने अपने "विवाह के इतिहास" नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में ऐसी अनेक खानाबदोश तथा जंगली जातियों का वर्णन किया है जिनमें वैवाहिक-संस्कार न होने पर भी विवाह-संबंध अवश्य होता था। कहने का आशय केवल इतना ही है कि विवाह मनुष्य के जीवन में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्कार है जो संसार की वर्तमान प्रायः सभी जातियों में पाया जाता है। सचमुच विवाह के अभाव में मनुष्य का जीवन नीरस ही समझना चाहिए।

'विवाह' शब्द का अर्थ—विवाह शब्द संस्कृत के 'वि' उपसर्गक 'वह्' प्रापणे धातु से घञ् प्रत्यय करने से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है किसी वस्तु को वहन करना अथवा ढोना। 'वि' उपसर्ग है जिसका अर्थ है विशेष प्रकार से। इस प्रकार विवाह का अर्थ हुआ कन्या को विशेष प्रकार से अथवा किसी विशेष उद्देश्य के लिये—अपनी स्त्री बनाने के लिये—ले जाना। विशेषेण वहनं विवाहः। संभवतः यह शब्द मानव समाज के विकास की उस प्रारम्भिक अवस्था की सूचना देता है जब कन्यायें 'युद्ध की सामग्री या उपहार' समझ कर हरण की जाती थीं और बाद में उनसे विवाह कर लिया जाता था। यह प्रथा प्राचीनकाल में प्रचलित थी और ऐसे विवाह को राक्षस विवाह कहते थे। विवाह के लिये संस्कृत में दूसरा शब्द 'उद्वाह' है जिसका अर्थ है पैतृक गृह से कन्या को ले जाना। इसके लिये 'परिणय' या 'परिणयन' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है जिसका अर्थ है अग्नि की चारो ओर से प्रदक्षिणा करना। हमारे यहाँ विवाह संस्कार के अवसर पर अग्नि की प्रदक्षिणा की जाती है और अग्नि को साक्षी देकर इस बात को शपथ ली जाती है कि आज से पति और पत्नी एक मन, एक भाव होकर रहेंगे तथा यावत् जीवन दोनों एक दूसरे की सब प्रकार से सहायता करेंगे। अतः 'परिणयन' शब्द विवाह की स्थिरता तथा सहकारिता की सूचना देता है। विवाह के लिये 'पाणिग्रहण' शब्द भी प्रयुक्त होता है जिसका अर्थ है कन्या का हाथ पकड़ना। विवाह संस्कार के अवसर पर कन्या का पिता पुत्री का दान करता है जिसे 'कन्यादान' कहते हैं। उस समय वर कन्या का हाथ पकड़ कर उसे स्वीकार करता है तथा इस बात की प्रतिज्ञा करता है कि मैं यावज्जीवन इसे नहीं छोड़ूंगा और धार्मिक कृत्यों में सदा साथ रक्खूंगा। 'उपयम' शब्द का व्यवहार भी इसी अर्थ में किया जाता है जिसका भाव है 'पास ला कर अपना बना लेना'। यद्यपि उपर्युक्त शब्दों से विवाह संस्कार के केवल एक अंश की सूचना मिलती है परन्तु शास्त्रों में इन शब्दों का प्रयोग वैवाहिक संस्कारों की समष्टि की सूचना देने के अर्थ में किया गया है।

भारत में वैवाहिक प्रथा की प्राचीनता—जब संसार के अन्य देश असभ्यता के अन्धकार में विलीन थे उस समय भारत अपनी सभ्यता की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ था। जब संसार की भिन्न भिन्न जातियाँ अपनी काम-वासना की तृप्ति के लिये पशुओं के समान मैथुन कर्म में प्रवृत्त थीं उस अति प्राचीन काल में भी भारत में विवाह का आदर्श अत्यन्त उच्च तथा पवित्र था। हमारी अत्यन्त प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद में वैवाहिक प्रथा का उल्लेख ही नहीं मिलता बल्कि इसमें विवाह का अत्यन्त उच्च आदर्श चित्रित किया गया है। ऋग्वेद में एक सूक्त है जो 'विवाह सूक्त' के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें सोम तथा सूर्या के विवाह का वर्णन बड़ी रोचक भाषा में किया गया है। इसके बाद अथर्ववेद में भी विवाह का उल्लेख पाया जाता है जिससे पता चलता है कि उस समय में विवाह संस्कार कैसे होता था। गृह्य सूत्रों तथा धर्म सूत्रों में वैवाहिक विधि का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है जो वैदिक आधार पर अवलम्बित है। गृह्यसूत्रों में अनेक वैवाहिक विधियों का विवरण उपलब्ध होता है जिससे पता चलता है कि उस समय विवाह की संस्था बद्धमूल हो गयी थी। इसके पश्चात् महाभारत और रामायण में—विशेषतः पहिले में—अनेक प्रकार के वैवाहिक प्रकारों का उल्लेख मिलता है। महाभारत से ज्ञात होता है कि उस समय असवर्ण विवाह होने लगा था। इसके पश्चात् संस्कृत नाटकों तथा काव्यों में वैवाहिक प्रथाओं का उल्लेख सरस शब्दों में किया गया है। संस्कृत के विवाह पद्धति संबंधी ग्रन्थों में विवाह-संस्कार का बड़ा ही विस्तृत वर्णन उपलब्ध है जिससे ज्ञात होता है कि उस समय की वैवाहिक विधि केवल वैदिक ही नहीं थी बल्कि उसमें अनेक स्थानीय रीति-रिवाजों का भी समावेश हो गया था। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि भारत में वैवाहिक प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। ऋग्वेद में इस प्रथा का उल्लेख इस बात को सूचित करता है कि कम से कम भारत में यह प्रथा आज से ४००० वर्ष ईसा पूर्व में विद्यमान थी।

मानव जीवन में विवाह की आवश्यकता—मानव जीवन में विवाह को बहुत बड़ी आवश्यकता है। यद्यपि इस विषय में अनेक विद्वानों के सिद्धान्त भिन्न भिन्न हैं परन्तु यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि विवाह बुरी वस्तु भले ही हो परन्तु यह एक आवश्यक बुराई है। इसके बिना संसार का काम सुचारु रूप से नहीं चल सकता। आजकल पाश्चात्य देशों में ऐसी सामाजिक स्थिति उत्पन्न हो गयी है जिससे वहाँ के नवयुवक विवाह के उत्तरदायित्व को लेने से घबराते हैं। पाश्चात्य समाज का सदाचार अत्यन्त उच्छृङ्खल हो गया है। वहाँ सदाचार का कोई विशेष स्थान नहीं है। ऐसी दशा में कोई भी नवयुवक किसी भी कुमारी युवती के पास जा कर अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है। उसके पास न तो इतना पैसा ही है कि वह विवाह करके गृहस्थी जमाये और न गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्व को वहन करने की इच्छा ही है। ऐसी विषम परिस्थिति में पाश्चात्य युवक का, विवाह-बन्धन में न पड़ने की इच्छा, स्वाभाविक ही है। नवयुवतियों के विषय में भी यही बात समझनी चाहिए।

मनुष्य के जीवन में विवाह संस्कार का होना परमावश्यक है। विवाह न होने से साधारणतया मानव का चित्त सदा व्यग्र रहता है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है कि मैथुन कर्म तथा गृहस्थाश्रम का आनन्द लेने की प्रवृत्ति मनुष्यों में स्वाभाविक होती है। अतः ऐसी दशा में विवाह से हमारा पिण्ड कैसे छूट सकता है? यदि संसार में विवाह की प्रथा न रहे तो समाज में अनाचार और व्यभिचार का कितना प्रचार हो जायेगा इसकी कल्पना भी करनी कठिन है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने विवाह की इस अनिवार्यता को अच्छी तरह से समझा था इसीलिये इन्होंने इस पर इतना जोर दिया है।

विवाह की सामाजिक आवश्यकता—अत्यन्त प्राचीनकाल से हमारे पूर्वज विवाह की आवश्यकता को समझते थे। विवाह ही हमारे यहाँ गृहस्थाश्रम का मूल आधार था। वैदिक आर्यों के लिये भी एक सुन्दर घर और सुन्दरी स्त्री ही अभिलषित वस्तु थी। इसीलिये उस प्राचीन काल में भी विवाह

को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया जाता था। उपनिषदों के समय में विभिन्न आश्रमों के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों ने यह दृढ़ नियम बना दिया था कि मनुष्य को अपना जीवन क्रमशः चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—में बिताना चाहिये। इन सब आश्रमों में ऋषियों ने गृहस्थाश्रम को ही प्रधानता प्रदान की थी क्योंकि इसी आश्रम के ऊपर सब आश्रमों की स्थिति अवलम्बित समझी जाती थी। अविवाहित मनुष्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं कर सकता था। अतः विवाह करना प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यक बतलाया गया है। मनु ने मनुष्य के जीवन का समय-विभाग करते हुये लिखा है कि उसे आयु का पहिला भाग अर्थात् प्रथम २५ वर्ष गुरु के आश्रम में बिताना चाहिये, दूसरा भाग विवाह करके घर में रहते हुए, तीसरा भाग वन में तथा चौथा भाग मुक्तसंग हो कर संन्यास आश्रम में बिताना चाहिये१। हारीत ने लिखा है कि इस प्रकार से जो मनुष्य अपना समय बिताता है वह सब लोकों को जीत कर ब्रह्म में लीन हो जाता है२। स्मृतिकार यक्ष का कथन है कि प्रथम

---

१. चतुर्थमायुषो भागं वसित्वाद्यं गुरोः कुले।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्॥
वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान्परिव्रजेत्॥

मनुस्मृति ४।१-२

२. अनेन विधिना यो हि आश्रमानुपसेवते।
स सर्वलोकान्निर्जित्य ब्रह्मलोकाय कल्पते॥
संस्कार-मयूख में उद्धृत हारीत का वचन, पृ० ६४

तीन आश्रमों के क्रम में व्यत्यय नहीं हो सकता। यदि कोई मनुष्य इसका उल्लंघन करता है तो उससे बड़ा कोई पातकी नहीं हो सकता१।

विवाह ही गार्हस्थ जीवन की मूलभित्ति है जिसके ऊपर गृहस्थी का महान् प्रासाद खड़ा किया जाता है। इसीलिये स्मृतियों ने गृहस्थाश्रम की बड़ी प्रशंसा की है। मनु ने लिखा है कि जिस प्रकार वायु के कारण ही समस्त प्राणियों की सत्ता है उसी प्रकार से गृहस्थाश्रम का आश्रय लेकर ही सब अन्य आश्रमों की स्थिति है२। चूँकि गृहस्थ अपने ज्ञान और अन्न से अन्य आश्रमों का पालन करता है अतः उसका आश्रम सर्वश्रेष्ठ है। जो मनुष्य अक्षय स्वर्ग तथा आनन्द की प्राप्ति चाहते हैं उनको गृहस्थ आश्रम में अवश्य प्रवेश करना चाहिये३। मनु ने जब गृहस्थाश्रम की इतनी प्रशंसा की है तब विवाह न करके इस आश्रम में प्रविष्ट न होने वाले मनुष्यों की निन्दा करना स्वाभाविक ही है। अपरार्क ने लिखा है कि "कोई मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र भले ही हो परन्तु विवाहित न होने के कारण वह धार्मिक

१—त्रयाणामानुलोम्येन स्यात्प्रातिलोम्यं न विद्यते।
प्रातिलोम्येन यो जाति, न तस्मात्पापकृत्तरः॥
यक्ष स्मृति १।१२

२—यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
म० स्मृ० ३।७७

३—वही ३।७८-७९।

कृत्यों का अधिकारी नहीं हो सकता१। इस प्रकार प्राचीन भारत में जो मनुष्य विवाह नहीं करता था वह समाज में ऊँची दृष्टि से नहीं देखा जाता था। गृहस्थाश्रम की सर्वश्रेष्ठता को सूचित करते हुये हमारे ऋषियों ने विवाह को एक सामाजिक आवश्यकता बतलाया है जिसका पालन करना सबके लिये समान रूप से अनिवार्य माना गया है।

विवाह की महत्ता—हमारे शास्त्रों में विवाह को अत्यधिक महत्व प्रदान किया है जो उचित ही है। प्राचीन काल में जब मनुष्यों का जीवन-निर्वाह अधिकतर खेती के द्वारा हुआ करता था, तब अधिक परिवार वाला मनुष्य ही सुखी समझा जाता था। प्राचीन काल में वास्तव में विवाह व्यक्तिगत वस्तु न होकर पारिवारिक वस्तु समझा जाता था। विवाह का प्रधान उद्देश्य सन्तान की उत्पत्ति समझी जाती थी जिससे वंश परम्परा का विच्छेद करना अत्यन्त बुरा माना जाता था। इसीलिये तैत्तिरीयोपनिषद् में आचार्य समावर्तन संस्कार के समय अपने विद्यार्थियों को उपदेश देते हुये कहता है कि तुम अपने जीवन में सन्तान के सूत्र का विच्छेद कभी मत करना—
"प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः"।

विवाह एक सामाजिक आवश्यकता है। यदि विवाह न हो तो गृहस्थी नहीं चल सकती और गृहस्थी न हो तो समाज की सत्ता भला कहाँ रह सकती है? अतः आश्रम धर्म को ठीक रूप से व्यवस्थित रखने के लिये विवाह की आवश्यकता स्पष्ट ही है। विवाह की महत्ता का दूसरा कारण

१—पत्नी धर्मार्थकामानां कारणं प्रवरं स्मृतम्।
अपत्नीको नरो भूप! कर्मयोग्यो न जायते॥
ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽपि वैश्यः शूद्रोऽपि वा नृप।
या० स्मृ० १।५१ की टीका में अपरार्क के द्वारा उद्धृत।

धार्मिक है। भारतीयों का जीवन सदा से धार्मिक रहा है। इसीलिये भारतीय धर्मप्राण कहे जाते हैं। हमारे देश में कोई भी कार्य बिना धार्मिककृत्य के सम्पन्न नहीं हो सकता। चाहे लड़के का जन्म हो अथवा मुण्डन या विवाह उस समय कोई न कोई धार्मिक कृत्य अवश्य किया जाता था। परन्तु यह धार्मिक-कार्य अकेले निष्पन्न नहीं हो सकता था, इसके लिये स्त्री की आवश्यकता होती थी। यदि स्त्री न हो तो कोई भी धार्मिक कृत्य करना सम्भव न था। प्राचीन काल में धार्मिक कृत्यों के अवसर पर स्त्री का साथ रहना इतना आवश्यक समझा जाता था कि उसके अभाव में उसकी सोने को प्रतिकृति बनाकर इस अभाव की पूर्ति की जाती थी। उत्तर रामचरित से पता चलता है कि जब राम ने सीता को वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ दिया था तब उस समय उन्होंने जो यज्ञ किया था उसमें सीता के अभाव में उनकी सोने की प्रतिकृति ही रक्खी गयी थी। प्राचीन काल में गृहस्थ के लिये अग्निहोत्र करना अत्यन्त आवश्यक था। प्रत्येक गृहस्थ प्रातःकाल अग्निहोत्र करता था तथा वह स्त्री के साथ प्रतिदिन अग्निकुण्ड में आहुति डालता था। भाव यह है कि प्राचीन भारत में मनुष्य का सामाजिक तथा धार्मिक जीवन तभी सुचारु रूप से चल सकता था जब वह विवाहित होता था। समस्त धार्मिक कृत्यों में स्त्री का सतत सहयोग होने के कारण ही उसे "धर्मपत्नी" की संज्ञा प्रदान की गयी है। इसी कारण से हिन्दू-जीवन में विवाह का इतना अधिक महत्त्व था। सच तो यह है कि विवाह को धार्मिक रूप देकर ऋषियों ने इसको इतनी अधिक महत्ता प्रदान की जितनी संसार के अन्य देशों में मिलनी कठिन ही नहीं असम्भव भी है।

इस सम्बन्ध में काशी की एक घटना का उल्लेख करना अनुचित न होगा। काशो के कालभैरव मुहल्ले के निवासी एक अग्निहोत्री जी अपनी पत्नी के साथ नित्य प्रति अग्निहोत्र किया करते थे। जीविका विहीन होने के कारण वे लोगों से आर्थिक सहायता लेकर अग्निहोत्र का सम्पादन करते थे। इसी धार्मिक कृत्य के द्वारा वे अपनी जीविका चलाते थे। इस कृत्य में उनकी

धर्मपत्नी का सदा सहयोग रहता था। कुछ वर्षों के पश्चात् उनकी स्त्री का देहान्त हो गया। चूँकि अग्निहोत्र के सम्पादन में पत्नी का सहयोग अत्यन्त आवश्यक होता है अतः स्त्री के निधन के पश्चात् उन्हें अग्निहोत्र का करना लाचार होकर बन्द करना पड़ा। इस प्रकार धर्मपत्नी की मृत्यु के कारण उनकी जीविका नष्ट हो गई और वे निर्धन होकर बड़े कष्ट में अपना जीवन बिताने लगे थे।

<u>संसार के अन्य देशों में विवाह का महत्त्व</u>—प्राचीन काल में संसार के अन्य देशों में भी विवाह का अधिक महत्त्व था। इज़राइल देश के लोगों में विवाह को बड़ा महत्त्व प्रदान किया जाता था। ग्रीस देश में भी विवाह पवित्र संस्कार माना जाता था[१]। विवाह करने से परिवार की परम्परा सदा चलती रहती थी और देवताओं की पूजा में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती थी। ग्रीस में ब्रह्मचारी रहना अपराध समझा जाता था तथा इसके लिये कठिन दण्ड मिलता था। प्लूटार्क के कथन से पता चलता है कि स्पार्टा में जो लोग विवाह नहीं करते थे वे अनेक अधिकारों से वञ्चित कर दिये जाते थे[२]।

<u>विवाह का उद्देश्य</u>—भारतवर्ष में विवाह का उद्देश्य सदा धार्मिक तथा आध्यात्मिक रहा है। पाश्चात्य देशों की भाँति विवाह हमारे यहाँ शारीरिक सम्बन्ध नहीं समझा जाता था बल्कि यह वह आध्यात्मिक सम्बन्ध था जो सदा अविच्छेद्य होता था। वैदिक ग्रन्थों तथा धर्मशास्त्रों में विवाह का जो उच्च उद्देश्य उपलब्ध होता है उसका अन्यत्र मिलना अत्यन्त कठिन है। ऋग्वेद में लिखा है कि विवाह का उद्देश्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर यज्ञ का

---

1. *Good sell—A history of family as a social and educational institution.*

2. Lives Vol. *I* P. *81*.

विधान और पुत्र की उत्पत्ति करना है१। ऋग्वेद के विवाह सूक्त से पता चलता है कि पुरुष किसी स्त्री से गार्हंपत्य के लिए विवाह करता था२। इसका आशय यह है कि विवाह का प्रधान उद्देश्य गृहस्थाश्रम के धर्म का पालन करते हुये समाज की सेवा करना था। ऋग्वेद के दूसरे मन्त्र में भी स्त्री तथा पुरुष दोनों के द्वारा देवताओं की पूजा करने का वर्णन मिलता है३। ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में लिखा है "स्त्री स्वयं ही घर है४" अर्थात् स्त्री के बिना घर की सत्ता ही नहीं है। संस्कृत के किसी कवि ने भी यह लिखा है कि घर को घर नहीं कहते बल्कि घरनी (स्त्री) ही घर है। स्त्री के बिना घर जङ्गल से भी बुरा मालूम होता है५। इस प्रकार हिन्दू विवाह का उद्देश्य स्त्री को गृहस्वामिनी बनाना था। ऐतरेय ब्राह्मण में स्त्री को

---

१. ऋ० वे० १०।८५

२. गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं, मया पत्या जरदृष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरंध्रिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥
ऋ० वे० १०।८५।३६

३. त्वमर्यमा भवसि यत् कनीनां नाम स्वधावन् गुह्यं बिभर्षि।
अंजन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद् दम्पती समनसा कृणोषि॥
ऋ० वे० ५।३।२

४. जायेदस्तं मघवन्त्सेदु योनि
स्तदित् त्वा युक्ता हरयो वहन्तु ॥३।५३।४

५. न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणीगृहमुच्यते।
गृहं तु गृहिणीहीनं कान्तारादतिरिच्यते॥
म० भा० शान्तिपर्व १४४।६६

'जाया' कहा गया है क्योंकि पति ही पुत्र रूप से उसमें उत्पन्न होता है१। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि "स्त्री पति की आत्मा का अर्धांश है। इसलिये जबतक पति पत्नी को प्राप्त नहीं करता तब तक वह अधूरा ही रहता है। परन्तु जब वह विवाह कर लेता है और सन्तान की परम्परा को चलाने लगता है तभी वह पूर्ण समझा जाता है२"। शतपथ के इस उल्लेख से स्पष्ट पता चलता है कि हमारे यहाँ विवाह का एक उद्देश्य चिरकाल से चली आती हुयी प्रजा की परम्परा को पुत्र की उत्पत्ति कर अक्षुण्ण बनाये रखना था। प्राचीन ऋषिगण राष्ट्र की पुरुष-शक्ति (Man power) के महत्व को अच्छी तरह से समझते थे। वे जानते थे कि यदि देश में आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत लेने वाले युवकों या संन्यास ग्रहण करने वाले साधुओं का प्रचार होगा तो राष्ट्र की पुरुष शक्ति कम हो जायगी। इसीलिये उन्होंने प्रत्येक मनुष्य के लिए विवाह करना आवश्यक बतलाया था। इसका उद्देश्य काम-वासना की तृप्ति करना नहीं था बल्कि राष्ट्र की शक्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये पुत्र की उत्पत्ति करना था। ऐतरेय ब्राह्मण ने उपर्युक्त मत का समर्थन करते हुये इसी विषय का प्रतिपादन किया है३।

इस प्रकार विवाह का प्रथम तथा सर्वप्रधान उद्देश्य पुत्र की उत्पत्ति कर समाज की सत्ता को प्रतिष्ठापित रखना था। कालिदास ने रघुवंशी राजाओं का वर्णन करते हुये लिखा है कि वे प्रजा की उत्पत्ति के लिये ही

१. ऐ० ब्रा० ३३।१

२. अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायते असर्वो हि तावत् भवति। अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति। शत० ब्रा० ५।२।१।१०

३. ऐ० ब्रा० १।२।४

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे१। इस तरह से कालिदास ने भी विवाह का उद्देश्य प्रजा की उत्पत्ति ही माना है।

पारस्कर गृह्यसूत्र में विवाह संस्कार के समय पति की प्रतिज्ञा का जो वर्णन मिलता है उससे हिन्दू विवाह के उद्देश्य के ऊपर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। प्रतिज्ञा करते समय पति अपनी पत्नी से कहता है कि "मैं साम हूँ, तुम ऋक् हो; मैं आकाश हूँ और तुम पृथिवी हो; इसलिये आओ हमलोग आपस में विवाह करें। इसके साथ ही तेज को धारण करें; पुत्र को उत्पन्न करें। हमलोग प्रेम से, आनन्दपूर्वक एक सौ वर्षों तक जीते रहें२"। ऊपर के उल्लेख से दो बातों का पता लगता हैं। पहिला यह कि हमारे यहाँ वैवाहिक सम्बन्ध जीवन पर्यन्त के लिये होता था। दूसरा – विवाह का उद्देश्य प्रजा की उत्पत्ति कर पुत्र को प्राप्त करना था। पुत्र को उत्पन्न करने के लिये विवाह सामाजिक तथा धार्मिक दोनों ही दृष्टियों से अनिवार्य समझा जाता था।

समाज की स्थिति के लिये पुत्र की आवश्यकता थी इसका उल्लेख किया जा चुका है। धर्मशास्त्रों में लिखा है कि मनुष्य तीन ऋणों को लेकर उत्पन्न होता है जो निम्नलिखित हैं—(१) देव ऋण, (२) पितृ ऋण, (३) ऋषि ऋण। इसमें यज्ञ करने से देव ऋण से, अध्यापन करने से ऋषि ऋण से

---

१. त्यागाय संभृतार्थानां, सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
रघुवंश १।७

२. सामाहमस्मि ऋक्त्वं, द्यौरहं पृथिवी त्वं, तावेहि विवहावहै। सहरेतो दधावहै। प्रजां प्रजनयावहै। पुत्रान्विन्द्यावहै। बहून् ते सन्तु जरदष्टयः। संप्रियौ, रोचिष्णू, सुमनस्यमानौ। पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतं, शृणुयाम शरदः शतम्। पा० गृ० सू० १।६।३

और पुत्र की उत्पत्ति करने से पितृ ऋण से मनुष्य उऋण होता है। पुत्र के उत्पन्न होने पर पितरों को सन्तोष हो जाता है कि अब उन्हें जलांजलि अवश्य मिलेगी। इस प्रकार पुत्रोत्पत्ति सामाजिक तथा धार्मिक दोनों दृष्टियों से आवश्यक कृत्य है।

विवाह का धार्मिक उद्देश्य—विवाह का दूसरा उद्देश्य धार्मिक था। हिन्दू जीवन सदा से धर्ममय रहा है। हमारे सभी संस्कारों में धर्म की मात्रा अत्यधिक रूप में विद्यमान है। अतः विवाह जैसे प्रधान संस्कार का धार्मिक होना स्वाभाविक ही है। हमारे यहाँ स्त्री को 'धर्मपत्नी' कहा जाता है। इसी एक शब्द से हिन्दू विवाह के उद्देश्य का परिचय भलीभाँति मिल जाता है। धर्म में सदा सहायता करने के कारण ही स्त्री को 'धर्मपत्नी' की संज्ञा दी गयी थी। भारतीय ललना भोग विलास की सामग्री नहीं थी; वह रूप की खान और लावण्य की राशि होती हुयी भी कामी पुरुषों की कामक्रीड़ा का साधन कभी नहीं थी। प्रत्युत मानव जीवन को उन्नत बनाने वाले आध्यात्मिक तथा धार्मिक कार्यों में पुरुष को सहयोग देने वाली उसकी धर्मपत्नी थी। इसीलिये आपस्तम्ब ने लिखा है कि स्त्री और पुरुष में भेद या विभाग नहीं हो सकता। इनका सम्बन्ध अविच्छेद्य है क्योंकि पाणि ग्रहण (विवाह) के समय से ही इनका धार्मिक कार्यों में सहयोग आवश्यक है[१]। आपस्तम्ब पुरुष को दूसरा विवाह न करने का आदेश देते हुये लिखते हैं कि "यदि प्रथम स्त्री पुत्र तथा धार्मिक कृत्यों से युक्त हो तो पुरुष दूसरा विवाह न करे[२]"। इस उल्लेख से यह अर्थ निकलता है कि आपस्तम्ब के मत में

---

१. जायापत्योर्न विभागो विद्यते। पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु। आप० ध० सू० २।६।१३।१६-१७

२. धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत। आप० ध० सू० २।५।११।१२

विवाह का उद्देश्य पुत्र की उत्पत्ति तथा धर्म सम्पादन करना था। इसी कारण से उन्होंने पहिली स्त्री से इन उद्देश्यों की पूर्ति होने पर दूसरा विवाह करना अनुचित बतलाया है। विज्ञानेश्वर ने यह उद्धरण देते हुए लिखा है कि "आपस्तम्ब ने धर्म तथा प्रजा की प्राप्ति ही विवाह का उद्देश्य या प्रयोजन बतलाया है। काम की तृप्ति तो लौकिक फल है[१]"। विज्ञानेश्वर के कथन से पता चलता है कि रतिफल (काम-वासना की तृप्ति) विवाह का उद्देश्य कभी नहीं था बल्कि वह लौकिक या आनुषङ्गिक फल समझा जाता था। मनु ने स्त्री का महत्त्व बतलाते हुये लिखा है कि सन्तान की उत्पत्ति, अग्निहोत्र आदि धर्मकार्य, सेवा, उत्कृष्ट रति, पितरों का तथा पति का स्वर्ग साधन—ये सभी कुछ पत्नी के आधीन हैं[२]। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यद्यपि मनु ने रति को भी स्त्री से प्राप्त होने वाली वस्तुओं में स्थान दिया है परन्तु इसका स्थान बहुत बाद में आता है। अतः मनु के मत में भी विवाह का प्रधान उद्देश्य पुत्रोत्पत्ति तथा धर्म-सम्पादन ही था। रति-फल को चतुर्थ स्थान प्रदान कर उन्होंने इसकी हेयता तथा अप्रधानता की ओर संकेत किया है। याज्ञवल्क्य ने दारसंग्रह का फल बतलाते हुये लिखा है कि "चूंकि लोक में वंश का अविच्छेद (पुत्र की उत्पत्ति करने से) तथा स्वर्ग की प्राप्ति (यज्ञ करने से) स्त्री के ही द्वारा होती है अतः इनकी सेवा तथा

---

१. तथा चापस्तम्बेन धर्मप्रजासंपत्तिः प्रयोजनं दारसंग्रहस्योक्तं धर्म........
कुर्वीतेति वदता। रतिफलं तु लौकिकमेव।
या० स्मृ० १।७८ पर मिताक्षरा टीका।

२. अपत्यं धर्मकार्याणि; शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः; पितृणामात्मनश्च हि॥ म० स्मृ० ९।२८

रचा करनी चाहिये१। जैमिनी का कथन है कि स्त्री और पुरुष को एक साथ ही यज्ञ-कर्म करना चाहिये, अलग अलग कदापि नहीं२। महाभारत में स्त्री को त्रिवर्ग—अर्थ, धर्म तथा काम—का मूल कहा गया है३। वृहस्पति ने स्त्री को पति के शरीर का आधा भाग अर्थात् अर्धाङ्गिनी वतलाया है तथा पुण्य और अपुण्य दोनों में समान भाग लेने वाली कहा है४।

यूरोपीय देशों में विवाह की कल्पना—अब यह विचार करना है कि यूरोपीय देशों में विवाह की क्या कल्पना है? वे लोग विवाह को किस दृष्टि से देखते हैं तथा उनके लिये विवाह का उद्देश्य क्या है? डा० वेस्टरमार्क ने विवाह की परिभाषा वतलाते हुये लिखा है कि विवाह एक या अनेक पुरुषों का एक या अनेक स्त्रियों से वह सम्बन्ध है जो रीति या कानून के द्वारा स्वीकृत हो। विवाह करने वाले दोनों (स्त्री एवं पुरुष) तथा उनसे उत्पन्न होने वाले सन्तानों को इससे कुछ अधिकार भी प्राप्त होते हैं। विवाह में मैथुन कर्म का अधिकार अन्तर्निहित है और समाज स्त्री तथा पुरुष के बीच में ऐसे

---

१. लोकानन्त्यं दिवः प्राप्तिः; पुत्रपौत्रप्रपौत्रकैः।
यस्मात्तस्मात्स्त्रियः सेव्याः; कर्तव्याश्च सुरक्षिताः॥
या० स्मृ० १।७८

२. जैमिनी—मीमांसासूत्र ६।१।१७

३. अर्धं भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य, भार्या मूलं तरिष्यतः॥
म० भा० १।७४।४०

४. आम्नाये स्मृतितन्त्रे च, लोकाचारे च सूरिभिः।
शरीरार्धं स्मृता भार्या पुण्यापुण्यफले समा॥
अपरार्क पृ० ७४०

मैथुन-कर्म को वैध तथा उचित समझता है१। आगे चलकर आप लिखते हैं कि विवाह एक आर्थिक संस्था है जिससे विवाह करने वाले दोनों दलों के उत्तराधिकारों के अधिकार में बहुत अन्तर पड़ता है। पति का यह कर्तव्य है कि वह अपनी स्त्री और बच्चों का पालन, पोषण तथा रक्षण करे और उन लोगों का यह कर्तव्य है कि अपनी सेवाओं से वे लोग उसे (पति) सन्तुष्ट करें२। ऊपर विवाह की जो परिभाषा दी गयी है उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि पाश्चात्य देशों में विवाह एक सामाजिक ठीका (Social Contract) है जिसके पालन करने पर ही विवाह की सत्ता कायम रह सकती है अन्यथा नहीं। पति के लिये स्त्री का पालन-पोषण करना अत्यन्त आवश्यक समझा जाता है। यदि वह अपने कर्तव्य से च्युत हो जाता है तो स्त्री उससे विवाह विच्छेद कर सकती है। आजकल यूरोप तथा अमेरिका में तलाकों की बढ़ती हुयी संख्या से इस कथन की पुष्टि होती है। स्त्री के लिए भी पति की सेवा करना आवश्यक है। यदि पत्नी अपने काम में आलस्य दिखलाती है तब पति उसको अपने पास कदापि नहीं रख सकता। इस प्रकार से यूरोपीय समाज में

---

1. *Marriage is a relation of one or more men to one or more women that is recognised by custom or law, and involves certain rights and duties in the case of parties entering the union and in the case of the children born of it. X X X Marriage always implies the right of sexual intercourse.*

   Westermark—Future of marriage in western civilization. P. 3.

2. *It is an economic institution which in various ways may effect the proprietary rights of the parties. It is the husband's duty to support his wife and children but it may also be their duty to work for him.*

   Westermark—History of Human marriage. Vol. I, P. 26.

विवाह बन्धन एक प्रकार का सामाजिक समझौता या बन्धन है जिसकी शर्तों का पालन करना दोनों दलों के लिये नितान्त आवश्यक है। जिस प्रकार शर्तों के पालन न करने से ठीका (contract) टूट जाता है उसी प्रकार से वैवाहिक शर्तों का भी उचित रीति से पालन न होने पर विवाह का विच्छेद हो जाता है।

वेस्टरमार्क ने विवाह के आवश्यक अङ्गों पर विचार करते हुये लिखा है कि विवाह में साधारणतया तीन आवश्यक तत्व होते हैं। (१) कामवासना की पूर्ति (२) स्त्री और पुरुष का पारस्परिक सम्बन्ध और (३) सन्तानोत्पत्ति। इन तीनों तत्वों के तुलनात्मक महत्व के विषय में वे कहते हैं कि विवाह का प्रधान उद्देश्य मैथुन कर्म ही है क्योंकि पशुओं में भी जो दो विभिन्न लिङ्गों में सम्बन्ध होता है उसका प्रधान लक्ष्य मैथुन की इच्छा ही होती है[१]।

दोनों के उद्देश्यों की तुलना—पाश्चात्य देशों में विवाह का उद्देश्य प्रधानतया कामवासना की पूर्ति करना है। परन्तु भारत में विवाह का उद्देश्य कभी कामवासना की पूर्ति नहीं था। हमारे यहां विवाह का प्रधान लक्ष्य धार्मिक था। स्त्री के बिना यज्ञ-यागादिकों का विधान नहीं किया जा सकता था। अतः विवाह करना आवश्यक समझा जाता था। स्त्री पुरुष के

---

1. There are three essential elements in every normal marriage; the gratification of the sexual impulse; the relation between husband and wife apart from it and procreation. The primary object of marriage has always been sexual union, as sexual desire is obviously the primary motive of relation between sexes among animals.

Westermark—Future of marriage P. 21.

साथ-साथ यज्ञ के समस्त कार्यों में भाग लेती थी। इस प्रकार वह अपने पति के धार्मिक जीवन को उन्नत और पवित्र बनाती थी। इसीलिये शास्त्रों ने स्त्री को 'धर्मपत्नी' कहा है। दूसरा उद्देश्य पुत्र की उत्पत्ति से समाज की स्थिति को बनाये रखना था। परन्तु इस कार्य में भी कोई मनुष्य काम-वासना से प्रवृत्त नहीं होता था बल्कि प्रजा उत्पन्न करने की सामाजिक तथा धार्मिक भावना ही प्रधान हेतु थी।

भारत तथा यूरोपीय देशों में विवाह के उद्देश्यों में सबसे महान् अन्तर इसी धार्मिक भावना के कारण है। चूँकि भारतीय स्त्री 'धर्मपत्नी' होती थी अतः उससे वैवाहिक सम्बन्ध यावत् जीवन के लिये होता था। इतना ही नहीं, पति के मर जाने पर भी यह सम्बन्ध अविच्छेद्य समझा जाता था। परन्तु यूरोप में विवाह एक सामाजिक ठीका है जो उभय पक्षों के द्वारा शर्तों के पालन न करने से शीघ्र ही टूट जाता है। दोनों देशों में विवाह की यही स्थिरता और अस्थिरता अपना विशेष महत्व रखती है। इसी स्थिरता के कारण भारतीयों का वैवाहिक जीवन सर्वदा प्रेममय, सुखी और आनन्दमय है और यूरोपीय लोगों का पारिवारिक जीवन दुःख और अशान्ति का कारण बन गया है। सच तो यह है कि भारत में विवाह का जो उच्च आदर्श और उद्देश्य पाया जाता है वह संसार के अन्य देशों में मिलना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव भी है।

३—विवाह का विकास

वेदों में विवाह के विभिन्न प्रकार—प्राचीन काल में विवाह के प्रधानतया जो भेद उपलब्ध होते हैं उनके अध्ययन से यह अनुमान सहज ही में किया जा सकता है कि हिन्दू विवाह का विकास किस प्रकार से हुआ। विवाह के इन विभिन्न प्रकारों तथा भेदों का मूल रूप वेदों में दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद के विवाह सूक्त (१०।८५) में ब्राह्म विवाह का वर्णन मिलता है। यहाँ कन्यादान आदि अनेक विषयों का उल्लेख किया गया है। एक दूसरे सूक्त में आसुर विवाह—जिसमें कन्या के लिये धन देना पड़ता था—का विवरण मिलता है[१]। ऋग्वेद के दशवें मण्डल के एक सूक्त में गान्धर्व विवाह का वर्णन उपलब्ध होता है[२]। ऋग्वेद (६।६१) से सम्बन्धित वृहद्देवता में शावाश्व की जो कथा मिलती है उससे दैव विवाह की सत्ता का अनुमान किया जा सकता है। इस उल्लेख से पता चलता है आत्रेय आर्चनाना—जिन्होंने रथवीती नामक राजा के यज्ञ में पुरोहित का कार्य किया था—ने अपने लड़के के विवाह के लिये राजा की लड़की को माँगा। इस प्रकार ऋग्वेद में ब्राह्म, दैव, आसुर तथा गान्धर्व इन चार प्रकार के विवाहों का उल्लेख पाया जाता है। बहुत सम्भव है कि वैदिक काल में अन्य प्रकार के भी विवाह प्रचलित रहे हों।

---

१. अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत वा घा स्यालात्।
अथा सोमस्य प्रयती युवभ्यामिन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यम्॥
ऋ० वे० १।१०६।२

२. कियती योषा मर्यतो वधूयोः, परिप्रीता पन्यसा वार्येण।
भद्रा वधूर्भवति यत् सुपेशाः, स्वयं सा मित्रं वनुते जनेचित्॥
ऋ० वे० १०।२७।१२

धर्मसूत्रों तथा गृह्य-सूत्रों में विवाह के विभिन्न भेद—प्रायः सभी गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र विवाह के आठ प्रकार के भेदों से अपरिचित जान पड़ते हैं१। केवल आश्वलायन ने ही इन आठों भेदों का उल्लेख किया है। ये आठ भेद इस प्रकार हैं—(१) ब्राह्म, (२) प्राजापत्य, (३) आर्ष, (४) दैव, (५) गान्धर्व, (६) आसुर, (७) राक्षस और (८) पैशाच। कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा महाभारत में भी इनका वर्णन किया गया है परन्तु वैवाहिक भेदों के विभिन्न नामों का उल्लेख नहीं पाया जाता२। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में विवाह के केवल छः प्रकारों का उल्लेख मिलता है। इसमें प्राजापत्य और पैशाच विवाह का वर्णन नहीं है३। वशिष्ठ ने तो स्पष्ट ही लिखा है कि केवल छः प्रकार के ही विवाह होते हैं—(१) ब्राह्म, (२) दैव, (३) आर्ष, (४) गान्धर्व, (५) क्षात्र और (६) मानुष। इनमें अन्तिम दो राक्षस तथा आसुर विवाह के स्थान पर रक्खे गये हैं। ऐसा जान पड़ता है कि पैशाच विवाह अत्यन्त गर्हित और निन्द्य था। इसीलिये आपस्तम्ब तथा वशिष्ठ ने इसका उल्लेख करना उचित नहीं समझा। मानव गृह्यसूत्र में केवल दो ही—ब्राह्म और शुल्क (आसुर)—प्रकार के विवाहों का उल्लेख है। वाराह गृह्यसूत्र में भी यही बात पायी जाती है। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि गृह्यसूत्रों के पूर्व या उनके समय में विवाह के अन्य भेद प्रचलित नहीं थे। सम्भवतः अपने निर्धारित क्षेत्र के बाहर इस विषय को समझ कर ही इन्होंने इसका वर्णन न किया हो। आपस्तम्ब के मत से इन प्रथम चार भेदों का क्रम ब्राह्म, दैव, प्राजापत्य और आर्ष है तथा विष्णु के अनुसार ब्राह्म, दैव, आर्ष एवं प्राजापत्य है।

---

१. आ० गृ० सू० १।६, गौ० गृ० सू० ४।६-१३; बौ० ध० सू० १।११ विष्णु० ध० सू० २४।१८-१९

२. अर्थशास्त्र, प्रकरण ५९; ॥ म० भा० आ० प० १०२।१२-१५

३. आ० ध० सू० २।५।११।१७-२०

Y217-73(92)
15254

स्मृतियों में उल्लेख—प्रायः सभी स्मृतियों में विवाह के आठ प्रकार के भेदों का उल्लेख पाया जाता है। मनु ने बड़े विस्तार के साथ इन आठों प्रकारों का वर्णन किया है। उनके मत से ये भेद है१ :—

(१) ब्राह्म, (२) दैव, (३) आर्ष, (४) प्राजापत्य, (५) आसुर, (६) गान्धर्व, (७) राक्षस और (८) पैशाच। याज्ञवल्क्य ने भी इन्हीं आठो भेदों का उल्लेख अपनी स्मृति में किया है। स्मृतियों ने इन आठ प्रकार के वैवाहिक भेदों को दो भागों में विभक्त किया है—(१) प्रशस्त (स्वीकृत) तथा (२) अप्रशस्त (अस्वीकृत)। इनमें से प्रथम चार अर्थात् (१) ब्राह्म, (२) प्राजापत्य, (३) आर्ष और (४) दैव प्रशस्त हैं तथा अन्तिम चार (५) गान्धर्व, (६) आसुर, (७) राक्षस और (८) पैशाच अप्रशस्त हैं। इनमें से पहिला (ब्राह्म) सबसे श्रेष्ठ है, पाँचवाँ और छठवाँ (गान्धर्व और आसुर) किसी प्रकार समीचीन हैं और अन्तिम दो (राक्षस और पैशाच) सर्वथा निषिद्ध हैं। परन्तु ये आठों प्रकार के विवाह कानून से वैध माने जाते थे।

इन आठ प्रकार के विवाह के भेदों पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने से यह मालूम होता है इनमें जो जितना ही बर्बरतापूर्ण, गर्हित और हेय है वह उतना ही प्राचीन है। अतः धर्मशास्त्रों की दृष्टि से ये अप्रशस्त विवाह भले ही निन्दित हों परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इनका वड़ा महत्व है। ये हिन्दू समाज की उस प्राथमिक दशा को सूचित करते हैं जब समाज में कन्याओं का हरण बल-पूर्वक किया जाता था। उदाहरण के लिए राक्षस विवाह आसुर से प्राचीन है और पैशाच विवाह राक्षस से। इसलिये यहाँ पर विवाह के इसी ऐतिहासिक विकास-क्रम पर ध्यान देते हुये इनका वर्णन अन्त से ही प्रारम्भ करना समीचीन जान पड़ता है।

---

१. ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽसुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ ३।२१

विवाह के विभिन्न भेद :—

(१) पैशाच—अप्रशस्त विवाहों में पैशाच विवाह का स्थान अन्तिम है क्योंकि यह अत्यन्त हेय और निन्दित समझा जाता है। मनु ने लिखा है कि नींद में सोती हुई, मतवाली अथवा संज्ञाहीन कन्या के साथ जब कोई पुरुष छल से एकान्त में उससे उपभोग करता है, उसे पैशाच विवाह कहते हैं। यह अत्यन्त ही निकृष्ट है तथा समस्त विवाहों में सबसे अधिक पापयुक्त है१। आश्वलायन के मत से निद्रालु, प्रमत्त तथा बेहोश अथवा संज्ञाहीन कन्या का हरण पैशाच कहलाता है२। कन्याहरण राक्षस विवाह में भी किया जाता है। परन्तु यह कन्या तथा उसके अविभावकों की जानकारी में ही होता है। परन्तु पैशाच में कन्याहरण उसकी बेहोशी की दशा में किया जाता है। यही दोनों प्रकार के विवाहों में प्रधान अन्तर है। गौतम तथा विष्णु ने इसकी परिभाषा बतलाते हुये लिखा है कि "सोती हुयी, मतवाली, तथा संज्ञाहीन कन्या से संभोग करना ही पैशाच है"। याज्ञवल्क्य के मत से जब कन्या का हरण छल-छद्म से किया जाय उसे पैशाच कहते हैं३। देवल ने भी यही परिभाषा बतलायी है। इसमें सन्देह नहीं कि पैशाच हिन्दू विवाह का अत्यन्त अशिष्ट, असभ्य तथा बर्बरतापूर्ण तरीका था जिसकी निन्दा कोई भी मनुष्य किये बिना नहीं रह सकता।

---

१. सुप्तां, मत्तां, प्रमत्तां, वा; रहो यत्रोपगच्छति।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ३।३॥

२. सुप्तानां प्रमत्तानां वापहरेत् स पैशाचः ॥१।४।३१ आ०

३. पैशाचः कन्यकाछलात्। या० स्मृ० १।६१

पैशाच विवाह को वैध मानने का कारण—कुछ लोग इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि स्मृतिकारों ने पैशाच जैसे निकृष्ट तथा हेय विवाह को शास्त्र से कैसे वैध मान लिया ? सचमुच यह बात कुछ आश्चर्यजनक अवश्य मालूम पड़ती है। परन्तु इस बात को सदा ध्यान में रखना चाहिये कि स्मृतियों में कुछ प्राक् ऐतिहासिक रीति-रिवाजों का भी उल्लेख पाया जाता है। स्मृतियों में पैशाच विवाह को स्वीकार करने का पहिला कारण यह जान पड़ता है कि सम्भव है कि प्राचीन काल से हिन्दू-समाज में यह परम्परा चली आ रही हो। ऐसी दशा में स्मृतियों के द्वारा इसका उल्लेख करना आवश्यक था। दूसरा कारण यह ज्ञात होता है कि स्मृतिकाल में भी कुछ असभ्य जातियों के द्वारा यह प्रथा व्यवहृत होती रही होगी। स्मृतिकार इस निन्दित प्रथा को हिन्दू-समाज से निकाल बाहर करना चाहते थे। इसीलिये उन्होंने कठोर शब्दों में उसकी निन्दा की है। ईसा की प्रथम शताब्दी से ही शास्त्रकारों ने स्त्रियों के द्वारा ब्रह्मचर्य पालन करने के ऊपर अधिक जोर देना शुरू कर दिया था। ऐसी दशा में उन स्त्रियों के साथ—जिनसे कोई व्यभिचार कर बैठता था—कोई अन्य पुरुष विवाह करने के लिए तैयार न होता था। इसीलिये सम्भवतः इन स्त्रियों की दशा को सुधारने के लिये शास्त्रकारों ने यह नियम बना दिया कि किसी स्त्री से व्यभिचार करने वाला पुरुष उससे विवाह भी कर ले। यद्यपि स्मृतियों का यह आदेश कुछ विशेष सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता परन्तु इसके लिये कोई दूसरा रास्ता भी नहीं दिखाई देता था। स्मृतियों ने बड़ी अनिच्छापूर्वक पैशाच विवाह को स्वीकार किया है। सम्भवतः पैशाच विवाह की गर्हणीयता को ध्यान में रखते हुये ही आपस्तम्ब तथा वशिष्ठ ने विवाह के विभिन्न प्रकारों की श्रेणी में इसे स्थान ही नहीं

दिया है। इसका उल्लेख न करने का दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि इनके समय में यह प्रथा शिष्टजनसम्मत न थी तथा शास्त्रकार इसे विवाह का एक प्रकार स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं थे।

मेधातिथि ने लिखा है कि स्मृतिकारों ने राक्षस तथा पैशाच को विवाह का प्रकार अवश्य बतलाया है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने बल या छल से कन्या का हरण कर उससे विवाह करने की प्रथा को वैध माना है। इन स्मृतिकारों का आशय केवल इतना ही है कि स्त्री की प्राप्ति इन साधनों से भी हो सकती है। अतः इन्होंने विवाह का आठ भेद नहीं बतलाया है बल्कि स्त्री को प्राप्त करने के आठ प्रकार के विभिन्न उपायों का वर्णन किया है[1]। इसीलिये वत्स ने लिखा है कि यदि कोई सुन्दरी कन्या उचित उपायों से प्राप्त न हो सके तो छल या चोरी से उसके पास जाकर विवाह कर लेने में कोई आपत्ति नहीं है[2]। वशिष्ठ ने इस चौर्य-विवाह का खण्डन करते हुये लिखा है कि "यदि कोई कन्या बलपूर्वक हरण कर ली गयी हो और वैदिक-मन्त्रों से उसका विवाह न हुआ हो तो दूसरे किसी पुरुष के साथ उसका विवाह हो सकता है क्योंकि वह उतनी ही पवित्र है जितनी कोई कुमारी कन्या[3]"। मनु ने लिखा है कि यदि कोई मनुष्य समान वर्ण की स्त्री से व्यभिचार करता है तो यदि कन्या का पिता चाहे तो उस व्यक्ति को शुल्क देना चाहिये[4]।

---

१. नचेच्छा· संयोगमात्रं विवाहः, स्वीकरणोपायभेदादष्टौ विवाहाः न पुनर्विवाहभेदात्। म० स्मृ० ८।३६६ पर मेधातिथि का भाष्य।

२. सर्वोपायैरसाध्या स्यात्सुकन्या पुरुषस्य वा।
चौर्येणापि विवाहेन सा विवाह्या रहःस्थिता॥
स्मृ० मु० पृ० १४२ में वत्स का वचन

३. बलाच्चेत्प्रहृता कन्या मन्त्रैर्यदि न संस्कृता।
अन्यस्मै विधिवत् देया यथा कन्या तथैव सा॥ १७।७३

४. उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति।
शुल्कं दद्यात् सेवमानः समामिच्छेत् पिता यदि॥ ८।३६६

कहने का आशय यही है कि स्मृतिकारों ने केवल प्राचीन परम्परा होने के कारण ही पैशाच विवाह का उल्लेख किया है परन्तु इसको कटु शब्दों में निन्दा की है।

(२) राक्षस विवाह—दूसरे विवाह का नाम राक्षस है। क्षत्रियों तथा राजाओं में इसका अधिक प्रचार होने के कारण इसे 'क्षात्र' भी कहते हैं। इस विवाह की प्रथा प्रायः सभी वैवाहिक प्रथाओं में अत्यन्त प्राचीन तथा महत्वपूर्ण है। इसकी परम्परा प्राक् ऐतिहासिक काल से चली आ रही है। प्राचीन कालीन सभी सभ्य तथा अर्ध-सभ्य जातियों में यह किसी न किसी रूप में अवश्य ही वर्तमान थी। यह प्रथा उस आदिम युग की याद दिलाती है जब स्त्रियाँ लड़ाई का 'उपहार' (War booty) समझी जाती थी। इसके अनुसार विजेता विजित लोगों की स्त्रियों को बलात्कार के लिए पकड़ कर ले जाते थे और उनसे बलात् विवाह कर लेते थे। मनु ने लिखा है कि चिल्लाती तथा रोती हुयी स्त्री के सम्बन्धियों को जान से मार कर अथवा उन्हें घायल कर, बलपूर्वक उसे पकड़ कर लाने तथा उस स्त्री से विवाह कर लेने को राक्षस विधि कहते हैं[१]। इस विधि के अनुसार वर, कन्या अथवा उसके माता या पिता की सम्मति की प्रतीक्षा नहीं करता था बल्कि उसे जबरदस्ती पकड़कर ले जाता था। मनु ने इस विवाह की जो परिभाषा बतलायी है उस पर विचार करने से युद्ध की पृष्ठभूमि का दृश्य सामने उपस्थित हो जाता है। विष्णु[२] तथा याज्ञवल्क्य[३] ने स्पष्ट ही लिखा है कि युद्ध के कारण राक्षस

---

१. हत्वा, छित्त्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं, रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्यां हरतो राक्षसो विधिरुच्यते ॥
म० स्मृ० ३।३३

२. युद्धहरणेन राक्षसः। वि० स्मृ०

३. राक्षसो युद्धहरणादिति। या० स्मृ० १।६१

विवाह की उत्पत्ति हुई। प्राचीन काल में यह प्रथा—युद्ध प्रिय, वीर जातियों में प्रचलित थी। उस समय युद्ध में जो स्त्रियाँ पकड़ कर बन्दी बना ली जाती थीं उनसे बाद में विवाह कर लिया जाता था। कभी-कभी कन्यायें पतिगृह में होने वाले दुर्व्यवहारों से भयभीत हो कर पति के साथ जाना अस्वीकार कर देती थीं। कभी लड़की का पिता ही अपनी पुत्री की सेवाओं से वञ्चित हो जाने की आशंका से कन्या को पतिगृह में जाने नहीं देता था। कभी कभी पति युद्ध करके स्त्री को ले जाने में अपना सम्मान समझता था। महाभारत में श्रीकृष्ण ने इसी अन्तिम साधन का सहारा लेकर सुभद्रा-हरण करने में अर्जुन के पक्ष का समर्थन किया था तथा बलदेव के क्रोध को शान्त किया था। सुभद्रा अर्जुन से प्रेम करती थी परन्तु उसका विवाह धृतराष्ट्र के किसी लड़के से होने जा रहा था। अतः अर्जुन ने उसको बलात् हरण कर उससे विवाह कर लिया। श्रीकृष्ण कहते हैं कि "अर्जुन को ब्राह्म विवाह पसन्द नहीं था क्योंकि पशुओं की तरह उसमें कन्या दान रूप में दी गयी मानी जाती है। कन्या को धन देकर खरीदना बुरा है। अतः उसकी चर्चा व्यर्थ है। चूँकि सुभद्रा अर्जुन को हृदय से प्रेम करती थी अतः अपने बाहु-बल पर भरोसा करके उसको बलपूर्वक हरण कर लाना ही अर्जुन के लिए केवल एक मात्र सम्मानजनक मार्ग था[१]"। कृष्ण के इस वचन से तत्कालीन क्षत्रियों की वैवाहिक मनोवृत्ति का कुछ पता चलता है। इसीलिये क्षत्रियों में इस विवाह का अधिक प्रचार हुआ। वे लोग युद्ध-क्षेत्र से कन्याओं को पकड़ कर लाना और उनसे विवाह कर लेना अपना धर्म समझते थे।

---

१. प्रदानमपि कन्यायाः पशुवत्कोऽनुमन्यते ।
विक्रयं चाप्यपत्यस्य कः कुर्यात् पुरुषो भुवि ॥
एतान्दोषांस्तु कौन्तेयो दृष्टवानिति मे मतिः ।
क्षत्रियाणां तु वीर्येण प्रशस्तं हरणं बलात् ।
अतः प्रसह्य हृतवान् कन्यां धर्मेण पाण्डवः ॥

महाभारत—१।२४५।५-६

राक्षस विवाह के कुछ उदाहरण—प्राचीन ग्रन्थों में राक्षस विवाह के उदाहरण अवश्य मिलते हैं परन्तु इनकी संख्या अधिक नहीं है। ऋग्वेद से पता चलता है कि विमद ने अपनी स्त्री को, लड़ाई के मैदान में विजय पाने के पश्चात् प्राप्त किया था[१]। महाभारत में लिखा है कि भीष्म ने लड़ाई में काशी के राजा को परास्त कर, उसकी लड़की अम्बा का बलपूर्वक हरण अपने भाई विचित्रवीर्य से विवाह करने के लिए किया था। परन्तु भीष्म के इस कार्य की शिशुपाल ने बड़े कड़े शब्दों में निन्दा की थी[२]। स्वयं श्रीकृष्ण ने भी रुक्मिणी से अपना विवाह इसी राक्षस विधि के अनुसार किया था। इन उदाहरणों से यह पता चलता है कि यद्यपि स्मृतियों में तथा महाभारत में यह प्रथा स्वीकृत अवश्य की गयी थी परन्तु उस समय में ही यह बुरी दृष्टि देखी जाने लगी थी। यह कथन कि सभी क्षत्रियों में यही प्रथा सामान्य रूप से प्रचलित थी, कुछ उचित नहीं जान पड़ता। बहुत सम्भव है कि क्षत्रिय लोग सामान्यतया अपना विवाह अन्य प्रथाओं से करते रहे हों परन्तु आवश्यकता पड़ने पर ही राक्षस विवाह का आश्रय लेते होंगे। इस प्रकार यह प्रथा क्षत्रियों में भी अपवाद रूप में ही प्रचलित रही होगी।

---

१. ऋग्वेद १।११६

२. को हि धर्मिणमात्मानं जानञ्ज्ञानविदां वरः।
कुर्याद्यथा त्वया भीष्म ! कृतं धर्ममवेक्षता ॥
अन्यकामा हि धर्मज्ञा कन्यका प्राज्ञमानिना।
अम्बा नामेति भद्रं ते कथं साऽपहृता त्वया ॥
तां त्वयापहृतां भीष्म ! कन्यां नेपितवान् नृपः।
भ्राता विचित्रवीर्यस्ते सतां धर्ममनुस्मरन् ॥
म० भा० १।६४।२२

इस प्रथा के अवशिष्ट चिह्न—उत्तर प्रदेश की जनता के वैवाहिक रीति-रिवाजों में इस प्रथा के चिह्न आज भी दिखाई पड़ते हैं। आजकल भी भोजपुरी बारातों में हाथी, घोड़ा, ऊँट आदि जानवरों तथा भाला, बर्छा, तलवार और लाठियों से लैस पुरुषों को चलते हुये देखकर चतुरङ्गिणी सेना का दृश्य सामने उपस्थित हो जाता है। विवाह के पश्चात् जब वधू मायके से ससुराल जाती है उस समय 'भोजपुरी प्रदेश' में जो गीत गाये जाते हैं उनमें भी वर की उपमा चोर से दी गयी है तथा उसे अनेक अपशब्दों तथा गालियों से सुशोभित किया गया है[1]। अनेक जातियों में यद्यपि विवाह दोनों पक्षों की सम्मति से ही होता है फिर भी कन्या के भागने या उसे खदेड़ने की प्रथा का अवश्य ही पालन किया जाता है। इस प्रथा को भी राक्षस विवाह की प्रथा का अवशिष्ट चिह्न ही समझना चाहिये। आजकल कुछ जङ्गली तथा अर्ध सभ्य जातियों में विवाह की जो प्रथा वर्तमान है उससे भी यही बात सिद्ध होती है। मध्य प्रदेश के गोंड लोगों में आज भी विवाह के पहिले वर कन्या को दूर तक खदेड़ता है और अन्त में उसको पकड़ लेता है।

इस प्रथा का क्रमिक ह्रास—वैदिक काल में इण्डो-आर्यन लोग सदा लड़ते झगड़ते ही नहीं रहते थे। युद्ध से अवकाश मिलने पर वे शान्तिपूर्वक भी दिन बिताते थे। प्रारम्भिक युग में इस वैवाहिक प्रथा का भले ही आश्रय लिया गया हो परन्तु धीरे धीरे उन लोगों ने प्राचीन होने पर भी अपनी दूषित तथा घृणित प्रथाओं को छोड़ दिया। इस प्रकार उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी कन्या को पकड़ कर उससे विवाह कर लेने की प्रथा का

१. डा० कृष्णदेव उपाध्याय—भोजपुरी लोक-गीत भाग १ (विवाह के गीत)

ह्रास होने लगा। प्रायः ऐसा होता था कि विवाह में माता, पिता की सम्मति न रहने पर भी कन्या की सम्मति अवश्य प्राप्त कर ली जाती थी और ऐसे विवाह पहिले से निश्चित कर लिये जाते थे। महाभारत में रुक्मिणी और सुभद्रा के विवाह का जो उदाहरण मिलता है उसमें भी हरण के पहिले उनकी सम्मति ले ली गयी थी।

धीरे-धीरे आर्य लोग जब अच्छी तरह से विभिन्न स्थानों में बस गये और खेती-बारी करने लगे तब प्रायः यह प्रथा समाज से विलीन हो गयी। भारत में क्षत्रिय वीर जाति थी। अतः केवल इसी जाति में यह प्रथा थोड़ी बहुत प्रचलित रही होगी जिसकी परम्परा राजपूत-काल तक जारी रही। सम्भवतः इस प्रकार के विवाह का अन्तिम ऐतिहासिक उदाहरण पृथ्वीराज तथा संयोगिता का परिणय है जिसमें पृथ्वीराज ने संयोगिता की सम्मति से—परन्तु उसके पिता जयचन्द की इच्छा के प्रतिकूल—उसका अपहरण किया था।

संसार के अन्य देशों में कन्याहरण की प्रथा—यह समझना अत्यन्त भूल होगी कि कन्याहरण की निन्दनीय प्रथा केवल भारत में ही विद्यमान थी तथा केवल यहीं के लोग युद्ध में कन्याओं को बन्दी बनाकर उनसे विवाह कर लेते थे। यदि संसार की वैवाहिक-प्रथाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत हो जायगा कि प्राचीन काल में संसार की प्रायः सभी सभ्य, अर्ध सभ्य, असभ्य तथा जङ्गली जातियों में यह प्रथा विद्यमान थी। समाजशास्त्र के सुप्रसिद्ध पश्चिमी विद्वान् डा० वेस्टरमार्क ने अपने गम्भीर अध्ययन से इस बात को प्रमाणित कर दिया है। उनके कथनानुसार टस्मानिया के लोग अपने शत्रुओं की स्त्रियों को युद्धक्षेत्र से पकड़ लाया करते थे और उनसे विवाह

कर लेते थे१। आस्ट्रेलिया महाद्वीप के अनेक भागों में कन्या-हरण के द्वारा विवाह किया जाता था२। मध्य आस्ट्रेलिया के लोगों के विषय में बिलशायर ने लिखा है कि यदि किसी पुरुष को साधारण रीति से विवाह करने में सफलता नहीं मिलती थी तो अन्त में वह किसी कन्या को जाकर चुरा लाता था३। मेडागास्कर की सकलव नामक जाति के लोग प्रति वर्ष अन्य जातियों की बहुत सी स्त्रियों को चुरा लाते थे और उनसे विवाह कर लेते थे४। काफिर जाति के लोगों में अभी भी ऐसी प्रथा है कि लड़ाई से पकड़ कर लायी गयी कन्या यदि सब लोगों के सामने यह स्वीकार करे कि मैं ग्रहीता (जो पकड़ कर उसे लाया है) की पत्नी बनना चाहती हूँ तो उसका उस ग्रहीता से विवाह कर दिया जाता था जो कानून से वैध माना जाता था५।

कन्या को हरण कर उससे विवाह करने की प्रथा सेमाइट लोगों में भी प्रचलित थी। हिब्रू जाति के सैनिक वर्ग के लोगों को यह आज्ञा दी गयी थी कि युद्ध में प्राप्त स्त्रियों से वे अपना विवाह कर सकते हैं यद्यपि उनमें अन्तर्जातीय विवाह निषिद्ध माना जाता था।

---

1. Millian—Cruise of the Becon P. 29.
2. Hodgson—Reminiscences of Australia P. 243.
3. Willshire—Aborigines of Central Australia P. 13.
4. Mc Mahon—Sakalava and their customs.
5. R. Smith—Kinship and marriage in Early Arabia P. 72.

डायोनिशियस के अनुसार पश्चिमी संसार के सभ्यशिरोमणि ग्रीक लोगों में भी कन्याहरण की प्रथा थी[1]। प्राचीन ट्यूटन लोग भी विवाह करने के लिए लड़कियों को पकड़ कर लाया करते थे[2]। रूस देश के कज्जाक लोग सत्रहवीं शताब्दी तक इस प्रथा का पालन करते थे[3] तथा स्लाव लोगों में १६ वीं सदी तक इस प्रथा का प्रचार था। हाई अल्बेनिया प्रदेश में यह प्रथा आज भी व्यवहार में लायी जाती है[4]।

तिब्बत में जब कोई युवक किसी लड़की से विवाह करना चाहता है तब वह उसकी गतिविधि का निरीक्षण करता रहता है। जब कभी युवक को मौका मिलता है वह अपने दो तीन साथियों के साथ उसके पास जाता है और उस कन्या को जबरदस्ती पकड़ कर ले भागता है। वह उसे अपने घर में ले जाकर बन्द कर देता है तथा बाद में उससे विवाह कर लेता है[5]। मलाया द्वीप पुञ्ज के अनेक भागों में कन्याहरण की प्रथा पायी जाती है[6]। बाली द्वीप में किसी कन्या को लेकर उसकी इच्छा के विरुद्ध भाग जाने की साधारणतया प्रथा है। परन्तु इसके लिए वर के द्वारा उस कन्या के पिता को दण्ड रूप में कुछ धन देना पड़ता है। कन्या की सम्मति से उसे भगाने पर कम तथा उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे ले जाने पर अधिक दण्ड देना होता है[7]।

---

1. डा० वेस्टरमार्क—History of Human marriage Vol. II P. 251
2. वही „ „ P. 252
3. Kovalewsky—Modern customs and ancient Laws of Russia. P. 24.
4. Durham—High Albania and its customs.
5. S. C. Das—Marriage customs of Tibet.
6. Westermark—History of Human marriage Vol. II P. 245.
7. वही— „ „ Vol. II, P. 242.

प्राचीन काल में ट्यूटानिक, स्लेभानिक, रोमान्स, तथा यूरोप की अन्य जातियों में कन्या के विवाह-सम्बन्धी जलूस (बारात) को रास्ते में रोक देने की प्रथा थी१। कुछ विद्वानों का मत है कि यह प्रथा कन्याहरण की प्रथा का स्मारक अवशिष्ट चिह्न है। ग्रीनलैण्ड के पूर्वी किनारे पर आज भी विवाह करने की एक मात्र प्रथा यह है कि पुरुष किसी कन्या की झोपड़ी में जाता है। उसके बालों को जोरों से पकड़ कर उसे घसीटते हुये अपने घर लाता है एवं उससे विवाह कर लेता है२। फीजी द्वीप में वर सगाई के लिए कन्या को कुछ वस्तुएँ उपहार में भेंट करता था तथा उसे घायल कर ले भागता था और उससे विवाह कर लेता था३। इसी प्रकार से संसार के अन्य भागों में भी कन्याहरण की प्रथा विद्यमान थी। यहाँ अनेक उदाहरणों को देने का आशय केवल इतना ही है कि राक्षस विवाह की प्रथा केवल भारतवर्ष में ही विद्यमान नहीं थी बल्कि संसार का कोई भी सभ्य या असभ्य देश ऐसा नहीं था जहाँ इसका प्रचार न हो४। सच बात तो यह है कि इतिहास के प्रारम्भिक युग में प्राचीन जातियों में इस प्रथा का सर्वत्र प्रचार था।

---

1. Dr. Winternitz—On a comparatie study of Indo-European customs with special reference to marriage customs.
2. Dr. Nansen—First crossing of Greenland Vol. II, P. 316
3. Tomsan—The Fijians. P. 203
4. इस विषय के प्रामाणिक तथा विस्तृत विवेचन के लिए देखिए :— Westermark—History of Human marriage Vol II, Pages 240-277

(३) गान्धर्व विवाह—विवाह के आठ भेदों में गान्धर्व सबसे अधिक लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध है। विवाह में प्रेम को ही प्रधानता रहती है और यह वर-वधू के प्रेम का अवलम्बन कर प्रादुर्भूत होता है। अतः गान्धर्व विवाह को जन-प्रिय होना स्वाभाविक ही है। आजकल पाश्चात्य देशों में जो विवाह होते हैं उनमें शत प्रतिशत विवाह गान्धर्व रीति से ही किये जाते हैं। आश्वलायन ने लिखा है कि गान्धर्व विवाह उसे कहते हैं जिसमें वर और वधू किसी निश्चित शर्त के अनुसार एकान्त में एक दूसरे के पास जाते हैं१। गौतम और हारीत के अनुसार गान्धर्व विवाह वह है जिसमें कन्या स्वयं वर का वरण करती है। मनु ने इसकी परिभाषा बतलाते हुए लिखा है कि "जब वर और कन्या अपनी इच्छा से आपस में मिलते हैं और काम से उत्पन्न मैथुन कर्म को (विवाह के पहिले) करते हैं उसे गान्धर्व कहते हैं२"। याज्ञवल्क्य ने भी मनु के इस मत का समर्थन किया है३। इस प्रकार यह स्पष्ट प्रतीत होता है इस विवाह में वर तथा वधू की इच्छा ही प्रधान रहती थी जो कामवासना से प्रेरित होकर आपस में इसे निश्चित कर लेते थे। इस विवाह में माता तथा पिता का कुछ भी हाथ नहीं होता था। जहाँ राक्षस और पैशाच विवाह में बलपूर्वक कन्या का हरण किया जाता था वहाँ गान्धर्व में वह अपनी इच्छा से पति को वरण कर उससे विवाह करती थी।

---

१. मिथः समयं कृत्वोपयच्छेत् स गान्धर्वः। १।४।२९

२. इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।

गान्धर्वस्स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः॥ ३।३२

३. गान्धर्वः समयान्मिथः।१।६१

नामकरण तथा प्राचीनता—अत्यन्त प्राचीन काल से गन्धर्व जाति—जो हिमालय के उत्तरीय प्रदेश में रहती थी—अपनी प्रेम-प्रवृत्ति के लिए प्रसिद्ध है। उनमें इस प्रकार के विवाह की प्रथा वर्तमान थी। इसीलिये गन्धर्व लोगों में प्रचलित होने के कारण इसका नाम गान्धर्व पड़ गया। गान्धर्व विवाह की प्रथा सम्भवतः उतनी ही प्राचीन है जितनी राक्षस और पैशाच विवाह की प्रथा। क्योंकि यह प्रथा अन्य वैवाहिक-प्रथाओं में अधिक स्वाभाविक और हृदय को 'अपील' करने वाली है। मनुष्यों के हृदय में प्रेम की मात्रा थोड़े या अधिक परिमाण में सदा से वर्तमान रही है। अतः इतिहास के प्रारम्भिक युग में भी स्त्री तथा पुरुषों का, युवावस्था प्राप्त होने पर, एक दूसरे को देखकर आकर्षित होना स्वाभाविक ही रहा होगा। ऐसी दशा में उस समय भी ऐसे विवाह होते हों तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ऋग्वेद में लिखा है कि '-वही वधू भद्र है जो सुसज्जित होकर जन समुदाय के बीच में भी स्वयं अपने पति का वरण करती है[१]"। अथर्ववेद से पता चलता है कि कन्या के माता और पिता उसे अपना पति स्वेच्छा से चुनने के लिये स्वतन्त्र छोड़ देते थे[२]। माता इस बात की प्रतीक्षा करती थी कि कब उसकी लड़की बड़ी होगी और अपने लिए वर चुनेगी। यह एक साधारण घटना समझी जाती थी और इसमें किसी प्रकार की निन्दा या अप्रतिष्ठा का प्रश्न ही नहीं उठता था[३]। अथर्ववेद में इस प्रथा का अनेक बार उल्लेख पाया जाता है। एक स्थान पर गान्धर्व पतियों का वर्णन भी उपलब्ध होता है[४]।

---

१. कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण।
भद्रा वधूर्भवति यत् सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जनेचित्॥
ऋ० वे० १०।१७।१२

२. आ नो अग्ने सुमतिं संभलो गमेदिमां कुमारीं सह नो भगेन।
जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुरोषं पत्या सौभगमस्त्वस्यै॥
अ० वे० २।३६

३. ऋ० वे० ६।६०

४. जाया इद् वो अप्सरस्ते गन्धर्वाः पतयोमयम्। ४।३७।१२

गान्धर्व विवाह का औचित्य—गान्धर्व-विवाह के औचित्य के सम्बन्ध में शास्त्रकारों में बड़ा मतभेद है। इस विवाह में माता, पिता की आज्ञा के बिना ही कन्या अपनी इच्छा से पति को चुन लेती थी, सम्भवतः इसीलिए कुछ आचार्यों ने इसको अनुचित माना है। परन्तु प्रेम की स्वाभाविक तथा दृढ़ भित्ति पर अवलम्बित होने के कारण अनेक धर्मशास्त्रकारों ने इसकी मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। बौधायन ने लिखा है कि कुछ लोग पारस्परिक आकर्षण तथा प्रेम से उत्पन्न होने के कारण इस विवाह की प्रशंसा करते हैं[१]। वात्स्यायन ने बड़े सुन्दर शब्दों में गान्धर्व की प्रशंसा करते हुये लिखा है कि "चूंकि विवाह का फल प्रेम है और वह गान्धर्व में अत्यधिक मात्रा में पाया जाता है। अतः वह पूजित है। यह विवाह सुखपूर्वक होता है, इसमें कोई कष्ट नहीं होता, जैसा कि राक्षस तथा पैशाच में कन्या को पकड़ कर उसे लाने के लिए अत्यन्त परिश्रम करना पड़ता है। कन्या के द्वारा पति को वरण करने में कोई झंझट भी नहीं करना पड़ता। इसकी आत्मा अनुराग है अर्थात् यह प्रेम पर आश्रित है। अतः गान्धर्व ही सब विवाहों में श्रेष्ठ है[२]"। कण्व ने महाभारत में आपस में विवाह की कामना करने वाले स्त्री-पुरुष के विवाह को श्रेष्ठ बतलाया है[३] तथा ऐसे विवाह का अनुमोदन

१. गान्धर्वमित्येके प्रशंसन्ति सर्वेषां स्नेहानुगतत्वात्।

बौ० ध० सू० १।११।१३।७

२. व्यूढ़ानां हि विवाहानामनुरागः फलं यतः।

मध्यमोऽपि हि सद्योगो गान्धर्वस्तेन पूजितः॥

सुखत्वादबहुक्लेशादपि चावरणादिह।

अनुरागात्मकत्वाच्च गान्धर्वः प्रवरो मतः॥

कामसूत्र ३।५।२९-३०

३. सकामायाः सकामेन निर्मन्त्रः श्रेष्ठ उच्यते।

म० भा० ६।९४।६०

किया है। महाभारत में भीष्म ने गान्धर्व विवाह को 'धर्म्य' विवाह बतलाया है तथा इसे करने की सहर्ष आज्ञा दी है[१]। मनु ने भी गान्धर्व को धर्मानुकूल माना है[२]। परन्तु कुछ आचार्यों ने इसी आधार पर इसको अनुचित बतलाया है जिस आधार पर वात्स्यायन ने इसे सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया है। इन आचार्यों का कथन है कि चूंकि गान्धर्व विवाह काम वासना से प्रेरित होकर किया जाता है अतः यह उचित नहीं है[३]। मनु के द्वारा कथित प्रथम पाँच विवाहों में यह विवाह निकृष्ट समझा जाता है क्योंकि यह सौन्दर्य तथा संभोग की वासना से उत्पन्न होता है एवं वैवाहिक विधियों के बिना किये ही निष्पन्न समझा जाता है। इस प्रकार के विवाह की स्थायिता में आचार्यों को सन्देह था क्योंकि काम से उत्पन्न स्नेह-बन्धन की दृढ़ता संशयास्पद होती है। सबसे अधिक आपत्तिजनक बात इस विवाह में यह थी कि इसमें वैवाहिक संस्कारों का नितान्त अभाव था। यद्यपि महाभारत में शकुन्तला का विवाह संस्कारों के साथ होने का वर्णन पाया जाता है[४] परन्तु विचार करने पर यह अंश प्रक्षिप्त जान पड़ता है। क्योंकि कण्व ने स्वयं गान्धर्व विवाह की प्रशंसा करते हुए भी इसे 'मन्त्रहीन' अर्थात् वैदिक मन्त्रों के बिना ही निष्पन्न बतलाया है।

---

१. ब्राह्मः क्षात्रोऽथ गान्धर्वः एते धर्म्याः नरर्षभ।
पृथग्वा यदि वा मिश्राः कर्तव्याः नात्र संशयः॥ १३।४४।१०

२. पञ्चानां तु त्रयो धर्म्याः द्वावधर्म्यौ स्मृताविह।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन॥ म० स्मृ० ३।२५

३. गान्धर्वस्तु क्रियाहीनः रागादेव प्रवर्तते।
वी० मि० भाग२ पृ० ८५७ में उद्धृत।

४. शासनात् विप्रमुख्यस्य कृतकौतुकमंगलः।
जग्राह विधिवत् पाणिमुवास च तया सह॥ १।९४।३८

इस विवाह के कुछ उदाहरण—गान्धर्व विवाह को प्रथा वेदों में पायी जाती है जिसका उल्लेख पहिले किया जा चुका है। परन्तु इसका सबसे प्रसिद्ध तथा ज्वलन्त उदाहरण दुष्यन्त और शकुन्तला का विवाह है जो महर्षि कण्व की अनुपस्थिति में ही उनके आश्रम में निष्पन्न हुआ था। दुष्यन्त ने कण्व के पवित्र आश्रम में लोकोत्तर सुन्दरी शकुन्तला का प्रथम दर्शन किया और वह उसकी रूप माधुरी पर मोहित हो गया। उसने शकुन्तला से अपने हृदय का सन्देश कह सुनाया और वह भी इसके लिए तैयार हो गयी। अभिज्ञान शाकुन्तलम् के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय के पूर्व भी ऐसे विवाह होते थे१। महाभारत में शान्तनु का किसी मल्लाह की सुन्दरी पुत्री (सत्यवती) को देखकर मोहित होने तथा अन्त में उससे विवाह करने का वर्णन मिलता है। रत्नावली नाटिका में भी इसका उल्लेख पाया जाता है। 'स्वप्नवासवदत्ता' में पद्मावती तथा राजा उदयन् का विवाह भी इसी प्रकार से हुआ था। भव-भूति के 'मालती-माधव' को भला कौन नहीं जानता? इन दोनों—मालती और माधव—के विवाह का प्रधान हेतु पारस्परिक प्रेम ही था। इसी प्रकार से संस्कृत ग्रन्थों से इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

इस प्रथा का ह्रास—ऐसा जान पड़ता है कि सूत्रों के समय से ही इस प्रथा का प्रचलन कम होने लगा था। गृह्यसूत्रों में 'दत्ता' या 'प्रत्ता' कन्या का पाणिग्रहण करने के लिए पति को आदेश दिया गया है२। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय कन्या दान के रूप में पिता के द्वारा दी जाने लगी थी।

---

१. गान्धर्वेण विवाहेन बह्व्यो राजर्षिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चानुमोदिताः॥
शाकुन्तल, अङ्क ३।२०

२. पा० गृ० सू० १।४।१६

धीरे धीरे पिता का अधिकार अपने पुत्रों तथा पुत्रियों पर समधिक मात्रा में होने लगा तथा लड़की गृह की बहुमूल्य सामग्री समझी जाने लगी। उस समय पिता की आज्ञा के बिना लड़की का विवाह निषिद्ध हो गया। वर तथा वधू को अपना जीवन-संगी खोजने की अब स्वतन्त्रता न थी जो उन्हें पहिले प्राप्त थी। फिर भी जब तक हिन्दू-समाज में रजोदर्शन के पश्चात् युवावस्था में लड़की के विवाह की प्रथा जारी थी तब तक गान्धर्व विवाह होते रहे। केवल इतना परिवर्तन अवश्य हो गया कि ये विवाह वैदिक मन्त्रों के द्वारा विधिवत् किये जाने लगे१। समाज ऐसे 'मन्त्रहीन' विवाहों को अब स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं था। अभिज्ञान शाकुन्तल से पता चलता है कि कालिदास भी ऐसे विवाह को उचित नहीं समझते थे२। दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला के विस्मरण का चित्र इस महाकवि ने दिखलाकर गान्धर्व की अस्थिरता की ओर संकेत किया है।

समाज में जब से बाल विवाह की प्रथा चल पड़ी तब से गान्धर्व विवाह की प्रथा का पूर्णतया ह्रास हो गया। छोटे छोटे बच्चों तथा बच्चियों को यह भी ज्ञात नहीं होता था कि विवाह क्या वस्तु है। पारस्परिक आकर्षण से प्रेम के उत्पन्न होने की कथा तो दूर रही, इन्हें विवाह के विषय में हस्तक्षेप करने को न तो योग्यता ही थी और न अधिकार ही। इस प्रकार इस प्रथा का क्रमिक ह्रास होता गया।

---

१. गान्धर्वेषु विवाहेषु पुनर्वैवाहिको विधिः।
कर्तव्यश्च त्रिभिर्वर्णैः समयेनाग्निसाक्षिकः॥

म० स्मृ० ८।२२६ पर कुल्लूक द्वारा देवल का उद्धरण

२. अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरी भवति सौहृदम्। शकुन्तला ५।२४

स्वयम्बर की प्रथा—प्राचीन भारत में स्वयम्बर की प्रथा वर्तमान थी जिसके अनुसार कन्यायें अपने पति का वरण स्वयं किया करती थीं। चूँकि इस प्रथा के अनुसार भी स्त्री-पुरुष का विवाह उनकी ही इच्छा से होता था अतः इसे भी गान्धर्व-विवाह का ही दूसरा रूप समझना चाहिए। मित्र मिश्र ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि गान्धर्व विवाह में माता-पिता की अपेक्षा न करके वर-वधू का परस्पर सम्बन्ध होता है। स्वयम्वर में भी इसी परम्परा का पालन किया जाता है। अतः इसको भी गान्धर्व विवाह ही समझना चाहिए१। स्वयम्बर दो प्रकार का होता था पहिला साधारण और दूसरा विशिष्ट। जब कन्या ऋतुमती हो जाती थी और उसका पिता उसके लिए उपयुक्त वर प्राप्त नहीं कर पाता था तब वह कन्या अपनी इच्छा से अपना पति खोज लेती थी। इसे साधारण स्वयम्बर कहते थे। मनु ने ऐसी कन्या के लिए स्वयम्बर करने का आदेश दिया है परन्तु साथ ही यह भी लिखा है कि तीन वर्षों तक प्रतीक्षा करने के बाद ही उसे पति वरण करना चाहिए२। याज्ञवल्क्य का मत है कि यदि कन्या के माता, पिता अथवा अन्य कोई अभिभावक न हो तो वह स्वयं अपना पति चुन सकती है३। इस प्रकार जो कन्या अपने पति का वरण करती है उसे चाहिये कि अपने पिता अथवा भाई के द्वारा दिये गये सब अलङ्कारों को उन्हें लौटा दे तथा उसके पति को चाहिये कि वह कन्या के पिता को कुछ

---

१. त्वं मे पतिस्त्वं मे भार्येत्येवं कन्यावरयोः परस्परं नियमबन्धात् पित्रादिकर्तृकदाननिरपेक्षाद्यो विवाहः स गान्धर्व इत्यर्थः। ·········एवं च स्वयंवरोऽपि गान्धर्व विवाह एव।

या० स्मृ० १।६१ पर वीरमित्रोदय।

२. त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।

उर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत् सदृशं पतिम्॥

म० स्मृ० ९।९०

३. गम्यंत्वाभावे दातृणां कन्या कुर्यात् स्वयम्बरम्॥ या० स्मृ० १।६४

भी शुल्क न दे। क्योंकि जो पिता अपनी कन्या का विवाह उचित समय पर नहीं कर सकता वह शुल्क के अधिकार को खो बैठता है१। यह साधारण स्वयम्वर सभी जाति की कन्याओं के लिये विहित था। सावित्री नें भी इसी प्रकार का स्वयम्वर किया था जब वह रथ में बैठकर अपने पति को खोजने के लिए निकली थी।

दूसरा स्वयम्बर विशिष्ट प्रकार का होता था जो बड़ी ही शान, शौकत के साथ किया जाता था। इस स्वयम्बर में दूर-दूर देशों के राजा बुलाये जाते थे। वे बड़े ठाट-बाट के साथ सज, धज कर आते और स्वयम्वर की निश्चित तिथि को कन्या के पिता के दरबार में आकर अपने आसन पर बैठ जाते थे। तब राजा की पुत्री—जिसके लिये यह स्वयम्बर रचा जाता था—अपनी दासी के साथ, हाथ में जयमाल लिये हुए सभा-भवन में आती थी। दासी प्रत्येक राजा का गुण तथा यश का वर्णन करती जाती थी। कन्या को जो सबसे सुन्दर तथा योग्य वर मालूम होता था उसीके गले में वह जयमाल डाल देती थी और उन दोनों का विवाह हो जाता था। रामायण तथा महाभारत में ऐसे ही स्वयम्बरों का वर्णन मिलता है। इसमें वैभव और ठाट-बाट अधिक होता था। महाकवि श्रीहर्ष ने नैषधीय चरित में दमयन्ती का तथा कालिदास ने रघुवंश में इन्दुमती के स्वयम्बर का बड़ा रोचक, सुन्दर तथा सजीव वर्णन किया है। परन्तु ऐसे स्वयम्बर क्षत्रियों—विशेषकर राजाओं—में ही हुआ करते थे। ब्राह्मण कन्याओं को स्वयम्वर का अधिकार नहीं था२। महाभारत

---

४. अलङ्कारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयम्वरा।
मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदि तं हरेत्॥
पित्रे न दद्यात् शुल्कं तु, कन्यामृतुमतीं हरन्।
स हि स्वाम्यादतिक्रामेदृतूनां प्रतिरोधनात्॥ मनु० ९।९२-३

२. न च विप्रेष्वधीकारो विद्यते वरणं प्रति।
स्वयम्बरः क्षत्रियाणामितीयं प्रथिता श्रुतिः॥ १।१८९।७

में लिखा है कि क्षत्रिय लोग स्वयम्बर की प्रशंसा करते हैं परन्तु कन्याहरण को अधिक पसन्द करते हैं१। बाण ने भी कादम्बरी में स्वयम्वर को प्रथा का उल्लेख किया है तथा इसे धर्मशास्त्र से सम्मत बतलाया है२।

ऊपर जिन स्वयम्वरों का उल्लेख किया गया है उनमें इन्दुमती और दमयन्ती का विवाह उनकी इच्छा से वरण किये गये पतियों से हुआ था। परन्तु महाभारत में वर्णित द्रौपदी का तथा रामायण में उल्लिखित सीता का स्वयम्बर उनकी स्वेच्छा के अनुसार नहीं था। वे अपनी इच्छा से पति को वरण करने में स्वतन्त्र नहीं थीं बल्कि एक निश्चित शर्त को पूरा करने वाले व्यक्ति के ही साथ उनका विवाह हुआ। गाधर्व विवाह और स्वयम्बर में इतना ही अन्तर है कि पहिले में वर तथा वधू अपनी इच्छा में स्वतन्त्र रहते थे परन्तु दूसरे अर्थात् स्वयम्बर में उनकी इच्छा कभी कभी किसी शर्त अथवा प्रतिज्ञा के कारण सीमित कर दी जाती थी और प्रतिज्ञा विशेष को पूरा करने वाले व्यक्ति के साथ ही उनका वैवाहिक संबंध हो सकता था अन्य के साथ नहीं।

ऐतिहासिक उदाहरण—स्वयम्बर की प्रथा राजाओं में चिरकाल से प्रचलित रही है। परन्तु भारतीय इतिहास में इसका उल्लेख बहुत कम मिलता है। विल्हण ने अपने महाकाव्य 'विक्रमांकदेव चरित' में कर्हाट (आधुनिक कराड़) के सिलाहार राजा की कन्या चन्द्रलेखा या चन्दलदेवी के स्वयम्बर का वर्णन किया है। इस देवी ने कल्याण के चालुक्य राजा विक्रमांक (११ शताब्दी का उत्तरार्ध) को अपना पति चुना था। संभवत:

---

१. स्वयम्वरं तु राजन्याः प्रशंसन्ति उपयान्ति च।

प्रमथ्य तु हृतामाहुर्ज्यायसीं धर्मवादिनः॥

म० भा०, आदिपर्व १०२।१६

२. कादम्बरी पूर्वार्द्ध।

भारतीय इतिहास में अन्तिम स्वयम्वर कन्नौज के राजा जयचन्द्र ने अपनी कन्या संयोगिता के विवाह के लिये किया था जिसने पृथ्वीराज की प्रतिनिधि स्वरूप सुवर्ण की मूर्ति में जयमाल पहिना कर उनको अपना पति वरण किया । पृथ्वीराज तथा संयोगिता का विवाह गान्धर्व तथा स्वयम्वर दोनों प्रकार' की वैवाहिक विधियों का उदाहरण माना जा सकता है ।

संसार के अन्य देशों में गान्धर्व विवाह की प्रथा—मनुष्य के हृदय में उत्पन्न होने वाली काम वासना सब देशों में समान रूप से पायी जाती हैं । संसार की कोई भी ऐसी जाति नहीं जिसमें इस वासना की भावना न हो । विभिन्न वैवाहिक प्रथाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि संसार की विभिन्न जातियों में वर तथा वधू अपनी स्वतन्त्र इच्छा से विवाह संबंध किया करते थे ।

मेकोसिस नामक जाति के लड़के और लड़कियाँ अपना साथी स्वयं चुन लेती थीं । ओपेस लोगों में कन्या अपना पति चुनने में सर्वथा स्वतन्त्र होती थी और जब उसे पति की स्वीकृति मिल जाती थी तब उनका विवाह पक्का समझा जाता था । करया जाति में प्रेमी विवाह के निमित्त कन्या के माता-पिता से प्रार्थना करता था परन्तु किसी पुरुष से विवाह करने का पूर्ण अधिकार कन्या को ही प्राप्त था[1] । उत्तरी-पश्चिमी अमेजन प्रदेश के विटोटो और बोरो नामक जातियों के विषय में ह्विफेन ने लिखा है कि प्रत्येक विवाह में दोनों दलों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त रहती थी[2] । मेक्सिको देश के लोगों में स्त्रियों को विवाह करने की पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त थी[3] । ऐनू जाति के वर-वधू स्वयं बिना वरण किये हुये आपस में विवाह नहीं करते थे[4] ।

---

1. Dr. Westermark—History Vol. II, P. 288.
2. Whiffen—North-west Amazons P. 164.
3. Lumholtz—Unknown Maxico, P. 266.
4. Westermark—History P. 292.

मलाया प्रायद्वीप में विवाह के विषय में कन्या की सम्मति अत्यन्त आवश्यक समझी जाती है। नाकर ने लिखा है कि मंत्र नामक जातियों में वर तथा वधू की सम्मति से ही विवाह हो सकता है और पति, पत्नी का एक साथ रहकर मैथुनकर्म में प्रवृत्त होना ही विवाह की निष्पत्ति समझी जाती है[1]। विल्केन के अनुसार मलाया द्वीप पुञ्ज में दोनों दलों—स्त्री और पुरुष—की सम्मति से ही विवाह होता है। सुमात्रा की सकई जाति का कोई पुरुष यदि किसी स्त्री को चाहता है तो वह उसकी माता के पास अपना निवेदन करता है। माता अपनी कन्या की सम्मति से ही कोई विवाह-सम्बन्ध कर सकती है[2]। फिलिपाइन की निग्रोप्स नामक जाति में जब कोई युवा पुरुष किसी स्त्री से विवाह करने का निश्चय करता है तब उसके मित्र को इस बात की सूचना दी जाती है। विवाह के लिए कोई दिन निश्चत किया जाता है। उस दिन कन्या जंगल में भेज दी जाती है। वह उसको खोजने के लिए जंगल में जाता है और उसे वहाँ से ले आकर विवाह कर लेता है[3]। मेडागास्कर टापू में कुछ ऐसी जातियाँ निवास करती हैं जिनमें दोनों दलों को विवाह करने की पूर्ण स्वाधीनता है। बुशमन जाति में विवाह पारस्परिक प्रेम के कारण ही होता है[4]। मेककाल थील ने इस जाति के विषय में लिखा है कि दोनों

---

1. Knocker—Aborigines of Sungei Ujong.
2. Westermark—History—Vol. I, P. 296.
3. Girondiere—Tuenty years in the Philipines P. 271.
4. Stow—Native races of South Africa P. 96.

दलों की केवल सम्मति ही विवाह के लिए आवश्यक होती है१ । पूर्वी अफ्रिका की अनेक जातियों में यह प्रथा प्रचलित है । इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि भारतवर्ष के अतिरिक्त संसार के अन्य देशों में भी गान्धर्व-विवाह की प्रथा विद्यमान थी और आज भी है२ ।

(४) आसुर के विवाह—आसुर विवाह गान्धर्व विवाह से उत्कृष्टतर समझा जाता है । आश्वलायन के मत से कन्या के पिता को धन से संतुष्ट करके उससे विवाह करने को आसुर विवाह कहते हैं३ । मनु के मत से आसुर विवाह वह है जिसमें पति कन्या के पिता अथवा उसके संबंधियों को तथा कन्या को भी शक्ति के अनुसार धन देकर उसकी इच्छा से विवाह करता है४ । याज्ञवल्क्य ने भी इस विवाह में धन देकर कन्या को प्राप्त करने का उल्लेख किया है५ । गौतम का भी यही मत है६ । आसुर विवाह में प्रधानतया धन का ही विचार किया हैं । अतः यह एक प्रकार से कन्या-विक्रय ही समझना चाहिये । परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह राक्षस तथा पैशाच विवाह से बहुत ही उत्कृष्ट है । क्योंकि इन दोनों विवाहों में छल, छद्म तथा बल

---

१. Theal—Yellow and Dark skinned people of South Africa P. 47.

२. इस विषय के विशेष विस्तृत तथा प्रामाणिक विवेचन के लिए देखिए—Westermark—Histosy—Vol. II P. 278-353.

३. धनेनोपतोष्योपयच्छेत् स आसुरः । १।४।३०

४. ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्या—प्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥ ३।३१

५. आसुरो द्रविणादानात् । या० स्मृ० १।६१

६. 'वित्तेनानतिः स्त्रीमतामासुरः' इति गौतमः ।
आ० १।४।३० की टीका में उद्धृत

का प्रयोग कर कन्या की इच्छा के विरुद्ध उससे विवाह किया जाता था। पितृमूलक कुलों (Patriarchal Family) में बच्चे पिता की सम्पत्ति समझे जाते थे। अतः विवाह में कन्या को देते समय इसकी क्षति-पूर्ति के लिये वर से कुछ धन लेना स्वाभाविक ही था। संभवतः इसी विचार से प्रेरित होकर प्राचीन काल में कन्या-शुल्क लिया जाता था। दूसरा कारण यह भी था कि यदि कोई कन्या किसी व्यक्ति को बिना किसी मूल्य के ही दे दी जाती थी तो यह अपमानजनक समझा जाता था। इसका यह अर्थ लगाया जाता था कि कन्या का महत्त्व कुछ भी नहीं है और समाज में उसके परिवार का स्थान अत्यन्त निम्न है। इस कारण से भी कन्या के लिए शुल्क रूप में कुछ धन लेना आवश्यक था। जिस प्रकार आजकल लोग तिलक दहेज लिये बिना विवाह करना अपमान समझते हैं तथा अधिक रुपया लेना सामाजिक प्रतिष्ठा का मापदण्ड मानते हैं, उसी प्रकार से प्राचीन काल में कन्या-शुल्क लेना प्रतिष्ठा का द्योतक समझा जाता था। प्रारम्भ में कन्या-शुल्क कन्या के पिता को ही दिया जाता था परन्तु कालान्तर में इसका कुछ भाग कन्या को भी विवाह के उपहार के रूप में दिया जाने लगा था। कन्या-शुल्क सिक्कों में अथवा किसी सामग्री के रूप में भी दिया जाता था। कुछ असभ्य जातियों में यह प्रथा प्रचलित थी कि वर कन्या-शुल्क देने के बदले में अपने ससुर के घर कुछ वर्षों तक उसकी सेवा करता था। परन्तु धर्म-शास्त्रों में इस प्रथा का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता।

<u>नामकरण का कारण</u>—प्राचीन असीरियन लोगों में धन देकर कन्या को खरीदने की प्रथा का प्रचुर प्रचार था। बहुत सम्भव है कि यह प्रथा उन्हीं लोगों के यहाँ से इस देश में आयी हो। असीरियन लोगों में प्रचलित होने से ही इस प्रथा का नाम 'आसुर' पड़ गया तथा 'आसुर' विवाह उस विवाह को कहने लगे जिसमें कन्या धन देकर खरीदी जाती थी।

आसुर विवाह, राक्षस विवाह से कहीं अधिक अच्छा तथा शिष्ट समझा जाता था क्योंकि समाज इस बात को स्वीकार करता था कि स्त्री का भी कुछ मूल्य है। इससे स्त्रियों की दशा में सुधार हुआ। साधारणतया पुरुष स्त्रियों को छोटी छोटी बातों के लिये कष्ट देने तथा उसके साथ बुरा व्यवहार करने का साहस नहीं कर सकता था। कभी कभी स्त्री को प्राप्त करने में बहुत सा धन खर्च करना पड़ता था अतएव उसके साथ बुरी तरह से पेश आना खतरे से खाली नहीं था। इन्हीं कारणों से यह विवाह अन्तिम दोनों विवाहों से श्रेष्ठ समझा जाता था।

वेदों में इस प्रथा का उल्लेख—ऋग्वेद से पता चला चलता है कि उस प्राचीन समय में भी कन्या-विक्रय की प्रथा विद्यमान थी तथा वे बहुत अधिक मूल्य लेकर बेची जाती थीं[१]। कभी कभी कन्यायें, लालचवश, धनी-पुरुषों को वरण करती थीं यद्यपि वे अनेक दृष्टियों से अयोग्य होते थे[२]। वेद की एक ऋचा में एक ऋषि ने विजामातृ की तरह उदारचेता होने की अश्विन से प्रार्थना की है[३]। यास्क ने विजामातृ का अर्थ क्रीता-पति अर्थात् खरीदी गयी कन्या का पति किया है। मैत्रायणी संहिता में क्रीता स्त्री की निन्दा की गयी है[४]।

बौद्ध ग्रन्थों में भी इस प्रथा का उल्लेख मिलता है। थेरीगाथा में लिखा है इसीदसी नामक बौद्धधर्मभिक्षुणी के पिता ने उसके विवाह के लिये कन्या-शुल्क लिया था। धम्मपद में भी इसका वर्णन पाया जाता है। इस प्रकार वेद तथा बौद्ध ग्रन्थ कन्या-विक्रय की प्रथा से अपरिचित नहीं थे।

---

१. ऋ० वे० १।१०९।२

२. ऋ० वे० १०।२७।१२

३. अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत वा घा स्यालात्।

ऋ० वे० १।१०९।२

४. अनृतं वा एषा करोति या पत्युः क्रीता सती अन्यैः संचरति।
मै० सं० १।१०।११

आसुर विवाह के कुछ उदाहरण—रामायण तथा महाभारत के अध्ययन से पता चलता है कि उस काल में भी कन्या-शुल्क लेने की प्रथा थी। रामायण में कैकेयी के विवाह के समय कन्या-शुल्क लेने का वर्णन मिलता है। महाभारत में लिखा है कि गान्धारी और माद्री के विवाह के लिये पाण्डु की ओर से भीष्म ने मद्रराज को प्रचुर धन दिया था१। परन्तु यह प्रथा निन्दित समझी जाती थी। भीष्म जब माद्री के विवाह के लिए गये तब शल्य ने बड़े संकोच के साथ उनसे कहा कि यदि आप पाण्डु से विवाह करने के लिये मेरी बहन को लेना चाहते हैं तो आपको कन्या शुल्क अवश्य देना पड़ेगा। उन्होंने इसका समर्थन करते हुए पुनः कहा कि 'यह हमारे कुल की परम्परा है। यह भली हो या बुरी हो, हमें इसका पालन करना ही पड़ेगा। आप तो स्वयं इसे जानते हैं फिर आप मुझसे यह क्यों कहलवाना चाहते हैं२'। इस पर भीष्म ने उत्तर दिया कि "इस धर्म का वर्णन स्वयं

---

१. रत्नानि च विचित्राणि शल्यायादात्सहस्रशः।
गजान् अश्वानरथांश्चैव वासांस्याभरणानि च॥
मणिमुक्ताप्रवालं च गाङ्गेयो व्यसृजत् शुभम्।
तत्प्रगृह्य धनं सर्वं शल्यः संप्रीतमानसः॥
ददौ तां समलंकृत्य स्वसारं कौरवर्षभे। १।११३।१४–१६

२. पूर्वैः प्रवर्तितं किञ्चित्कुलेऽस्मिन्नृपसत्तमैः।
साधु वा यदि वाऽसाधु तन्नातिक्रान्तमुत्सहे॥
व्यक्तं तद्भवतश्चापि विदितं नात्र संशयः।
न च युक्तं तथा वक्तुं भवान्देहीति सत्तम॥
कुलधर्मः स नो वीर! प्रमाणं परमं च तत्।
तेन त्वां न ब्रवीम्येतदसंदिग्धं वचोऽरिहन्॥ म० भा०

स्वयंभू ने किया है। अतः इसके करने में कुछ भी दोष नहीं है१"। ऊपर के इस वर्णन से दो बातों का पता चलता है। (१) यह परम्परा चिरकाल से चली आ रही थी तथा (२) समाज के अग्रणी लोग इस प्रथा को निन्दनीय समझने लगे थे। परन्तु धन के लोभ से अथवा साहस की कमी से इसका परित्याग करने में असमर्थ थे।

शास्त्रकारों द्वारा इस प्रथा की निन्दा—यद्यपि भारतीय समाज में कन्या विक्रय की प्रथा दृढ़मूल हो गयी थी परन्तु शिक्षित तथा विचारवान् पुरुष इसके दोष को समझते थे। गृह्यसूत्रों एवं स्मृतियों में इस प्रथा की तीव्र शब्दों में निन्दा की गई है। बौधायन ने लिखा है कि धन से खरीदी गयी स्त्री पत्नी के पद को कभी प्राप्त नहीं कर सकती तथा वह दैव एवं पितृ-कार्यों में भाग लेने की अधिकारणी नहीं हो सकती है। ऐसी स्त्रीं को दासी ही समझना चाहिये२। मनु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "कन्या के विद्वान् पिता को चाहिये कि वह थोड़ा भी कन्या-शुल्क न लें। क्योंकि लोभ के कारण कन्या-शुल्क लेने से वह कन्या को वेचने वाला समझा जाता है३। आपस्तम्ब का कथन है कि शूद्र को भी कन्या-शुल्क नहीं लेना चाहिये क्योंकि कन्या-शुल्क ग्रहण करना छद्मरूप में कन्या का विक्रय ही है। मनु ने भी इस

---

१. तं भीष्मः प्रत्युवाचेदं मद्रराजं जनाधिपः।
धर्म एषः परो राजन्स्वयमुक्तः स्वयंभुवा॥
नाऽत्र कश्चन दोषोऽस्ति पूर्वैः विधिरयं कृतः॥
म० भा० १।११३।९-११

२. क्रीता द्रव्येण या नारी, सा न पत्नी विधीयते।
न सा दैवे न सा पित्र्ये, दासीं तां कवयो विदुः॥
बौ० ध० सू० १।११।२०

३. न कन्यायाः पिता विद्वान्, गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि।
गृह्णन् हि शुल्कं लोभेन, स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी॥ मनु. ३।५१

मत का समर्थन किया है१। इतना ही नहीं कन्या-विक्रय पाप भी माना जाता था और इसे करने वाले को नरक की यातना भोगने का विधान बतलाया गया था। "जो लोग लोभ से अन्धे होकर, अपनी कन्या को धन लेकर विवाह में दे देते हैं, वे अपने को ही बेचते हैं। ऐसे लोग घोर नरक में वास करते हुये अपनी पहिले की सात पीढ़ियों के पुण्य का नाश करते हैं२। समाज में यह प्रथा अत्यन्त निन्दित समझी जाने लगी तथा अन्य स्मृतिकारों ने भी इसका प्रबल विरोध प्रारम्भ कर दिया। अत्रि ने तो यहाँ तक लिखा है कि द्रव्य से खरीदी गयी स्त्री कदापि पत्नी नहीं हो सकती तथा उससे उत्पन्न हुये पुत्र पितरों को पिण्ड देने के अधिकारी नहीं समझे जा सकते३। दूसरे शब्दों में ऐसी स्त्री से उत्पन्न पुत्र कानून की दृष्टि से जायज़ नहीं हैं। पद्म-पुराण का मत है, कन्या को बेचने वाले पुरुष का मुँह भी नहीं देखना चाहिये तथा यदि अज्ञान से कोई उसका मुँह देख ले तो प्रायश्चित्त रूप में उसे सूर्य का दर्शन करना चाहिये४। दक्षिण भारत के तन्जौर जिले से प्राप्त पन्द्रहवीं शताब्दी के एक शिलालेख से पता चलता है कि

---

१. आददीत् न शूद्रोऽपि, शुल्कं दुहितरं ददत्।
शुल्कं हि गृह्लन्कुरुते, छन्नं दुहितृविक्रयम्॥ म० स्मृ० ९।९८

२. शुल्केन ये प्रयच्छन्ति स्वसुतां लोभमोहिताः।
आत्मविक्रयिणः पापाः महाकिल्विषकारकाः॥
पतन्ति निरये घोरे घ्नन्ति चासप्तमात्कुलम्।
बौ० ध० सू० १।११।२०-२१

३. क्रयक्रीता च या नारी, सा न पत्नी विधीयते।
तस्यां जाताः सुतास्तेषां, पितृपिण्डो न विद्यते॥ अत्रि ३८४

४. कन्या—विक्रयिणां ब्रह्मन्न पश्येत् वदनं बुधः।
दृष्ट्वा चाज्ञानतो वापि कुर्यान्मार्तण्डदर्शनम्॥
प० पु०, ब्रह्मखण्ड २४।२६

वहाँ के ब्राह्मणों ने आपस में मिलकर यह निश्चय किया था कि यदि कोई पुरुष कन्या-शुल्क लेगा तो उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया जायगा[१]।

आजकल यद्यपि कन्या-विक्रय की प्रथा अत्यन्त निन्दित समझी जाती है फिर भी नीच जातियों में इसका अस्तित्व अभी भी पाया जाता है। बाल-विवाह की प्रथा ने इस प्रथा को और भी प्रोत्साहन दिया है। जब लड़कियाँ शिक्षित और प्रौढ़ होती थीं उस समय पिता को उन्हें अधिक धन देने वाले व्यक्ति के हाथ बेचना कठिन था। परन्तु जब छोटी छोटी तथा अशिक्षित लड़कियों का विवाह होने लगा तब उनके अभिभावक उनको बेचने में कुछ भी संकोच नहीं करते थे। यही कारण है कि स्मृतियों के विरोध करने पर भी इस प्रथा का चिह्न अभी भी शेष है[२]।

संसार के अन्य देशों में कन्या-विक्रय की प्रथा—संसार की विभिन्न वैवाहिक प्रथाओं के अध्ययन से पता चलता है कि कन्या-शुल्क की प्रथा प्राचीन काल में अनेक जातियों में विद्यमान थी। जब तक पति कन्या शुल्क नहीं चुकाता था तब तक स्त्री के ऊपर उसका पूर्ण अधिकार नहीं हो सकता था। कन्या-शुल्क रुपया अथवा सामग्री के रूप में भी दिया जा सकता था। यदि पति कन्या का शुल्क चुकाने में असमर्थ होता था तब उसे अपने ससुर के घर कुछ वर्षों तक रहकर उसकी सेवा सुश्रूषा करनी पड़ती थी। यदि वह एक साथ पूरे धन को नहीं चुका सकता था तो थोड़ा थोड़ा करके चुकाने की उसे आज्ञा मिल जाती थी।

---

१. साउथ इण्डियन इन्सक्रिपशन्स भाग १, नं० ५६.

२. भोजपुरी प्रदेश में अपनी बेटी को बेंचने की प्रथा एक दो जिलों में आज भी अवशेष रूप में पायी जाती है। कन्या के विक्रयी पिता को इस समाज में 'बेटी-बेंचवा' की संज्ञा प्रदान की गई है।

प्राचीन रूसी साम्राज्य में तुर्क, तार्तार जातियों में विवाह के लिये कन्या-शुल्क देना आवश्यक था। वोटयक जाति के लोगों को पशु तथा मुर्गी देने के अतिरिक्त १५० रूबल नगद द्रव्य और देना पड़ता था१। भारतीय द्वीपपुंजों में भी यह प्रथा वर्तमान थी। सुमात्रा को बाट्टा जाति में कन्या के पिता को अगूँठी देनी पड़ती थी। तेनिम्बर में कन्या-शुल्क के रूप में सोने का बना कान का आभूषण (इयर रिंग) और हाथी का दाँत देना पड़ता था२। सुबानू जाति में कपड़ा, चीनी, घड़ा तथा पीतल के बर्तन शुल्क रूप में देने की प्रथा थी। न्यूगिनी में कुत्ते का दाँत, सूअर, तथा आभूषण दिया जाता था३। फ्लोरिडा में द्रव्य तथा अन्य सामग्री दोनों को देने की परम्परा थी। केरोलाइन द्वीप में विवाह करने वाला पुरुष कन्या के पिता को फल, मछली तथा अन्य ऐसी वस्तुयें देता था४। इस प्रकार इन जातियों में कन्या शुल्क सामग्री के रूप में लिया जाता था।

कुछ जातियों में कन्या-शुल्क समाज की प्रथा के अनुसार पहिले ही निश्चित कर लिया जाता था। फिर भी धन तथा प्रतिष्ठा के अनुकूल यह शुल्क अधिक

---

1. Westermark—History. Vol. II, P. 381.
2. Annas Forbes—Insulinde P. 170.
3. Williamson—Mafulu mountain People of British New Guinea P. 173.
4. Kotzebue—Voyage of discovery into the south sea and Bearing straits—Vol. III, P. 210.

या कम होता रहता था[१]। किसी किसी कुल में सभी लड़कियों के लिये समान रूप से कन्या शुल्क की राशि का मूल्य तय कर दिया जाता था। उस धन को चुका कर कोई भी व्यक्ति उन लड़कियों से विवाह कर सकता था। परन्तु अधिक सुन्दरी तथा गुणी लड़की के लिए कभी-कभी विशेष धन भी देना पड़ता था। निगेरिया में लम्बी, प्रौढ़ तथा गौर वर्ण वाली कन्या २५ पौण्ड से ४० पौण्ड तक में बेची जाती थी तथा काली लड़की के लिए केवल तीन बकरा ही शुल्क में देना पर्याप्त था[२]। केलिफोर्निया की केरोक जाती की उच्च वंश की कन्यायें जो रोटी पकाना और टोकरी बुनना जानती थीं वे बहुत अधिक दाम में बिका करती थीं। वहाँ कुमारी कन्या का दाम विधवा स्त्री से अधिक था[३]। मोर्दविन जाति में २० वर्ष से कम आयु की कन्या का मूल्य इससे अधिक उम्र वाली कन्या से बहुत ज्यादा होता था[४]।

इस कन्या-शुल्क को केवल पिता ही नहीं लेता था बल्कि यह परिवार के अन्य लोगों तथा सम्बन्धियों में भी बाँटा जाता था[५]। पेटेगोनिया की एक जाति में कन्या का मूल्य उसके कुटुम्बियों की संख्या पर निर्भर रहता था[६]। दक्षिणी चिन की पहाड़ियों में बड़े भाई को कन्या शुल्क का सबसे अधिक

1. Sproat—Scenes and Studies of savage life P. 97.
2. Thomas—Anthropological report on the Ibo-speaking people of Nigeria. Vol. I, P. 63.
3. Westermark—History Vol. II, P. 384.
4. Westərmark—Ibid.
5. Bancroft—Native Races of the Pacific states of North-America. Vol. I, 92
6. Westermark—History Vol. II, P. 387

हिस्सा मिलता था तथा शेष धन माता, पिता, बहन, भाई, चाचा, चाची और कुल के अन्य सदस्यों में बाँट दिया जाता था[१]। न्यूगिनी की जवीम जाति में यह धन माता के कुलवालों को मिलता था।

कन्या-शुल्क कई किश्तों में भी दिया जा सकता था। साइबेरिया के लोगों में जब पुरुष कन्या-शुल्क का थोड़ा अंश चुका देता था तभी वह स्त्री से सम्भोग करने का अधिकारी माना जाता था। पश्चिमी अफ्रिका में विवाह होने के एक या दो वर्ष बाद भी शुल्क चुकाया जा सकता था[२]। अकीकूयू जाति में बीस बकरों को कन्या-शुल्क के रूप में देने के बाद विवाह हो जाता था और शेष धन तब चुकाया जाता था जब सबसे बड़ी सन्तान आठ या दश वर्ष की हो जाती थी। तिमोरलाट में कन्या-शुल्क जब तक पूरा नहीं चुकाया जाता था तब तक कन्या अपने पिता के ही घर रहती थी और पति का उसपर विशेष अधिकार नहीं होता था। जुलू लोगों में स्त्री से उत्पन्न पुत्र धरोहर रूप में अपने नाना के पास में रहता था और शुल्क का पूरा रुपया चुकाने पर ही वह लौटाया जाता था[३]। अफ्रिका की कुछ जातियों में यह प्रथा थी कि यदि सन्तान की उत्पत्ति के पूर्व ही स्त्री मर जाय तो उसके पिता को कन्या-शुल्क लौटा देना पड़ता था अथवा उसी की छोटी बहन से उस पुरुष का पुनः विवाह कर देना पड़ता था[४]।

इन उल्लेखों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कन्या-विक्रय की प्रथा केवल भारत में ही नहीं थी बल्कि यह संसार के सभी देशों में पायी जाती थी[५]।

---

1. Carey Tuck—Chin Hills, I, 190.
2. Westermark—History. Vol. II, P. 389.
3. Tyler—Forty years among the Tulus P. 119.
4. Daumas—Narrative of an Exploratory tour to the North-east of the colony of Good Hope P. 68.
५. विशेष विवरण के लिये देखिये :—

   Westermark—History—Vol. II, P. 354-431.

(५) आर्ष विवाह—यद्यपि मनु के अनुसार आर्ष विवाह प्राजापत्य से श्रेष्ठ है परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर इसका स्थान प्राजापत्य के बाद आता है। हिन्दू-विवाह के विकास की दृष्टि से सम्भवतः आसुर विवाह की प्रथा के पश्चात् आर्ष विवाह का स्थान रहा होगा और प्राजापत्य की कल्पना पीछे की गयी होगी। इसका कारण यह है कि आसुर विवाह में जिस प्रकार कन्या-शुल्क लेने को प्रथा थी उसी प्रकार इस विवाह में भी वर से एक जोड़ा गाय और बैल लिया जाता था। ऐसा जान पड़ता है कि जब समाज में कन्या-शुल्क लेना अत्यन्त घृणित समझा जाने लगा तब धीरे धीरे इस प्रथा का ह्रास होने लगा। परन्तु प्राचीन परम्परा की स्मृति के रूप में एक जोड़ा गाय और बैल लेना बुरा नहीं माना जाता था।

आसुर तथा आर्ष विवाह में अन्तर—आसुर तथा आर्ष विवाह में इतना ही अन्तर था कि पहिले में कन्या-शुल्क अनियमित था परन्तु दूसरे में इसे नियमित कर दिया गया था। उस समय समाज में कुछ ऐसे भी लोग वर्तमान थे जो शल्य की भाँति परम्परा से चले आते हुये कन्या-शुल्क की प्रथा को छोड़ना नहीं चाहते थे परन्तु इसके साथ ही इस कार्य को अनुचित भी समझते थे। इसलिये यह सम्भव है कि आपस में समझौता करके लोगों ने यह निश्चय कर लिया हो कि कन्या-शुल्क के रूप में यज्ञ के कार्यों में दूध और घृत की प्राप्ति के लिए एक जोड़ा गाय और बैल स्वीकार कर लिया जाय। यही कारण है कि प्रशस्त विवाहों की सूची में आर्ष का नाम प्रायः अन्त में आता है। इतना ही नहीं, कुछ आचार्यों ने तो इस विवाह को आसुर-विवाह का एक भेद माना है। उनका कथन है कि 'गोमिथुन' को वर से लेना प्रच्छन्न रूप में 'कन्या-शुल्क' को ही ग्रहण करना है। परन्तु आचार्य जैमिनी और शबर ने इस मत का खण्डन किया है। आचार्य जैमिनी का कथन है कि जामाता जो कुछ शुल्क या दान अपने ससुर को देता है वह केवल धार्मिक

कृत्यों के लिये है अतः इसे कन्या-शुल्क कदापि नहीं कहा जा सकता१। शबर स्वामी का मत है कि क्रेय वस्तु का मूल्य बाजार में घटता बढ़ता रहता है। परन्तु आर्ष विवाह में सभी जामाताओं को एक ही प्रकार का निश्चित उपहार ससुर को देना पड़ता है। अतएव इसे कन्या शुल्क की संज्ञा कदापि नहीं दी जा सकती२। मित्र मिश्र ने यह कह कर आर्ष विवाह की श्रेष्ठता प्रमाणित की है कि इसमें लिया गया शुल्क लोभ के कारण नहीं है बल्कि धर्म के निमित्त है३। ये सभी मत आर्ष विवाह के औचित्य को सिद्ध करते हैं। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आर्ष विवाह आसुर विवाह का ही स्मृति-चिह्न है। इसीलिये हिन्दू विवाह के ऐतिहासिक विकास को ध्यान में रखते हुये आर्ष का स्थान आसुर के बाद और प्राजापत्य के पहिले रक्खा गया है।

यह विवाह विशेष रूप से यज्ञ, यागादि करने वाले ऋषि लोगों में प्रचलित था। इसीलिये इसका नाम 'आर्ष' पड़ गया। 'आर्ष' शब्द ऋषि का विशेषण है। अतः इस व्युत्पत्ति पर ध्यान देने से भी यही बात सिद्ध होती है।

परिभाषा—आश्वलायन४, बौधायन तथा आपस्तम्ब के अनुसार आर्ष विवाह उसे कहते हैं जिसमें वर अपने ससुर को यज्ञ सम्पादन के निमित्त एक

---

१. क्रयस्य धर्ममात्रत्वम्। पू० मी० ६।१।१५

२. नासौ क्रयः इति। क्रयो ह्युच्चनीचपणो भवति। नियतं त्विदं दानम्। पू० मी० ६।१।१५ पर शबर का भाष्य।

३. धर्म निमित्तो ह्यसौ सम्बन्धः न लोभनिमित्तः।
वी० मि० पृ० ८५०

४. गोमिथुनं दत्त्वोपयच्छेत स आर्षः। आ० गृ० सू० १।४।२७

जोड़ा गाय और बैल दे। मनु के मत से, वर से एक या दो जोड़ा गाय लेकर पिता के द्वारा विधिवत् कन्या का प्रदान करना आर्ष कहलाता है१। याज्ञवल्य ने लिखा है दो 'गौ' लेकर कन्या का विवाह कर देना आर्ष विधि है। इससे तीन पहिले की तथा तीन बाद की पीढ़ियाँ पवित्र हो जाती हैं२। मनु ने आर्ष विवाह की निर्दोषता को सिद्ध करते हुये लिखा है कि यदि कन्या का पिता उसका शुल्क लेता तो उसे विक्रय नहीं कह सकते३। आर्ष विवाह में शुल्क रूप में कुछ भी ग्रहण करना अत्यन्त निन्दनीय समझा जाता था। मनु ने स्पष्ट ही लिखा है कि आर्ष विवाह में एक जोड़ा गाय और बैल शुल्क रूप में लेने की जो बात कही जाती है वह बिल्कुल झूठी है। कन्या शुल्क के रूप में थोड़ा या अधिक जो कुछ भी लिया जाय वह विक्रय ही है४। इससे स्पष्ट मालूम होता है इस विवाह में एक जोड़ा गाय और बैल शुल्क रीति में नहीं बल्कि यज्ञ कार्य को समुचित रूप से चलाने के लिये ही लिया जाता था।

१—एकं गोमिथुनं द्वे वा, वरादादाय धर्मतः।
कन्या प्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते॥ ३।२९

२—यज्ञस्थ ऋत्विजे दैव आदायार्षस्तु गोद्वयम्।
चतुर्दशप्रथमजः पुनात्युत्तरजश्च षट्॥ या० स्मृ० १।५९

३—यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः।
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम्॥ ३।५४

४—आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत्।
अल्पोप्येवं महान् वापि विक्रयस्तावदेव सः॥ ३।५३

६-प्राजापत्य विवाह—प्राजापत्य विवाह आर्ष विवाह से श्रेष्ठ था क्योंकि आर्ष में कन्या-शुल्क किसी न किसी रूप में वर्तमान था। परन्तु प्राजापत्य में यह बात बिल्कुल नहीं थी। आर्ष में 'गो-मिथुन' को देना विवाह के पहिले आवश्यक शर्त थी परन्तु प्राजापत्य में किसी प्रकार का आर्थिक प्रतिबन्ध नहीं था। यह विवाह शुद्ध धार्मिक तथा आध्यमिक दृष्टि से सम्पादित होता था। अतः इसी कारण इसे आर्ष से श्रेष्ठ समझते थे।

आश्वलायन के मतानुसार प्राजापत्य वह विवाह है जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों 'साथ ही साथ धर्म का आचरण करेंगे' इस शर्त पर कन्या-प्रदान की जाती है१। हरदत्त ने अपनी टीका में लिखा है कि अन्य प्रकार के विवाहों (जैसे ब्राह्म तथा दैव) में भी स्त्री-पुरुष साथ ही साथ धर्म का आचरण करते हैं परन्तु इस विवाह की विशेषता यह है कि जीवनपर्यन्त दोनों को नियमित रूप से धर्म करना चाहिये। पति को गृहस्थाश्रम छोड़कर दूसरे आश्रमों (वाणप्रस्थ तथा संन्यास) में प्रवेश नहीं करना चाहिये और न पहिली स्त्री को छोड़कर किसी दूसरी स्त्री से विवाह करना चाहिये२। हरदत्त ने ब्राह्म विवाह से प्राजापत्य विवाह की विशेषता को बतलाते हुये इन्हीं दो बातों पर, विशेष बल दिया है३।

१—'सह धर्मं चरतम्' इति प्राजापत्यः। १।४।२५

२—यद्यप्यन्येष्वपि विवाहेषु सहधर्मचरणमस्ति, तथाप्यत्र यावज्जीवं सहधर्मचरणमेव; न मध्ये आश्रमान्तर प्राप्तिरिति विशेषः। किञ्च तथा तथैव सहधर्मचरणं न स्त्र्यन्तरविवाहः।
आ० गृ० सू० १।४।२५ की टीका 'अनाविला' में हरदत्त का कथन।

३—यद्यपि ब्राह्मादिषु अपि सहधर्मचर्या भवति तथापि आ अन्तावनया सह धर्मश्चरितव्यो नाश्रमान्तरं प्रवेष्टव्यो नापि स्त्र्यन्तरमुपयन्तव्यमिति मंत्रेण समयः क्रियते। एषः ब्राह्मादेः प्राजापत्यस्य विशेषः। गौ० ध० सू० १।४।५ पर हरदत्त।

परन्तु ब्राह्म तथा प्राजापत्य में इस प्रकार के भेद का उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। मनु ने प्राजापत्य विवाह की जो परिभाषा दी है उससे इस कथन का समर्थन नहीं होता। उन्होंने लिखा है कि उस विवाह को प्राजापत्य कहते हैं जिसमें "तुम दोनों साथ साथ धर्म का आचरण करो" इस आज्ञा के साथ कन्या प्रदान की जाती है१। गौतम ने भी मनु के मत का समर्थन किया है२। याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि साथ साथ धर्माचरण करने की आज्ञा देकर जो विवाह किया जाता है वह प्राजापत्य कहलाता है। ऐसे विवाह से उत्पन्न होने वाला पुत्र छः पहिले की, छः बाद की तथा एक वर्तमान, इस प्रकार तेरह पीढ़ियों को पवित्र करता है३। देवल ने इस विवाह के व्यावहारिक पक्ष पर विचार करते हुये इसे शर्त के द्वारा निश्चित किया गया विवाह बतलाया है४।

<u>प्राजापत्य शब्द का अर्थ तथा नामकरण का कारण</u>—'प्राजापत्य' शब्द से ही मालूम होता है कि यह विवाह पुत्र की उत्पत्ति करके प्रजापति का ऋण चुकाने के लिये किया जाता था। इस विवाह का नाम 'प्राजापत्य' पड़ने का भी यही कारण है। आधुनिक दृष्टि से यह विवाह अत्यन्त सन्तोष-जनक है क्योंकि इसमें पति तथा पत्नी का अधिकार सुरक्षित था तथा एक दूसरे को छोड़कर कहीं नहीं जा सकता था। परन्तु धर्म-शास्त्र की दृष्टि

१—सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्या प्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः॥ ३।३०

२—संयोगमन्त्रः प्राजापत्ये सहधर्मं चर्यतामिति।

३—इत्युक्त्वा चरतां धर्मं सह या दीयतेऽर्थिने।
स कामः पावयेत्तज्जः षट् षट् वंश्यान्सहात्मना॥ १।६०

४—सहधर्मक्रियाहेतोर्दानं समयबन्धनात्।
अलंकृत्यैव कन्यायाः विवाहः स प्रजापतेः॥
वी० मि० में देवल का उद्धृत वचन।

से यह विवाह ब्राह्म, दैव तथा आर्ष इन तीनों से निष्कृष्ट समझा जाता था क्योंकि इसमें कन्यादान एक विशेष शर्त को स्वीकार करने पर ही किया जाता था। धार्मिक दृष्टि से कोई भी दान किसी भी शर्त से रहित होंना चाहिये। चूँकि ब्राह्म तथा दैव आदि विवाहों में कन्यादान बिना किसी शर्त के होता था अतः वे इससे श्रेष्ठ समझे जाते थे।

संभवतः विवाह की यह प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल में प्रचलित नहीं थी क्योंकि उन्नतशील समाज में केवल शिक्षित स्त्री और पुरुष ही इसे सम्पादित करने के अधिकारी हो सकते थे। ऐसे विवाह के लिये स्वतंत्र समाज की आवश्यकता थी जिसमें स्त्रियाँ पर्दे से बाहर निकल सकती हों और पति स्वच्छन्दता से किसी भी स्त्री को अपनी पत्नी बनाने के लिये याचना कर सकता हो। बाल-विवाह के प्रचार के समय इस प्रथा का होना असंभव था क्योंकि बालक वर तथा वधू विवाह के अवसर पर की गयी 'सहधर्माचरण' की प्रतिज्ञा को समझने तथा निभाने में असमर्थ थे। इसलिये प्रौढ़ दम्पति ही इसे करने के यथार्थ अधिकारी थे।

कुछ आचार्यों का विचार है ब्राह्म तथा प्राजापत्य विवाह दोनों एक ही हैं तथा ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। इस कथन की पुष्टि इस बात से होती है कि दो प्राचीन धर्मशास्त्र प्रणेता वशिष्ठ तथा आपस्तम्ब ने विवाह के विभिन्न भेदों में प्राजापत्य का नामोल्लेख भी नहीं किया है। उन्होंने प्रशस्त विवाहों में ब्राह्म, दैव तथा आर्ष इन तीन को ही गणना की है। संभवतः विवाह के आठ प्रकार के भेदों की गणना को पूरी करने के लिये प्राजापत्य बाद में जोड़ दिया गया हो। ब्राह्म विवाह के अन्तर्गत ही इन आचार्यों ने प्राजापत्य को गणना कर ली हो। अतः इसके पृथक् उल्लेख करने की आवश्यकता न समझी गयी हो।

(७) दैव विवाह—दैव विवाह प्राजापत्य से श्रेष्ठ समझा जाता था। आश्वलायन ने लिखा है कि यज्ञ को कराने वाले पुरोहित को, अलङ्कारों से सुसज्जित करके कन्यादान देना दैव-विवाह कहलाता है१। बौधायन के अनुसार कन्या यज्ञ की दक्षिणा के रूप में दी जाती थी२। इस विवाह को 'दैव' इसलिए कहते थे क्योंकि यह तब निष्पन्न किया जाता था जब देवताओं के लिए यज्ञ होता था। मनु ने यज्ञ में सम्यक् प्रकार से कर्म करते हुये ऋत्विज को अलङ्कार आदि से पूजित कर कन्यादान करने को दैव विवाह कहा है३। याज्ञवल्क्य ने भी मनु के कथन का समर्थन किया है४। यज्ञ में की गयी सेवाओं के लिये पुरोहित को विवाह में कन्या देने का उल्लेख वेदों में भी पाया जाता है। पुरोहित लोग अपने यजमान राजाओं से यज्ञ में की गयी सेवाओं के उपलक्ष में सुन्दर कुमारियों तथा दासियों को—जिन्हें 'वधू' कहते थे—प्राप्त करते थे५। परन्तु इसको विधिवत् विवाह नहीं कह सकते। प्राचीन काल में लोग यज्ञ करने वाले ब्राह्मण या पुरोहित को कन्या देना बड़ा ही पुण्य का कार्य समझते थे। अतः निःसंकोच अपनी कन्या को उन्हें दे दिया करते थे।

वैदिक यज्ञों का ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी तक बहुत अधिक प्रचार था। उस समय बड़े धूमधाम से यज्ञ किये जाते थे और ये कई सप्ताह तक चलते रहते थे। यजमान यज्ञ के विविध कार्यों का सम्पादन करने के लिये अनेक पुरोहितों को बुलाता था। इन पुरोहितों के साथ इतने दिनों तक सहवास होने

---

१. ऋत्विजे वितते कर्मणि दद्यादलंकृत्य स दैवः। १।४।२३

२. दक्षिणासु दीयमानासु अन्तर्वेदि यत् ऋत्विजे स दैवः।
बौ० ध० सू० ११

३. यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥ ३।२८

४. यज्ञस्थऋत्विजे दैवः। या० स्मृ० १।५९

५. ऋ० वे० ५।६१।१७-१९

से यजमान उनमें से किसी एक के गुण, शिक्षा तथा योग्यता पर मुग्ध हो जाता था और अपनी प्रौढ़ कन्या को उसे प्रदान कर विवाह की समस्या को हल करता था। उन दिनों में कन्याओं का विवाह प्रौढ़ावस्था में ही होता था। अतः उन्हें भी ऐसे अवसर पर भावी पति के गुण, दोषों को देखने का अच्छा अवसर मिल जाता था। परन्तु हिन्दू समाज में ज्यों ज्यों यज्ञ यागादि के विधान का ह्रास होने लगा त्यों त्यों दैव विवाह भी कम होने लगे। कुछ समय के पश्चात् इस प्रथा का बिल्कुल ह्रास हो गया। संभवतः इसीलिये दैव विवाह का उदाहरण बहुत ही कम मिलता है। आजकल न तो यज्ञ ही होता है और न ऐसे विवाह ही होते हैं। 'बृहत् देवता' में श्यावाश्व का जो वर्णन आया है वह भी दैव विवाह का उदाहरण नहीं माना जा सकता क्योंकि श्यावाश्व ने अपने लिये कन्या को न माँगकर अपने पुत्र के लिए उसकी याचना की थी। दैव विवाह ब्राह्म विवाह से इसीलिये निकृष्ट समझा जाता था कि इसमें कन्या का पिता यज्ञ में पुरोहित की सेवाओं को ध्यान में रख कर ही उसे कन्यादान देता था परन्तु ब्राह्म विवाह में 'कन्यादान' किसी स्वार्थ के बिना ही किया जाता था।

(८) ब्राह्म विवाह—समस्त विवाहों में श्रेष्ठ तथा पवित्र समझा जाता था। इसके नामकरण का कारण यह था कि यह ब्राह्मणों के लिये ही उपयुक्त समझा जाता था। आश्वलायन ने लिखा है कि अलंकारों से युक्त कन्या को विधिवत् संकल्प कर, दान देने को ब्राह्म विवाह कहते हैं। इससे उत्पन्न पुत्र बारह पीढ़ी पहिले और बारह पीढ़ी बाद के पितरों को पवित्र करता है[1]। मनु के अनुसार ब्राह्म वह विवाह है जिसमें कन्या का पिता,

---

१—अलंकृत्य कन्यामुदकपूर्वां दद्यादेष ब्राह्मो विवाहः।
तस्यां जातो द्वादशावरान् द्वादशपरान् पुनात्युभयतः॥ १।४।२१-२२

विद्या तथा विनय से सम्पन्न वर को, स्वयं बुला कर, यथाशक्ति दिये गये अलंकारों से युक्त, अपनी कन्या का दान उसके लिये करता है[१]। इसके बदले में वह वर से कुछ भी नहीं लेता। याज्ञवल्क्य ने मनु के मत का समर्थन करते हुये लिखा है इस विवाह से उत्पन्न पुत्र इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करता है[२]। ब्राह्म विवाह सब विवाहों से उच्च तथा श्रेष्ठ इसलिये समझा जाता था कि न तो इसमें बल का प्रयोग किया जाता था, न तो इसमें किसी प्रकार की शर्त ही लगाई जाती थी और न यह भोग-विलास की ही इच्छा से सम्पन्न होता था। पैशाच और राक्षस विवाह में बलपूर्वक कन्या का हरण किया जाता था, गान्धर्व की उत्पत्ति काम-वासना की तृप्ति की इच्छा से होती थी, प्राजापत्य में 'सहधर्माचरण' की शर्त लगायी जाती थी और आसुर विवाह धन के लोभ से किया जाता था। परन्तु ब्राह्म विवाह इन सब दोषों से रहित था अतः सर्वश्रेष्ठ समझा जाता था।

ब्राह्म विवाह इतिहास के प्रारम्भिक युग में संभवतः प्रचलित नहीं था क्योंकि इसकी स्थिति श्रेष्ठ सभ्यता से युक्त उन्नत समाज में ही संभव थी। कन्या को शुद्ध दान के रूप में देने की कल्पना अत्यन्त पवित्र तथा आध्यात्मिक थी। अतः यह तभी किया जाता रहा होगा जब वैदिक सभ्यता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई रही होगी।

कुछ विद्वानों का मत है कि ब्राह्म विवाह की प्रथा समाज में उस समय प्रचलित थी जब लड़कियों का विवाह छोटी अवस्था में होता था। कन्या को दान के रूप में देने से ही यह अनुमान किया जा सकता है कि वह अवस्था

१—आच्छाद्य चार्चयित्वा च, श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्यायाः, ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥ म० स्मृ० ३।२७

२—ब्राह्मो विवाह आहूय, दीयते शक्त्यलंकृता।
तज्जः पुनात्युभयतः पुरुषानेकविंशतिम् ॥ या० स्मृ० १।५८

में छोटी रहती होगी और विवाह के निर्णय करने में उसका कुछ विशेष हाथ न रहता होगा। संभवतः इसीलिये वेदों में केवल एक, दो उदाहरणों को छोड़कर ब्राह्म विवाह का उल्लेख अधिक नहीं मिलता।

यह सदा ध्यान में रखना चाहिये कि विवाह के अवसर पर कन्या का दान केवल विधान मात्र था। इससे पति का स्त्री के साथ मनमाना व्यवहार करने का अधिकार नहीं होता था। इसके विपरीत पति को प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि जीवन के सभी कार्यों को वह पत्नी के साथ ही करेगा। इस प्रकार दान रूप में दिये जाने पर भी दोनों का जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता था।

नयी शिक्षा में दीक्षित आजकल के लोगों को कन्या को दान के रूप में देने की कल्पना कुछ हास्यास्पद सी लगती है परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर यह प्रथा उस प्रथा से कहीं अधिक पवित्र तथा श्रेष्ठ थी जिसमें पिता अपनी लड़की को धन के लोभ से पति के हाथ बेच देता था। श्रुत तथा शील से समन्वित योग्य वर को बुलाकर कन्या देना निश्चित ही नैतिक विकास का द्योतक है। इस विवाह को धार्मिक रूप प्रदान कर देने तथा अग्नि के समक्ष वर के द्वारा सह धर्माचरण की शपथ खाने से स्त्री का अधिकार सुरक्षित हो जाता था तथा उसे इस बात का विश्वास हो जाता था कि पति आजीवन प्रसन्नता से उसके साथ रहेगा।

<u>विभिन्न वर्णों के लिये इन विवाहों की उपयोगिता</u>—पिछले पृष्ठों में वर्णित आठ प्रकार के विवाहों में प्रथम चार—ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य—प्रशस्त माने जाते थे तथा अन्तिम चार आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच अप्रशस्त थे। इसका कारण यह था कि प्रथम चार में कन्या-दान वैदिक मन्त्रों के द्वारा विधिवत् किया जाता था परन्तु अन्तिम चार में वैदिक मन्त्र-विधि का अभाव था। इन विवाहों के विभिन्न प्रकारों में से कौन सा विवाह किसके

लिए उपयुक्त है इस विषय में आचार्यों के विभिन्न मत पाये जाते हैं। मनु ने इन विभिन्न मतों का उल्लेख किया है। एक मत के अनुसार प्रथम चार (ब्राह्म, दैव आदि) विवाह ब्राह्मण के लिये उपयुक्त हैं। केवल राक्षस विवाह क्षत्रिय के लिये और वैश्य तथा शूद्र के लिये आसुर विवाह समीचीन बतलाया गया है[१]। दूसरे मत के अनुसार इन आठ प्रकार के विवाहों में प्रथम छः (अर्थात् राक्षस और पैशाच को छोड़कर सब) ब्राह्मण के लिये; अन्तिम चार (आसुर, गान्धर्व, राक्षस, पैशाच) क्षत्रिय के लिए तथा वैश्य और शूद्रों के लिये राक्षस को छोड़कर गान्धर्व, आसुर एवं पैशाच इन तीन विवाहों को उपयुक्त कहा गया है[२]। तीसरे मत के अनुसार प्राजापत्य, गान्धर्व तथा आसुर विवाह सभी वर्णों के लोग कर सकते हैं परन्तु आसुर तथा पैशाच विवाह किसी भी वर्ण के द्वारा नहीं करना चाहिये[३]। परन्तु इसके पहिले ही मनु ने आसुर विवाह को वैश्य तथा शूद्रों के लिये उपयुक्त बतलाया है। मनु ने लिखा है कि पूर्व कथित गान्धर्व तथा राक्षस विवाह पृथक् पृथक् अथवा दोनों एक साथ मिश्रित रूप में क्षत्रिय के लिये उपयुक्त हैं[४]। भाव यह है कि यदि गान्धर्व विधि से कोई कन्या विवाह करना चाहती है तब तो वह ठीक है ही परन्तु

---

१. चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान्कवयो विदुः।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकं आसुरं वैश्यशूद्रयोः॥
म० स्मृ० ३।२४

२. षडानुपूर्व्या विप्रस्य, क्षत्रस्य चतुरोऽवरान्।
विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद्धर्म्यानराक्षसान्॥ म० स्मृ० ३।२३

३. पञ्चानां तु त्रयो धर्म्याः द्वावधर्म्यौ स्मृताविह।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन॥ म० स्मृ० ३।२५

४. पृथक् पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ॥
म० स्मृ० ३।२६

यदि कन्या किसी क्षत्रिय से प्रेम करती हो और उसके माता और पिता उस व्यक्ति से विवाह करना न चाहते हों तो उस क्षत्रिय को चाहिये कि बलपूर्वक उसका हरण कर उस कन्या से विवाह कर ले क्योंकि ऐसा विवाह भी उसके लिये धर्म्य ही होगा। पृथ्वीराज और संयोगिता का विवाह गान्धर्व और राक्षस प्रथा का मिश्रण समझना चाहिये। बौधायन ने आसुर और पैशाच विवाह को वैश्य तथा शूद्रों के लिये उपयुक्त बतलाया है और इसका विचित्र कारण यह दिया है कि वैश्य और शूद्र अपनी स्त्रियों को अपने नियन्त्रण में नहीं रख सकते क्योंकि ये हल जोतने तथा सेवा कार्य में लगे रहते हैं[१]। नारद ने लिखा है कि गान्धर्व विवाह सब वर्णों के लिये समान रूप से उपयोगी है[२]। हरदत्त ने प्रथम दो–ब्राह्म और दैव–विवाह को ब्राह्मणों के लिये; गान्धर्व और राक्षस क्षत्रियों के लिये एवं आसुर वैश्य के लिये समीचीन माना है तथा इसके लिए कारण भी दिया है। पैशाच को निन्दित बतलाकर सम्भवतः सभी वर्णों के लिये उसके अग्राह्य होने का संकेत किया गया है[३]।

इन विवाहों से उत्पन्न सन्तति के गुण का विचार—आपस्तम्ब ने यह साधारण नियम बतलाया है कि जिस प्रकार का विवाह-संबंध किया जाता है, सन्तति भी उसी प्रकार की होती है[४]। इसका

---

१. पञ्चमाष्टमौ वैश्यशूद्राणाम्। अयन्त्रितकलत्रा हि वैश्यशूद्राः भवन्ति। कर्षणशुश्रूषाधिकृतत्वात्॥ बौ० गृ० सू० १।११।१४-१६

२. ना० स्मृ० (स्त्रीपुंस० श्लो० ४०)

३. तत्राद्यौ ब्राह्मणानामेव भवतः प्रतिग्रहात्विज्यसंयोगात्। गान्धर्वः क्षत्रियस्य पुराणेषु दर्शनात् तथा राक्षसो युद्ध-संयोगात्। आसुरो वैश्यस्य द्रव्य-संयोगात्। अन्ये त्रयोऽनियताः हेत्वभावात्। पैशाचः निन्दितः। आ० १।४।२१ की टीका।

४. यथायुक्तो विवाहस्तथा युक्ता प्रजा भवति।
आ० ध० सू० २।५।१२।४

भाव यह है कि यदि विवाह ब्राह्म विधि से होगा तो इससे उत्पन्न सन्तान उच्च तथा गुणवान् होगी और यदि पैशाच या राक्षस विवाह किया जायेगा तो उससे उत्पन्न सन्तति भी बुरी होगी। मनु ने इसी विषय को स्पष्ट करते हुये लिखा है कि ब्राह्म आदि प्रथम चार विवाह आध्यात्मिक भावना से युक्त हैं। अतः इस विवाह संबंध से जो पुत्र पैदा होते हैं वे सौन्दर्य, गुण, धन, यश तथा चिरजीवन से सम्पन्न रहते हैं। इसके प्रतिकूल अन्तिम चार विवाहों से उत्पन्न पुत्र निर्दयी, असत्यभाषी, वेदनिन्दक तथा धर्मद्रोही होते हैं[1]। कुछ सूत्रों तथा स्मृतियों में इस बात का भी वर्णन पाया जाता है कि प्रथम चार विवाहो से उत्पन्न सन्तान अनेक पीढ़ियों को पवित्र करती है। आश्वलायन ने लिखा है कि ब्राह्म, दैव, प्राजापत्य और आर्ष विवाह से उत्पन्न पुत्र क्रमशः बारह, दस, आठ और सात आगे तथा पीछे की पीढ़ियों को पवित्र करता है[2]। मनु तथा याज्ञवल्क्य ने इसी बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार लिखा है। मनु के मत से ब्राह्म विवाह से उत्पन्न पुत्र दस पूर्व के पितरों को, दस बाद के वंशजों को तथा अपने को, इस प्रकार कुल इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करता है[3]। इसी प्रकार दैव विवाह से उत्पन्न पुत्र चौदह पीढ़ियों को,

---

१—ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्राः जायन्ते शिष्टसंमताः॥
रूपसत्वगुणोपेताः धनवन्तो यशस्विनः।
पर्याप्तभोगाः धर्मिष्ठाः जीवन्ति च शतं समाः॥
इतरेषु च शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः॥

म० स्मृ० ३।३६–४१

२—आ० गृ० सू० १।६

३—दश पूर्वान्परान्वंश्यानात्मानं चैकविंशतिम्।
ब्राह्मीपुत्रः सुकृतकृन्मोचयेदेनसः पितृन्॥ ३।३७

प्राजापत्य विवाह से उत्पन्न पुत्र छः पूर्वजों, छः वंशजों तथा अपने को (कुल १३ पीढ़ियों को) और आर्ष विवाह से उत्पन्न पुत्र छः पीढ़ियों को पाप से मुक्त कर देता है१। याज्ञवल्क्य ने भी मनु के इस मत का समर्थन किया है२। गौतम का भी ऐसा ही मत है३। मनु के प्रसिद्ध टीकाकार तथा भाष्यकार क्रमशः विश्वरूप एवं मेधातिथि ने लिखा है कि मनु के श्लोकों का अर्थ अक्षरशः नहीं लेना चाहिये। ये श्लोक केवल ब्राह्म विवाह की प्रशंसा करने तथा उसकी श्रेष्ठता को बतलाने के लिये ही लिखे गये हैं।

महत्त्व—इन विभिन्न प्रकार के विवाहों के गुण तथा अवगुण के प्रतिपादन से स्पष्ट पता चलता है कि हमारे धर्मशास्त्रकारों को भावी सन्तान को सुन्दर, बलिष्ठ तथा दीर्घायु बनाने की कितनी चिन्ता थी। वे चाहते थे कि जो सन्तान पैदा हो वह वेद की ज्ञाता, धर्म की सेवा करने वाली, यशस्वी, धनी तथा प्रतिभाशाली हो। इसीलिये उन्होंने भिन्न भिन्न वर्णों के लिये भिन्न भिन्न विवाहों का प्रतिपादन किया है। विभिन्न प्रकार के विवाह भेदों का वर्णन कर हमारे धर्मशास्त्रियों ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि धार्मिक रीति से, लोभ तथा काम की भावना से प्रेरित न होकर, किया गया विवाह ही श्रेयस्कर है। यही समाज का मंगलसाधक है। इसकी महत्ता प्रतिपादित करते हुये डा० काणे ने ठीक ही लिखा है कि "विवाह के इन विभिन्न प्रकारों की कोई भले ही खिल्ली उड़ाये, परन्तु ये समाज को विवाह का उच्च आदर्श

१. म० स्मृ० ३।३८

२. या० स्मृ० १।५८-६०

३. गौ० स्मृ० ४।२४-२७

बतलाते हैं; सुन्दर तथा शान्तिपूर्ण जीवन बिताने का मार्ग दिखाते हैं तथा नैतिक शिक्षा का पाठ पढ़ाते हैं[1]"।

आधुनिक समय में विवाह की प्रथा—आजकल प्रधानतया दो ही प्रकार के विवाह—ब्राह्म और आसुर—प्रचलित हैं। प्रथम प्रकार के विवाह में कन्या का पिता योग्य वर को चुन कर, बिना उससे कुछ धन लिये, अपनी कन्या को उसे दे देता है तथा दूसरे प्रकार के विवाह में पिता वर से कन्या-शुल्क लेकर ही उससे अपनी पुत्री का विवाह करता है। परन्तु आसुर विवाह की समाज में बड़ी निन्दा समझी जाती है। कन्या-विक्रय करने वाला पुरुष बड़ी बुरी दृष्टि से देखा जाता है। यह विवाह केवल नीची जाति के लोग ही किया करते हैं। यदि ऊँची जाति का कोई आदमी ऐसा करता है तो उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। परन्तु इन दोनों प्रकार के विवाहों के अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार का विवाह भी समाज में जोरों से जड़ पकड़ता जा रहा है जिसे यदि वर-विक्रय कहा जाय तो कुछ अनुचित न होगा। इसके अनुसार वर का पिता या उसका अन्य कोई अभिभावक कन्या के पिता से अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा तथा वर की योग्यता के अनुसार धन माँगता है और जब उसे मुँहमाँगा धन प्राप्त हो जाता है तभी वह अपने पुत्र का विवाह करने के लिये तैयार होता है अन्यथा नहीं। यह प्रथा समाज में बुरी तरह से फैली हुयी है और गरीब आदमी भी अपने लड़कों के विवाह

1. "One may laugh at these texts about the virtues of the several forms of marriage, but they are really intended to emphasize the high importance to the future of the race and to society of noble ideals of marriage, of morals, and of a decent and peaceful mode of life."
Dr. P. V. Kane—History of Dharmashastra. Vol. II, Part I, P. 525.

के लिये मनमाना धन माँगते हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि लड़कियों के लिये, धनाभाव के कारण, योग्य वर नहीं मिलते हैं। सूत्र-ग्रन्थों तथा स्मृति-ग्रन्थों में कहीं भी इस अनोखी प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता। इस प्रकार से यह प्रथा अशास्त्रीय है। परन्तु आधुनिक समाज में धर्म से अधिक धन की प्रतिष्ठा हो रही है।

यद्यपि गान्धर्व-विवाह की प्रथा अपेक्षाकृत कम है फिर भी अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित लोगों में ऐसे विवाह प्रायः सुनने में आते हैं। परन्तु यह वर तथा वधू के युवावस्था में वर्तमान होने पर ही हो सकता है। हिन्दू समाज की वर्तमान गतिविधि को देखते हुये यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं होता कि गान्धर्व विवाह का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है। ब्राह्म विवाह के दिन गिने गिनाये हैं क्योंकि इसमें अब न तो उस प्राचीन आदर्श का पालन ही हो रहा है और न विवाह—कालीन प्रतिज्ञाओं को व्यवहार रूप में ही लाया जाता है। जहाँ प्राचीन काल में विवाह का आदर्श धार्मिक एवं आध्यात्मिक था वहाँ हमारे नैतिक पतन के कारण यह आदर्श आर्थिक हो गया है। आज विवाह में कन्या के पिता से रुपया ऐंठना ही प्रधान कार्य हो गया है। अतः ऐसी दशा में ब्राह्म विवाह कब तक टिक सकता है। आसुर विवाह की प्रथा गर्हित तथा निन्दित होने के कारण धीरे धीरे नष्ट हो रही है। अतः भविष्य में गान्धर्व-विवाह की ही संभावना अधिक दिखाई पड़ रही है। क्या ही अच्छा होता यदि हिन्दू समाज फिर से वैदिक आदर्शों का पालन करता हुआ उसी पथ पर चलता रहता जिस पर हमारे पूर्वज आज से ५००० वर्ष पूर्व से चलते आ रहे हैं।

४—वैवाहिक-सम्बन्ध

उपक्रम—गत अध्यायों में विवाह की उत्पत्ति, इसका उद्देश्य तथा वैवाहिक विकास का विवरण प्रस्तुत किया गया है। अब इस अध्याय में विवाह से सम्बन्ध रखने वाली अन्य बातों पर विचार किया जाता है। प्राचीन काल में विवाह करने के पहिले वर तथा वधू की योग्यता देखी जाती थी। वर में क्या गुण होने चाहिये; कन्या का कुल कैसा है, वर-वधू का रूप, शील और स्वभाव कैसा है, इन विषयों पर शास्त्रकारों ने बड़ा विचार किया है। भारतीय इतिहास के भिन्न भिन्न कालों में विवाह के समय वर तथा वधू की अवस्था क्या थी इसका वर्णन भी पाया जाता है तथा वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक विवाह के वय की तुलना करते हुए दोनों की विषमता का परिचय दिया गया है। विवाह को निश्चित करने में कन्या का कितना हाथ था इसकी समीचा करते हुए यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि आजकल की भाँति प्राचीन भारत में भी कन्यायें अपने जीवन के संगी (पति) को चुनने में स्वतन्त्र थीं। गान्धर्व विवाह तथा स्वयम्बर की प्रथा इसके प्रत्यच प्रमाण हैं। इसके बाद विवाह के उन प्रतिबन्धकों पर विचार किया गया है जिनके कारण वैवाहिक संबंध करना अनुचित माना जाता है। इसके साथ ही विदेशों में प्रचलित इसी प्रकार की प्रथाओं से इसकी तुलना भी की गयी है। प्राचीन भारत में विवाह के अवसर पर शुल्क ग्रहण करने का वर्णन कर यह स्पष्ट रीति से बतलाया गया है कि आधुनिक समाज में प्रचलित तिलक या दहेज लेने की प्रथा बिल्कुल अवैदिक है। अन्त में विवाह में ज्योतिष का क्या स्थान था, जन्मकुण्डली के द्वारा किस प्रकार विवाह निश्चित किया जाता था, इस पर विचार किया गया है।

(क) विवाह में वर तथा वधू की योग्यता

१. वर की योग्यता—समान गुण वाले वर और वधू का गार्हस्थ जीवन बिताने के लिये विवाह एक पारस्परिक संबंध है। अतः इस संबंध के अनुरूप होने की नितान्त आवश्यकता है। इसीलिये शास्त्रकारों ने वर-वधू की पात्रता की परीक्षा करने के लिये उनमें अनेक गुणों का होना अनिवार्य बतलाया है। विवाह में उचित वर को चुनना और उसकी पात्रता की समीक्षा करना प्रथम कर्तव्य है। आश्वलायन गृह्यसूत्र का कहना है कि बुद्धिमान् पुरुष को कन्या देनी चाहिये१। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में वर की योग्यता बतलाते हुए लिखा है कि वह अच्छे कुटुम्ब, शोभन चरित्र, शुभ लक्षण, विद्या तथा आरोग्य से सम्पन्न होना चाहिये२। बौधायन गृह्यसूत्र ने वर की योग्यता का उल्लेख करते हुये लिखा है कि कन्या उस वर को देनी चाहिये जिसने ब्रह्मचर्य का यथावत् पालन किया है३। स्मृति-चन्द्रिका में उद्धृत यम के वचन से पता चलता है कि वर में इन सात गुणों का होना नितान्त आवश्यक है४:—कुल, शील (शोभन चरित्र), शरीर, यश, विद्या, वित्त और बन्धु-बान्धवों का सहारा (सनाथता)। इतने गुणों की सत्ता रहने पर वर की योग्यता

---

१. बुद्धिमते कन्यां प्रयच्छेत्। आ० गृ० सू० १।५।२

२. बन्धुशीललक्षणसम्पन्नश्रुतवान् अरोगः इति वरसम्पत्।
आप० गृ० सू० ३।२०

३. बौ० गृ० सू० ४।१।१२

४. कुलं च शीलं च वपुर्यशश्च; विद्यां च वित्तं च सनाथतां च।
एतान्गुणान् सप्त परीक्ष्य देया, कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम्॥
स्मृ० च० पृ० ७८ में यम का उद्धृत वचन।

पर्याप्त मानी जाती थी। वृहत्पराशर—संहिता के अनुसार वर में इन आठ गुणों का होना अभीष्ट है :—जाति, विद्या, यौवन, बल, स्वास्थ्य, बन्धु-बान्धवों की सहायता, उत्साह तथा धन-सम्पत्ति। कालिदास ने भी इसका समर्थन किया है१।

कुल का महत्त्व—शास्त्रकारों ने वर और वधू दोनों की कुलीनता को प्रथम स्थान दिया है। कुल की शुद्धि विना हुये वर-वधू के अनेक गुण भी बालू की भीत के समान निराधार तथा निःसहाय होते हैं। कुल की शुद्धि के संबंध में हमारे शास्त्रकारों का इसीलिये आग्रह है कि वर-वधू के चरित्र पर उनके कुल का बहुत ही बड़ा प्रभाव पड़ता है। अतः मनु ने अच्छे कुल को विशेष महत्त्व दिया है। उनका कथन है कि जो मनुष्य अपने कुल की उन्नति तथा प्रतिष्ठा चाहता है उसके लिये आवश्यक है कि अच्छे कुल वाले पुरुषों के साथ अपना वैवाहिक संबंध स्थापित करे२। मनु ने दस ऐसे कुलों का उल्लेख किया है जो पशु और सम्पत्ति से युक्त होने पर भी विवाह के लिये नितान्त वर्जनीय हैं३। वे कुल ये हैं :—(१) जिसमें संस्कार नहीं होता; (२) जिसमें कोई पुत्र न हो; (३) जिसमें वेद का अध्ययन न होता हो, (४) जिस कुल के पुरुषों के शरीर में बालों की अधिकता हो, (५) जो बवासीर, (६) क्षय, (७) अजीर्ण (८) जलोदर, (९) श्वेत कुष्ट आदि रोगों से आक्रान्त हों। कुल के ऊपर इतना अधिक जोर शास्त्रकारों के द्वारा देने का महत्व

१. गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेति तावत्प्रथमः संकल्पः। शकुन्तला अङ्क ४ पृ० ११८।

२. उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं संबंधानां चरेत्सह।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमाधमांस्त्यजेत् ॥ म० स्मृ० ४।२४४

३. महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः।
स्त्रीसंबंधे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ म० स्मृ० ३।६
हीनक्रियं, निष्पुरुषं, निश्छन्दोरोमशार्शसम्।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानिच ॥ वही ३।७

यही है कि मनुष्यों के जीवन पर उनके कुल का बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ता है। इस बात को हारीत ने भी स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है१। महाकवि बाणभट्ट ने हर्षचरित में हारीत के मनोहारी वचन का समर्थन इस कथन से किया है कि वर में अन्य गुणों के रहने पर भी बुद्धिमान् लोग कुल को ही अधिक गौरव एवं महत्व प्रदान करते हैं२। इतना होने पर भी किन्हीं विशेष अवस्थाओं में इस नियम का अपवाद भी हो सकता है। वधू यदि स्त्रियों में रत्न हो तो कुलीन न होने पर भी उसको ग्रहण करने में कुछ दोष नहीं है३। याज्ञवल्क्य ने भी दस पीढ़ी तक दोषहीन कुटुम्ब को विवाह के योग्य माना है४। इस विषय में इनका मत आश्वलायन श्रौत सूत्र के समान ही है जिसके अनुसार माता और पिता दोनों कुलों को दस पीढ़ियों तक विद्या, तप तथा पुण्य कर्मों के द्वारा विशुद्ध होना आवश्यक है५। याज्ञवल्क्य ने (१।५५) वर के पुंस्त्व से सम्पन्न होने पर विशेष जोर दिया है। इस श्लोक की मिताक्षरा टीका में नारद का वचन उद्धृत किया गया है जिसमें पुंस्त्व-सम्पन्न पुरुष के लक्षण दिये गये हैं और चौदह प्रकार के नपुंसक पुरुषों का उल्लेख

---

१. कुलानुरूपाः प्रजाः संभवन्ति। सं० प्र० (पृ० ५८९) में हारीत का वचन।

२. प्रायेण च सत्स्वप्यन्येषु वरगुणेष्वभिजनमेवानुरुध्यन्ते धीमन्तः।
ह० च०, उच्छ्वास ४

३. श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ २।२३८

४. दशपूरुषविख्याताच्छ्रोत्रियाणां महाकुलात्।
स्फीतादपि न संचारिरोगदोषसमन्वितात् ॥ या० स्मृ० १।५४

५. ये मातृतः पितृतश्च दशपूरुषं समनुष्ठिता विद्यातपोभ्यां पुण्यैश्च कर्मभिर्येषामुभयतो वा ब्राह्मण्यं निनयेयुः पितृतश्चेके।
आश्व० श्रौ० सू० ६।२

किया गया है१। नपुंसक पुरुष विवाह के लिये सर्वथा अग्राह्य माना गया है। इसके अतिरिक्त वर में अन्य भी दोष होते हैं। कात्यायन के अनुसार पागल, पतित, कुष्ठ, रोगी, सगोत्र, नेत्र तथा कान से विहीन तथा अपस्मारी (मृगीरोग से पीड़ित) वर विवाह के लिए अत्यन्त निन्दनीय ठहराया गया है२। यदि ये दोष कन्याओं में हों तो वे भी वर्जनीय हैं। मनु और याज्ञवल्क्य ने नपुंसक व्यक्ति को विवाह के लिये सर्वथा अयोग्य बतलाया है;३ परन्तु ऐसे लोग भी कभी कभी विवाह करते थे और नियोग से उत्पन्न होने वाली इनकी सन्तान उसी प्रकार से सम्पत्ति की अधिकारिणी मानी जाती थी जैसे औरस पुत्र४।

---

१. एतैरेव गुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियो वरः।
यत्नात्परीक्षतः पुंस्त्वे, युवा, धीमान्, जनप्रियः॥ १।५५

नपुंसक पुरुष की परीक्षा के उपाय—

यस्याप्सु प्लवते वीजं ह्रादि मूत्रं च फेनिलम्।
पुमान्स्याल्लक्षणैरेतैः विपरीतैस्तु षण्ढकः॥
ह्रादि फेनिलमूत्रश्च गुरुशुक्रर्षभस्वरः।
पुमान्स्यादन्यथा पाण्डुदुश्चिकित्स्यो मुखे भगः॥
या० स्मृ० १।५५ की मिताक्षरा में नारद का वचन

२. उन्मत्तः, पतितः, कुष्ठी; यथा षण्ढः सगोत्रजः।
चक्षुः श्रोत्रविहीनश्च, तथाऽपस्मारदूषितः॥
वरदोषाः स्मृताः ह्येते, कन्यादोषाश्च कीर्तिताः॥ स्मृ० च० पृ०५९

३. या० स्मृ० १।५५

४. यद्यर्थिता तु दारैस्यात्क्लीवादीनां कथञ्चन।
तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति॥ म० स्मृ० ९।२०३
औरसाः क्षेत्रजास्त्वेषां निर्दोषाः भागहारिणः।
सुताश्चैषां प्रभर्तव्या यावद्वै भर्तृसात्कृताः॥ या० स्मृ० २।१४१

शास्त्रकारों के इन वचनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे विवाह के लिये सुयोग्य वर को चुनने के पक्ष में थे। भारतीय समाज विवाह के ऊपर अवलम्बित है। पिता में ही यदि सद्गुणों का अभाव हो तो उसकी सन्तान में उत्तम गुणों का अभाव होना स्वाभाविक ही है। वर को केवल शारीरिक तथा मानसिक गुणों से ही सम्पन्न होना आवश्यक नहीं है बल्कि उसके लिए पुंस्त्व से युक्त होना भी उसी प्रकार अनिवार्य है। हमारे धर्माचार्यों ने नपुंसक को विवाह करने की आज्ञा न देकर समाज का बहुत बड़ा उपकार किया है। पतित, नीच, रोगी तथा दुर्बलेन्द्रियों के विवाह का निषेध करने में उनका यही आशय है कि राष्ट्र की सन्तान सदा बलिष्ठ और पराक्रमी हो; निर्बल तथा कायर कदापि न हो। प्राचीन ग्रीस देश के स्पार्टा के 'सिटी स्टेट' में विवाह करने की स्वतन्त्रता सभी मनुष्यों को प्राप्त नहीं थी। केवल वही पुरुष विवाह कर सन्तानोत्पत्ति करने का अधिकारी समझा जाता था जो बलिष्ठ तथा नीरोग होता था। आधुनिक युग में भी राष्ट्र के नायक तथा देश के नेता इस तथ्य को अच्छी तरह से स्वीकार करते हैं कि किसी राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने के लिए बलिष्ठ सन्तान की उत्पत्ति अत्यन्त आवश्यक है। इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जर्मनी देश के सुप्रसिद्ध अधिनायक (डिक्टेटर) हर हिटलर—जिसने द्वितीय विश्वयुद्ध में अपनी प्रबल विजय वाहिनी के द्वारा समस्त विश्व को कम्पायमान कर दिया था—ने यह कठोर आदेश प्रवर्तित किया था कि कोई भी निर्वीर्य, निर्बल तथा नपुंसक व्यक्ति विवाह नहीं कर सकता। वह ऐसे व्यक्तियों को बलात्कार "छलुआ" बना देता था जिससे ये लोग निर्बल सन्तान कदापि उत्पन्न न कर सकें। नपुंसक बनाने की यह प्रक्रिया 'कास्ट्रेशन' (Castration) के नाम से प्रसिद्ध थी। इस विश्वयुद्ध में फ्रांस के पतन के कारणों की मीमांसा करते हुए इस देश के

राष्ट्रपति चार्ल्स डिगाल ने बतलाया था कि फ्रांस में बलिष्ठ पुरुषों की अधिकता का अभाव ही हमारी पराजय का सर्व प्रधान कारण है। कहने का आशय यह है कि बलिष्ठ सन्तान को उत्पन्न करने के महत्व को आज को राष्ट्र-नायक भी स्वीकार करते हैं जिसका प्रतिपादन हमारे आचार्यों ने हजारों वर्ष पहिले अपनी सूक्ष्म बुद्धि तथा तत्वभेदी प्रज्ञा से किया था।

आज से कई हजार पूर्व हमारे आचार्यों ने राष्ट्र की इसी पौरुष शक्ति (Man power) को ध्यान में रखते हुए उपर्युक्त प्रकार के विवाहों का निषेध किया था। हमारे धर्माचार्य इस तथ्य से पूर्णतया अवगत थे कि यदि राष्ट्र में पौरुष, सामर्थ्य एवं शक्ति की प्रतिष्ठा करनी है, यदि इस देश को शक्तिशाली, बलिष्ठ और वीर-पुरुषों की जन्म-भूमि बनाना है तो शरीर से पुष्ट सन्तान को ही उत्पन्न करना चाहिए। इसलिए उन्होंने निर्वीर्य और नपुंसक के विवाह को नितान्त वर्जित तथा निषिद्ध बतलाया है।

(२) कन्या की पात्रता—विवाह-सम्बन्ध में वधू की योग्यता का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। इसका कारण यह है कि सन्तानोपत्ति के लिए क्षेत्र की विशुद्धि नितांत आवश्यक है। बीज की शुद्धि होना तो अभीष्ट है ही परन्तु इससे अधिक आवश्यक है क्षेत्र का शुद्ध होना। धर्मशास्त्र में कन्या के लिए प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द 'क्षेत्र' है। बीज में यदि कोई बुराई भी हो तो भी उसे सुन्दर क्षेत्र में डालने पर उसका फल अच्छा ही होता है। इसीलिए मनु ने क्षेत्र की बड़ी प्रशंसा की है तथा उसकी शुद्धि पर विशेष बल दिया है[१]।

बाह्य गुण—कन्या में दो प्रकार के शुभ लक्षण होने चाहिये। (१) बाह्य (बाहरी जैसे रूप, आकार), (२) आभ्यन्तर (भीतरी—जैसे आचरण, शील

---

१. क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजी क्षेत्रमर्हति। म० स्मृ०

आदि)। आपस्तम्ब गृह्य-सूत्र में यह एक साधारण सा नियम पाया जाता है कि वह कन्या जिसको देखकर नेत्र और चित्त दोनों समभाव से आकृष्ट हों वही सौभाग्यवती होती है१। कामसूत्र (३।१।१४) ने इसी नियम को इन्हीं शब्दों में उद्धृत किया है। भा० गृ० सू० (१।११) में एक प्राचीन श्लोक का उद्धरण दिया गया है जिसके अनुसार कन्या के सौन्दर्य को ही आकर्षण का प्रधान कारण बतलाया गया है२। शास्त्रकारों ने कन्या के चुनाव के लिए कतिपय शारीरिक लक्षणों को आवश्यक बतलाया है। शतपथ ब्राह्मण में भी वही कन्या आकर्षक मानी गयी है जिसके नितम्ब बड़े हों और कटि पतली हो३। मनु (३।८-१०) तथा विष्णुधर्म सूत्र (२४।१२-१६) के अनुसार उस कन्या से कदापि विवाह नहीं करना चाहिये जिसके बाल भूरे रंग के हों; जिसके शरीर पर अधिक बाल हों अथवा बाल बिल्कुल न हों, जिसके अङ्ग विकृत हों, जो बहुत वाचाट (बक बक करने वाली) हो। इसके विपरीत उस कन्या से विवाह करना प्रशस्त है जिसमें कोई भी दोष न हो, जिसके शरीर में बाल कम हों, दाँत छोटे हों और शरीर सुकुमार हो४। इसी प्रकार

---

१. यस्यां मनश्चक्षुषोर्निबन्धस्तस्यामृद्धिर्नेतरदाद्रियेतेत्येके। आप० गृ० सू० ३।२१

२. यस्यां मनो नु रमते, चक्षुश्च प्रतिपद्यते।
तां विद्यात्पुण्यलक्ष्मीकां, किं ज्ञानेन करिष्यति॥

३. श० ब्रा० १।२।५।१६

४. नोद्वहेत् कपिलां कन्यां, नाधिकाङ्गीं, न रोगिणीम्।
नालोमिकां, नातिलोमां, न वाचाटां, न पिङ्गलाम्॥ म० स्मृ० ३।८
अव्यङ्गाङ्गीं, सौम्यनाम्नीं, हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां, मृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम्॥ म० स्मृ० ३।१०

विष्णु पुराण (३।१०।१८-२२) में भी कन्या के शारीरिक लक्षणों पर बहुत विचार किया गया है। वही कन्या विवाह के योग्य मानी गयी है जिसकी ठुड्डी पर बाल न उगा हो, जिसकी बोली कौवे की तरह कर्कश न हो, जो कद में बहुत छोटी भी न हो, और न बहुत लम्बी ही हो१। ऊपर वर्णित स्त्रियों के शारीरिक लक्षण केवल सौन्दर्य उत्पन्न करने वाले ही नहीं माने गये हैं प्रत्युत ये सौभाग्य के भी सूचक हैं।

मनु२ (३।६) तथा आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र३ (३।१३) का कथन है कि जिस कन्या का विवाह होने वाला हो उसका नाम नक्षत्र (रेवती, आर्द्रा, विशाखा) नदी (गंगा, यमुना) वृक्ष, पर्वत, पक्षी, साँप आदि के नाम से संयुक्त न होना चाहिए और न ऐसा ही हो जो सुनने में अत्यन्त भयानक लगे। आ० गृ० सू० (३।१४) तथा कामसूत्र (३।१।१३) में लिखा है कि विवाह के लिए ऐसी कन्या को कदापि नहीं चुनना चाहिए जिसके नाम का उपान्त्य वर्ण 'र' या 'ल' हो४। जैसे गौरी, कमला, विमला, रामप्यारी आदि।

---

१. न दुष्टां, दुष्टवाक्यां वा व्यङ्गिनीं पितृमातृतः।
न श्मश्रुव्यंजनवतीं, न चैव पुरुषाकृतिम्॥

२. नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं, नान्त्यपर्वतनामिकाम्।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं, न च भीषण नामिकाम्॥ म० स्मृ० ३।९

३. नक्षत्रनामा, नदीनामा; वृक्षनामाश्च गर्हिताः।
सर्वाश्च रेफलकारोपान्ता वरणे परिवर्जयेत्॥
आ० गृ० सू० ३।१३-१४

४. नक्षत्राख्यां नदीनाम्नीं, वृक्षनाम्नीं च गर्हिताम्।
लकाररेफोपान्तां च, वरणे परिवर्जयेत्॥ कामसूत्र ३।१।१३

नारद ने कन्याओं के निम्नांकित दोषों का वर्णन किया है१ :—

चिर रोग से ग्रसित, अङ्ग से हीन, पर पुरुष से सम्बन्ध रखना, दुष्टा तथा दूसरे में प्रेम। आप० गृ० सू० (३।११-१८) ने स्त्रियों के अन्य दोषों का वर्णन करते हुए लिखा है कि ऐसी कन्या अग्राह्य है जो अतिशय निद्रालु, रोदनशील तथा चञ्चला हो। मार्कण्डेय पुराण (३४।७६-७७) में कन्या के गुण-दोषों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन दिया गया है।

आभ्यन्तर गुण—आश्वलायन गृह्यसूत्र में लिखा है कि कन्या में प्रधानतया चार बातें होनी चाहिये—धन, रूप, बुद्धि और कुल। यदि ये चारों चीजें न मिलें तो प्रथमतः धन की उपेक्षा की जा सकती है। इसके बाद में सौन्दर्य की उपेक्षा की जा सकती है यदि उस कन्या में बुद्धि तथा कुलीनता विद्यमान हो। परन्तु बुद्धि तथा कुलीनता में कौन अधिक श्रेयस्कर है इस विषय में विवाद है। कोई बुद्धि को आवश्यक मानते हैं तो कोई कुल को२।

कन्या के चुनाव की पद्धति—कुछ गृह्यसूत्रों में कन्या के चुनाव के सम्बन्ध में विचित्र पद्धति का वर्णन पाया जाता है। आपस्तम्ब गृह्य सूत्र में यह लिखा है कि शुभ लक्षणों से सम्पन्न कन्या का वरण करना चाहिये परन्तु अच्छे लक्षणों का जानना अत्यन्त कठिन है। अतः सुन्दर तथा सौभाग्यशालिनी कन्या को

---

१. दीर्घकुत्सितरोगार्ता, व्यङ्गा संसृष्टमैथुना।
दुष्टान्यगतभावा च कन्यादोषाः प्रकीर्तिताः॥ (स्त्री पुंसंयोग ३६)

२. चत्वारि विवाहकारणानि वित्तं, रूपं, प्रज्ञा, बान्धवमिति तानि चेत् सर्वाणि न शक्नुयात् वित्तमुदस्येत्ततो रूपं; प्रज्ञायां च तु बान्धवे च विवन्दते। बान्धवमुदस्येत्येके आहुः, अप्रज्ञे न हि कः संवासः।

आ० गृ० सू० १।११

चुनने के लिए निम्नांकित आठ स्थानों से मिट्टी का कुछ भाग ले आना चाहिए—ऐसे खेत से जिसमें साल में दो फसल होती हो; गोशाला से; यज्ञान्त के बाद किसी वेदी से; ऐसे तालाब से जिसका पानी नहीं सूखता; द्यूत-स्थान से; चौरास्ते से; ऊसर स्थान से, और स्मशान भूमि से। इन मिट्टियों के लाने पर वर को यह मन्त्र पढ़ना चाहिए[१] :—

"ऋतमग्रे प्रथमं यज्ञ ऋते सत्यं प्रतिष्ठितं, यदियं कुमार्यभिजाता तदियमिह प्रतिपद्यतां, यत् सत्यं तद् दृश्यतामिति।"

तब वर कन्या से कहे कि इनमें से मिट्टी के किसी एक टुकड़े को ले लो। फिर वह कन्या जिस टुकड़े को उठावे उसी के अनुसार क्रमपूर्वक यह समझना चाहिये कि उसके पुत्र धनी होंगे, सन्तति पशुओं से सम्पन्न, आध्यात्मिक उन्नति से युक्त, सब वस्तुओं से सम्पन्न, शराबी या निर्धन होगी अथवा यह कन्या अपने पति की मृत्यु की कारण होगी[२]। गोभिल गृ० सू० (२।१।४-६) तथा लौगाक्षी गृह्यसूत्र (१४।४-७) में भी इसी विषय का वर्णन मिलता है। परन्तु आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में एक दूसरी ही प्रथा का उल्लेख पाया जाता है। इसके अनुसार वर तथा कन्या पक्ष वालों की स्वीकृति होने पर वर अथवा उसके संबंधियों को अपने हाथ में मिट्टी का एक टुकड़ा—जिसमें अनेक प्रकार के बीज (चावल, जव, गेहूँ) रक्खे हों,—लेना चाहिये। फिर वह दूसरा टुकड़ा जिसमें वेदी की भस्म हो, तीसरा टुकड़ा जिसमें गोबर हो, चौथा टुकड़ा जो जोते गये खेत का हो तथा पाँचवाँ टुकड़ा जो श्मशान भूमि का हो अपने हाथ में लेकर कन्या के सामने रक्खे और उनमें से किसी को छूने के लिए कन्या से कहे। यदि वह कन्या इनमें से प्रथम

---

१. आ० गृ० सू० १।४।१२

२. गोष्ठात् पशुमती; वेदिपुरीषाद् ब्रह्मवर्चस्विनी; अविदासिनो ह्रदात् सर्वसम्पन्ना; देवनात् कितवी; चतुष्पथात् विप्रव्राजिनी; इरिणादधन्या; श्मशानात् पतिघ्नी। आप० गृ० सू० १।४।१४-२०

चार टुकड़ों में से किसी को स्पर्श करती है तो यह भावी सौभाग्य तथा ऐश्वर्य का सूचक समझा जाता है। परन्तु पाँचवें टुकड़े को स्पर्श करना अत्यन्त गर्हणीय माना जाता है१। वाराह गृह्यसूत्र (१०) तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र (१।११) में भी इसी प्रकार के मिट्टी के टुकड़ों के स्पर्श करने का वर्णन पाया जाता है२। प्राचीन काल में किसी के भाग्य की परीक्षा करने के लिए इसी प्रकार के अनेक प्रयोग किये जाते थे। अतः विवाह के सम्बन्ध में कन्या के भावी सौभाग्य तथा ऐश्वर्य की परीक्षा उपर्युक्त विधि से करना स्वाभाविक ही था।

वर तथा कन्या की अवस्था में अनुपात—वर तथा कन्या की आयु में क्या अनुपात होना चाहिये इसके विषय में गृह्यसूत्रों का मत एक समान है। गौ० गृ० सू० (४।१) वशिष्ठ गृ० सू० (८।१) मा० गृ० सू० (१।७।८) तथा या० स्मृ० (१।५२) में लिखा है कि वर से कन्या आयु में अवश्य कम (यवीयसी) होनी चाहिए३। कामसूत्र (३।१।२) से पता चलता है कि कन्या वर से आयु में कम से कम तीन वर्ष छोटी होनी चाहिए४। याज्ञवल्क्य (१।५२) की टीका पर मिताक्षरा ने 'यवीयसी' का अर्थ स्पष्ट करते हुये लिखा है कि 'कन्या

---

१. शक्तिविषये द्रव्याणि प्रतिच्छन्नान्युपनिधाय ब्रूयादुपस्पर्शेति। नाना-बीजानि संसृष्टानि वेद्याः पांसून्, क्षेत्राल्लोष्टं, शकृच्छ्मशानलोष्टमिति। पूर्वेषामुपस्पर्शने यथालिङ्गमृद्धिः उत्तमं परिचक्षते। ३।१५-१८

२. आ० गृ० सू० १।११

३. (क) गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देतानन्यपूर्वां यवीयसीम्।
गौ० गृ० सू० ४।१

(ख) गृहस्थो विनीत क्रोधहर्षो·········अस्पृष्टमैथुनामवरवयसीं सदृशीं भार्यां विन्देत। व० गृ० सू० ८।१

४. त्रिवर्षात् प्रभृति न्यूनवयसाम्। कामसूत्र ३।१।२

वर से आयु तथा कद दोनों में छोटी' होनी चाहिये१। मनु ने लिखा है कि ऐसी कन्या से विवाह करना चाहिए जो कुमारी हो तथा उसी जाति की हो२।

भ्रातृहीन कन्या से विवाह का निषेध—मानव गृह्य सूत्र (१।७।८), मनु स्मृति (३।११) तथा या० स्मृ० (१।५३) का आदेश है कि भ्रातृहीन कन्या से विवाह न किया जाय। मनु ने स्पष्ट ही लिखा है कि जिस कन्या का भाई न हो तथा जिसके पिता का पता न चले ऐसी कन्या से चतुर मनुष्य को विवाह नहीं करना चाहिए। भ्रातृहीन कन्या के साथ विवाह के निषेध की परम्परा अति प्राचीन काल से चली आ रही है। ऋग्वेद में लिखा है कि जिस प्रकार भ्रातृहीन कन्या अपने पिता के कुल में लौटकर आती है उसी प्रकार से उषा अपनी प्रभा का प्रकाश करती है। अथर्ववेद (१।१७।१) का कथन है कि "भ्रातृहीन कन्या की भाँति उनको प्रभा से रहित बैठने दो।" प्राचीन भारत में जब किसी व्यक्ति को पुत्र पैदा नहीं होता था तब वह अपनी कन्या को ही पुत्र के समान मानता था। वह 'पुत्रिका' हो जाती थी। पिता उस पुत्री के पति से यह शर्त करा लेता था कि उस कन्या से जो पुत्र उत्पन्न होगा वह अपने नाना को पिण्ड देगा। इसका परिणाम यह होता था कि ऐसी कन्या से उत्पन्न पुत्र अपने पितामह के कुल का न होकर मातामह के वंश का होता था। इसीलिये शास्त्रकारों ने भ्रातृहीन कन्याओं के विवाह का प्रबल निषेध किया है। मनु ने "नोपयच्छेत् तां प्राज्ञः, पुत्रिकाधर्मशङ्कया" जो लिखा है उसका भी यही अभिप्राय है। ऋग्वेद में (२।१७।७) ऐसी कन्याओं का उल्लेख मिलता है जो भ्रातृहीन होने के कारण अपने पिता के घर में ही बूढ़ी

---

१. अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।

अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम्॥ याज्ञ० १।५२

२. गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा, समावृत्तो यथाविधि।

उद्वहेत् द्विजो भार्यां, सवर्णां लक्षणान्विताम्॥ ३।४

हो गई परन्तु उनका विवाह न हो सका१। वशिष्ठ धर्मसूत्र (१७।१६) में एक श्लोक का उद्धरण मिलता है जिसमें पिता अपने भावी जामाता से कहता है कि इस मातृहीन कन्या को मैं तुम्हें देता हूं परन्तु इससे जो पुत्र पैदा होगा वह मेरा पुत्र होगा२।

भ्रातृहीन कन्या से विवाह न करने का जो विधान शास्त्रकारों ने किया है उसका आशय यही जान पड़ता है कि प्रथमतः वह कन्या 'पुत्रिका' हो जाती थी अर्थात् उससे उत्पन्न सन्तति अपने पितामह के कुल का परित्याग कर मातामह (नाना) के कुल की हो जाती थी। दूसरा कारण सम्भवतः यह भी था कि चूँकि उक्त कन्या के पिता को कोई पुत्र नहीं है अतः सम्भवतः इस कन्या को भी कोई पुत्र उत्पन्न न हो। अतः इन कारणों से प्राचीन काल में मातृ-हीन कन्याओं का विवाह कठिन था। परंतु मध्यकाल में यह नियम धीरे धीरे शिथिल होता गया। आजकल की दशा तो इसके ठीक विपरीत है। अनेक लोग जानबूझ कर ऐसी ही कन्याओं से विवाह करना अधिक पसन्द करते हैं जिसको कोई भाई न हो और जिसका पिता धनी हो जिससे ससुर की सारी सम्पत्ति जामाता को ही मिल जाय।

ऊपर जो विवरण प्रस्तुत किया गया है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में विवाह के अवसर पर कन्या के चुनाव पर कितना अधिक ध्यान दिया जाता था। हमारे शास्त्रकारों ने जहाँ दुबले, रोगी, पुंस्त्व-हीन पुरुषों के विवाह का निषेध करके राष्ट्र को प्रबल तथा शक्तिशाली बनाने का

---

१. अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम्॥
ऋ० वे० २।१७।७

२. अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम्।
अस्यां यो जायते पुत्रः, स मे पुत्रो भवेदिति॥

प्रयत्न किया; वहाँ सुन्दरी, सुशील, प्रियवादिनी तथा सुलक्षणा कन्या के विवाह का विधान कर भारतीय पारिवारिक जीवन को सुखी बनाने का प्रशंसनीय कार्य किया है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि उन्होंने स्त्रियों के वाह्य तथा आभ्यन्तर गुणों पर समान रूप से जोर दिया है। उनके मत से कन्या का मनोरमा (मन को आकृष्ट करने वाली) होना उतना ही आवश्यक है जितना उसका सुशीला होना। चूँकि भारतीय समाज में गृहिणी ही गृह मानी जाती है अतः उसका चुनाव बड़ी छानबीन के बाद करना आवश्यक तथा स्वाभाविक ही था।

(ख) विवाह को निश्चित करने में वधू का हाथ

अब इस विषय पर विचार करना है कि प्राचीन काल में विवाह के निश्चित करने में कन्या का कितना अधिकार था। यह पहले बतलाया गया है कि वैदिक काल में कन्याओं का विवाह प्रौढ़ावस्था में होता था। अतः अपने भावी पति को चुनने में उनका प्रधान हाथ होना नितान्त स्वाभाविक ही था। वैदिक साहित्य के अध्ययन से इस बात का पता चलता है कि उस समय में विवाह-संबंधी विषयों में माता पिता कभी भी हस्तक्षेप नहीं करते थे यद्यपि विवाह का आर्थिक भार उन्हीं को ही उठाना पड़ता था। ऋग्वेद में सुन्दर कन्याओं के द्वारा पतियों के वरण करने का उल्लेख पाया जाता है[१]। ऋग्वेद के विवाह-सूक्त में पति को चाहने वाली कन्याओं का वर्णन मिलता है[२]। अथर्ववेद से अनेक तन्त्रों तथा मन्त्रों का पता चलता है जिनका प्रयोग कन्यायें

---

१. भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्।

ऋ० वे० १०।२७।१२

२. अन्यामिच्छ प्रफर्व्यां सं जायां पत्या सृज १०।८५।२२

सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सवितादवात्। १०।८५।९

पति को वश में करने के लिए तथा अपने को स्त्री रूप में स्वीकार करने के लिए किया करती थीं। इन सब उद्धरणों से पता चलता है कि वैदिक समय में कन्यायें अपना विवाह करने में स्वतन्त्र थीं तथा इस विषय में माता पिता का नियन्त्रण उनके ऊपर बिल्कुल नहीं था।

समाज ने जब वयस्क कन्याओं को अपने पति को चुनने में स्वतंत्र होने का अधिकार दे दिया तब गान्धर्व-विवाह की वृद्धि होने लगी। गान्धर्व विवाह में कन्या को पति चुनने की पूरी स्वाधीनता रहती थी और वह अपने जीवन के सङ्गी को स्वेच्छा से वरण कर सकती थी। महाभारत, रामायण तथा संस्कृत साहित्य में इसके अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। कुछ लेखकों ने तो यहाँ तक लिखा है कि विवाह के सम्बंध में कन्या ही अधिकारिणी है न कि उसके माता और पिता। महाभारत में दुष्यन्त ने शकुन्तला से स्पष्ट ही कहा था कि आत्मा ही अपना बन्धु है, आत्मा ही अपनी गति है। अतः तुम स्वयं ही—अपने द्वारा ही—अपना दान, धैर्य के अनुसार कर सकती हो१। सूर्य ने भी कुन्ती से यही प्रार्थना की थी कि ए सुन्दर स्मितवाली! न तो तुम्हारे माता, न पिता, और न गुरु तुमको विवाह—रूपी—दान में देने में समर्थ हैं। अतः तुम अपना दान स्वयं कर सकती हो२। रामायण में सूर्पनखा ने राम से विवाह करने का जो प्रस्ताव उनके सामने रक्खा है उससे भी इसी कथन की

---

१. आत्मनो बन्धुरात्मैव, गतिरात्मैव चात्मनः।
आत्मनैवात्मनो दानं, कर्तुमर्हसि धर्मतः॥ म० भा० १।९४।२४

२. न ते पिता, न ते माता; गुरवो वा शुचिस्मिते।
प्रभवन्ति प्रदाने ते, भद्रं ते श्रृणु मे वचः॥ म० भा० ३।३।८

पुष्टि होती है१। उसने राम से बड़ी दृढ़ता से अपने को भार्या रूप में ग्रहण करने की प्रार्थना की है। कालिदास ने (कृतक) पिता कण्व की अनुपस्थिति में भी शकुन्तला द्वारा दुष्यन्त से गान्धर्व विवाह कराने का वर्णन किया है तथा शकुन्तला के इस कार्य का समर्थन राजा के द्वारा करवाया है२।

स्वयम्वर की प्रथा—प्राचीनकाल में राजकुलों में कन्याओं के विवाह के लिए स्वयम्वर की प्रथा विद्यमान थी। 'स्वयम्वर' शब्द का शाब्दिक अर्थ है पति को स्वयं वरण करना अर्थात् चुनना। जब किसी राजा को अपनी कन्या का विवाह करना होता था तब वह देश-विदेश के सभी राजाओं को इसकी सूचना देता था। देश विदेश के राजा बड़े ठाट बाट के साथ उस स्वयम्वर में आते थे और उस राजकन्या से विवाह की आशा करते थे। स्वयम्वर में सब राजाओं के अपने अपने स्थानों पर बैठ जाने पर राजा की कन्या अपने हाथ में जयमाल लिये दासियों के साथ वहाँ पर आती थी। दासी प्रत्येक राजा का परिचय तथा उसके गुणों का वर्णन करती जाती थी। अन्त में वह कन्या अपने अनुरूप तथा अनुकूल पति समझ कर जिसे पसन्द करती थी उसीके गले में जयमाल डाल देती थी और उस राजा से विवाह हो जाता था। पिता उसकी स्वतन्त्र इच्छा में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुंचाता था। कालिदास ने रघुवंश में इन्दुमती का तथा श्रीहर्ष ने नैषधीय-चरित में दमयन्ती के स्वयम्वर का बड़ा सुन्दर तथा रोचक वर्णन किया है। स्वयम्वर की प्रथा यद्यपि यह केवल राजघरानों में ही सीमित थी—बहुत दिनों तक प्रचलित

१. चिराय भव भर्ता मे सीतया किं करिष्यसि। रामायण, अरण्य का० १७।२५—
विकृता च विरूपा च न चेयं सदृशी तव।
अहमेवानुरूपा ते, भार्या रूपेण पश्य माम्॥ वही १७।२६

२. गान्धर्वेण विवाहेन; बह्वयो राजर्षिकन्यकाः।
विधिवत् परिणीतास्ताः; पितृभिश्चाभिनन्दिताः॥ शकु० ३।२०.

रही। जयचन्द्र की पुत्री संयोगिता के स्वयम्बर की कथा ऐतिहासिकों से छिपी नहीं है जिसमें उसने अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध पृथ्वीराज का वरण किया था।

इस प्रथा का ह्रास—परन्तु कालान्तर में परदे की प्रथा की वृद्धि तथा कन्याओं के विवाह-वय में कमी हो जाने के कारण स्वयम्वर की प्रथा धीरे धीरे लुप्त होने लगी और कन्याओं के द्वारा स्वयं पतियों का वरण धर्म विरुद्ध समझा जाने लगा। अग्नि पुराण से पता चलता है कि उस समय में यह प्रथा किसी प्रकार से मान्य थी१ परन्तु ब्रह्म पुराण ने निश्चित रूप से इस प्रथा को अमान्य ठहराया है तथा पिता के रहते हुये स्वयं पति को चुनने वाली कन्या को नीच तथा पतित कहा है२। कालान्तर में पतियों का स्वयं वरण करना इतना निंदित समझा जाने लगा कि अनेक कन्याओं ने पुरुषों के प्रेम में फँस कर भी उनसे स्वयं विवाह करने का साहस नहीं किया। सुवर्चला ने श्वेतकेतु से यह स्वीकार कर लिया कि मैं आपके प्रेम-बंधन में बँध गयी हूँ परंतु विवाह के संबंध में उसने उनसे प्रार्थना की कि आप मेरे पिता से इसकी चर्चा कीजिये३। रामायण में भी यह वर्णन मिलता है कि कुशनाभ की कन्याओं ने वायुदेव से प्रार्थना की कि यदि आप हम लोगों से विवाह करना चाहते हैं तो हमारे पिता से कहिये। हम लोग आपसे स्वयं विवाह

---

१. अदण्ड्या स्त्री भवेद्राज्ञा वरयन्ती स्वयं पतिम्। २२६।४१

२. यस्माद् वृतवती चेयं पतीन्पितृमती सती।
स्वतन्त्रा धर्ममुत्सृज्य, तस्माद् भवतु निम्नगा ॥ ब्र० पु० अध्याय २१९

३. मनसापि वृतो विद्वन् शेषकर्ता पिता मम।
वृणीष्व पितरं मह्यमेष वेदविधिः स्मृतः ॥ म० भा० २२४।३८

करके पिता का अनादर करना नहीं चाहतीं। पिता हम लोगों को जिसे दानरूप में दे देंगे वही हमारा पति होगा१। कथासरित्सागर में एक कथा मिलती है जिसकी नायिका अपने प्रेमी से यह कहती है कि आप विवाह का प्रस्ताव मेरे पिता से कीजिये क्योंकि मैं इस कार्य के लिये स्वतन्त्र नहीं हूँ२। पर्दे की प्रथा बढ़ने के कारण क्रमशः इस प्रथा का लोप होने लगा। आज कल की दशा तो पहिले से ठीक विपरीत हो गयी है। इस समय कन्या के विवाह का निर्णय उसका पिता, भाई या अन्य सम्बन्धी करते हैं। कन्या से इस विषय में तनिक भी सम्मति नहीं ली जाती। इसका परिणाम यह होता है कि सुयोग्य कन्याओं का विवाह अयोग्य वरों से हो जाता है और फलस्वरूप उन्हें जीवन भर दुःख भोगना पड़ता है।

कोर्ट-शिप—यह बड़ी ही मनोरजंक बात ज्ञात होती है कि आज कल के यूरोपियन समाज की भाँति प्राचीन भारत में भी कोर्टशिप की प्रथा प्रचलित थी। पश्चिमी समाज में लज्जा तथा परदे का अभाव है। वहाँ विवाह के पूर्व वर और वधू एक साथ खेलते, खाते, हँसते, कूदते, गाते और नाचते हैं। प्राचीन भारत में भी ऐसी प्रथा विद्यमान थी परन्तु वह इतनी उच्छृङ्खल तथा समाज की मर्यादा के बाहर जाने वाली नहीं थी। हार्दिक-प्रेम तथा स्वेच्छा से किये गये विवाहों का विस्तृत वर्णन कामसूत्र (३।५) में पाया

---

१. मा भूत् स कालो दुर्मेधः, पितरं सत्यवादिनम्।
अवमन्य स्वधर्मेण स्वयम्वरमुपास्महे ॥ रामायण १।३२।२०
पिता हि प्रभुरस्माकं दैवतं परमं च सः।
यस्य नो दास्यति पिता, स नो भर्ता भविष्यति॥ वही १।३२।२१

२. तयाऽप्यूचे स विनमद्वक्त्रया मुनिपुङ्गव।
एषा यदीच्छा भवतो नर्मालापो न चेदयम्॥
तद्देव दाता नृपतिः पिता मे याच्यतामिति॥ क० स० सा० २७।८१-२

जाता है। ऐसे प्रीति-विवाह प्रेमी तथा प्रेमिका के आकस्मिक मिलन से प्रारम्भ होते थे। कभी कभी यह मिलन मित्रों तथा सम्बन्धियों द्वारा आयोजित किया जाता था। जब दोनों के हृदय में एक बार प्रेमाङ्कुर उत्पन्न हो जाता था तब उसकी वृद्धि समय के बीतने के साथ साथ स्वतः होने लगती थी। प्रेमिका अपने मित्रों के साथ प्रियतम को देखने के लिए जाती थी और कभी उसका प्रिय ही आकर स्वयं दर्शन देता था। कभी दोनों किसी दर्शनीय स्थान या मेला को देखने के लिए साथ साथ जाते थे। कभी वे जल-क्रीड़ा करते थे और कभी रास-लीला रचाते थे। कभी कभी आपस में उपहारों का आदान-प्रदान भी करते थे। बाण की 'कादम्बरी' में पुण्डरीक के द्वारा महाश्वेता को अक्षमाला देने का वर्णन मिलता है। कभी वाटिका में विहार करते समय प्रेमिका अपनी मधुर संगीत-लहरी से प्रिय के मन को मोह लेती थी तो कभी प्रिय अपनी बाहों पर उसके सिर को लेकर विश्राम देने का प्रयत्न करता था। इस प्रकार से यह पूर्वराग विवाह के रूप में परिणत होकर स्थायी हो जाता था। परन्तु यह कहना कठिन है इस 'कोर्टशिप' की प्रथा का प्रचार कितना था? यह प्रथा सम्भवतः क्षत्रिय तथा धनी घरानों में ही वर्तमान थी। संस्कृत के नाटकों तथा काव्यों में इस प्रथा का प्रचुर वर्णन पाया जाता है। परन्तु प्रौढ़ विवाह के ह्रास होने के साथ ही साथ इस प्रथा का भी विनाश होने लगा।

(ग) विवाह के समय वर तथा वधू की आयु

प्राचीन भारत में विवाह के समय वर तथा वधू की आयु क्या थी यह बड़ा ही मनोरंजक विषय है। प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट पता चलता है कि विवाह कालीन आयु का परिवर्तन समय समय पर होता रहा है। वैदिक काल में कन्या के लिए जिस अवस्था का वर्णन पाया जाता है उससे भिन्न आयु का वर्णन हम गृह्यसूत्रों में पाते हैं तथा उससे भिन्न स्मृति तथा

निबन्धकारों के समय में। आशय यह है कि देश और काल की भिन्नता के अनुसार वर तथा कन्या की आयु में भी परिवर्तन होता रहा है।

(१) वर की आयु—प्राचीन समय में वर को वैवाहिक आयु की अधिकतम सीमा क्या थी इसका निश्चित रूप से कुछ वर्णन नहीं मिलता। जिस प्रकार से मध्य युग तथा वर्तमान काल में कन्याओं का विवाह अत्यन्त अनिवार्य समझा जाता है, यह बात प्राचीन युग में पुरुष पर लागू नहीं थी। वह अपनी इच्छा के अनुसार सदाचार से रहता हुआ जीवन भर ब्रह्मचारी रह सकता था। साधारणतया ब्रह्मचारी अपने विद्याध्ययन की समाप्ति पर विवाह करता था। विद्याध्ययन का यह काल १२, २४, ३६ या ४८ वर्षों तक हो सकता था। परन्तु शास्त्रकारों ने १२ वर्ष तक ब्रह्मचारी रहकर अध्ययन करने का नियम बतलाया है। ब्राह्मण बालकों का यज्ञोपवीत संस्कार प्रायः आठ वर्ष की अवस्था में हो जाता था। अतः इस प्रकार प्रायः २० वर्ष की आयु में ब्राह्मण का विवाह होता होगा। हमारे आचार्यों ने जीवन के १०० वर्षों को चार आश्रमों में विभक्त किया है। अतः २५ वर्ष तक मनुष्य को ब्रह्मचर्य-आश्रम में रहना आवश्यक था। ब्रह्मचर्य की समाप्ति के बाद ही विवाह करके गृहस्था-श्रम में प्रवेश करने का नियम था। अतः साधारणतया २५ वर्ष की आयु के बाद ही विवाह सम्बन्ध होता था। इसीलिये मनु ने लिखा है कि ३० वर्ष की अवस्था वाला पुरुष १२ वर्ष की कन्या से तथा २४ वर्षीय आठ वर्ष की कन्या से विवाह कर सकता है[१]। मनु के इसी वाक्य के आधार पर विष्णु पुराण में लिखा है कि कन्या तथा वर की आयु में १ : ३ का अनुपात होना

१. त्रिंशद्वर्षोद्वहेत् कन्यां, हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा, धर्मे सीदति सत्वरः॥ म० स्मृ० ९।९४

चाहिये१। अङ्गिरा का कथन है कि स्त्री पुरुष से दो, तीन या पाँच वर्ष छोटी होनी चाहिये अर्थात् पुरुष अपने से छोटी स्त्री से ही विवाह करे२। गौतम ने उत्तङ्क से अपनी कन्या को विवाह में देने का वादा इस शर्त पर किया कि उनकी आयु १६ वर्ष की होनी चाहिये३। महाभारत के अनुशासन पर्व में लिखा है कि ३० तथा २१ वर्ष का युवा क्रमशः दस तथा सात वर्ष की कन्या से विवाह कर सकता है४।

उपर्युक्त धर्मशास्त्रीय उद्धरणों से यह स्पष्ट पता चलता है कि कन्या और वर की वैवाहिक आयु का अनुपात प्रायः १ : २ अथवा कहीं कहीं १ : ३ था। उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों (भोजपुरी प्रदेश) में यह लोकोक्ति प्रचलित है कि—"कन्या से वर दूना" अर्थात् कन्या की आयु से वर की आयु प्रायः दुगुनी होनी चाहिए। इसका आशय यह है कि यदि कन्या की आयु दस वर्ष की हो तो उसके पति की आयु बीस वर्ष होनी चाहिए। भोजपुरी प्रदेश में प्रचलित यह लोकोक्ति प्रकारान्तर से शास्त्रीय मत का ही समर्थन करती है।

---

१. वर्षैरेक गुणां भार्यामुद्वहेत् त्रिगुणः स्वयम्। ३।१०।१६

२. वयोधिकां नोपयच्छेत् दीर्घां कन्यां स्वदेहतः।
स्ववर्षात् द्वित्रिपञ्चादिन्यूनां कन्यां समुद्वहेत्॥
स्मृति मुक्ताफल (स्मृ० मु०) में अङ्गिरा का उद्धरण।

३. युवा षोडशवर्षो हि यद्यद्य भविता भवान्।
ददानि पत्नीं कन्यां च स्वां ते दुहितरं द्विज॥
म० भा० आ० प० ५६।२२-२३

४. महाभारत—अनुशासन पर्व। ४४।१४

२—(क) कन्या की आयु

वैदिक काल—वर की आयु के पश्चात् अब यह विचार करना अपेक्षित है कि प्राचीन भारत में कन्या का विवाह किस अवस्था में हुआ करता था। यह विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि कन्याओं की वैवाहिक आयु में वृद्धि करने के अवसर पर प्राचीनता-प्रेमी सज्जन एवं पुराणपंथी पण्डित यह घोषित करते हैं कि यह सुधार शास्त्र—सम्मत नहीं है तथा वेद-विरुद्ध है। अतः इस विषय का यहाँ विस्तारपूर्वक विवेचन कुछ अनुचित न होगा।

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस समय में कन्याओं का विवाह प्रौढ़ावस्था में होता था। यद्यपि कन्याओं की वैवाहिक आयु को निश्चित रूप से बतलाना कठिन है परन्तु अवेस्ता से पता चलता है कि प्राचीन फारस में कन्याओं का विवाह १५ या १६ वर्ष की अवस्था में होता था। वैदिक काल में भी यही अवस्था थी। उद्वाह—(कन्या को ले जाना)—के शाब्दिक अर्थ पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि उस समय में कन्याओं का विवाह प्रौढ़ावस्था में होता था क्योंकि विवाह होते ही वे पति के घर में पत्नी के रूप में रहने के लिए चली जाती थीं। ऋग्वेद के विवाह सूक्त के अध्ययन से पता चलता है कि कन्यायें प्रौढ़ अवस्था से सम्पन्न होती थीं। इनका वर्णन यौवन से उन्मत्त तथा पति के लिए लालायित होने वाली स्त्री के रूप में किया गया है[१]। इस सूक्त में ऐसी आशा प्रकट की गयी है कि कन्या अपने सास तथा ससुर से घर का प्रबन्ध लेकर स्वयं स्वामिनी बन जाय[२]। परन्तु ऐसा होना तभी सम्भव था जब कि कन्या अत्यन्त प्रौढ़ हो अर्थात् उसकी अवस्था अनुमानतः १८-२० वर्ष की हो।

---

१. अन्यामिच्छ प्रफर्व्यं सं जायां पत्या सृज। १०।८५।२२
सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सवितादतात्। १०।८५।६
२. सम्राज्ञी श्वशुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधिदेवृषु॥ १०।८५।४६

वैदिक साहित्य में अनेक ऐसी अविवाहित कन्याओं का पता चलता है जो अपने पिता के घर में ही बूढ़ी हो गईं। अथर्ववेद में अनेक तन्त्रों तथा मन्त्रों का वर्णन मिलता है जिनका प्रयोग अनिच्छुक पतियों को वश में करने के लिए किया जाता था। अथर्ववेद में एक ऐसी कन्या का वर्णन पाया जाता है जो पति समागम के लिए अत्यन्त उत्सुक थी१। ये सब बातें तभी सम्भव हैं जब कन्या प्रौढ़ा हो क्योंकि बाल्यावस्था में कामजन्य इन भावों का उत्पन्न होना प्रायः असम्भव है।

कुछ विद्वानों ने वेद में कतिपय स्थानों पर आये हुए 'अर्भ' शब्द के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है वैदिक काल में बाल-विवाह की प्रथा विद्यमान थी२। परन्तु यहाँ 'अर्भ' शब्द का अर्थ 'कोमल' है न कि बालक। अतः उनकी यह धारणा नितान्त निर्मूल है। ऋग्वेद में एक स्थान पर प्रौढ़ावस्था में उत्पन्न होने वाले बालों के लिए किसी स्त्री के द्वारा प्रार्थना करने का वर्णन पाया जाता है३। इसी प्रकार से दूसरे सूक्त में

---

१. एयमगन्पतिकामा जनिकामोऽहमागमम्।
अश्वः कनिक्रदद्यथा भगेनाहं सहागमम्॥ अ० वे० २।३०।५

२. अददा अर्भां महते वचस्यवे कक्षीवते वृचयामिन्द्र सुन्वते।
ऋ० वे० १।५१।१३

३. इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र विरोहय।
शिरस्ततयोर्वरामादिदं म उपोदरे॥
असौ च या न उर्वरादिमां तन्वं मम।
अथो ततस्य यच्छिरः सर्वास्ता रोमशा कृधि॥ ऋ० वे० ८।९१।५-६

एक स्त्री यह कहती है कि मेरे अङ्गों में युवावस्था के समस्त चिह्न दिखाई पड़ रहे हैं अतः मैं अब पूर्ण युवती हो गई हूँ१। यह उक्ति रात्रि में पति की कामवासना को जगाने के लिए कही गयी है।

धर्मसूत्रों तथा गृह्य सूत्रों का काल—धर्मसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों से पता चलता है कि उस समय भी कन्याओं का विवाह प्रौढ़ावस्था में ही हुआ करता था यद्यपि कुछ गृह्यसूत्रों ने इसका विरोध करना प्रारम्भ कर दिया था। अनेक गृह्यसूत्रों से 'चतुर्थीकर्म' नामक संस्कार का पता चलता है२। यह संस्कार विवाह के चौथे दिन किया जाता था जिसका विस्तृत विवरण गृह्यसूत्रों में दिया गया है। यह संस्कार गर्भाधान संस्कार के समान ही था। इस दिन पति अनेक तन्त्र, मन्त्रों का उच्चारण करके तथा अनेक धार्मिक क्रियाओं को समाप्त कर सन्तान की इच्छा से स्त्री—समागम करता था। इससे यह निकर्ष निकलता है कि विवाह के समय कन्या अवश्य ही युवती होती होगी अन्यथा विवाह के ठीक चौथे दिन हमारे अनुभवी तथा विचारशील धर्म-शास्त्रकार इस संस्कार का विधान कदापि नहीं करते।

इस सम्बन्ध में एक और बात बड़ी महत्वपूर्ण है। प्रायः सभी गृह्य-सूत्रकारों ने इस नियम का विधान किया है कि विवाहित दम्पति विवाह के पश्चात् कम से कम तीन रात्रि तक (यदि अधिक न रह सकें) ब्रह्मचर्य का पालन अवश्य करें तथा जमीन पर सो कर रात्रि व्यतीत करें। उदाहरण के लिए पारस्कर गृह्यसूत्र में लिखा है कि विवाहित दम्पति विवाह के पश्चात् क्षार तथा लवण का ग्रहण कम से कम तीन दिन तक न करें; वे भूमि पर ही सोयें,

---

१. उपोप मे परामृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः।

सर्वाहमस्मि रोमशा, गान्धारीणामिवाविका॥ ऋ० वे० १।२६।७

२. गो० गृ० सू० २।५; सा० गृ० सू० १।१८-१६; पा० गृ० सू० १।११

शय्या पर नहीं क्योंकि इससे काम-वासना बढ़ेगी और एक वर्ष, बारह रात्रि छः रात्रि, या अन्ततो गत्वा तीन रात्रि तक मैथुन कर्म में कदापि प्रवृत्त न हों१। इस विषय का प्रतिपादन आ० गृ० सू० (१।८।१०), आप० गृ० सू० (८।८-९) मा० गृ० सू० (१।१४।१४) तथा काठक गृ० सू० (३०।१) ने बड़े विस्तार के साथ किया है।

यदि विवाह के समय कन्या युवती न होती तो इन गृह्यसूत्र-कारों का यह विधान अप्रासङ्गिक तथा व्यर्थ होता क्योंकि आठ या दश वर्ष की आयु वाली कन्या के लिए विवाह के तीसरे या चौथे दिन पति-समागम का आदर्श हास्यास्पद होता। अतः इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि इन सूत्रकारों के समय में भी ऐसी ही कन्याओं का विवाह होता था जो युवती थीं तथा जो गर्भधारण करने में समर्थ समझी जाती थीं। हरदत्त ने—जिनका आविर्भाव १२ वीं शताब्दी में हुआ था—लिखा है कि "उनके समय में कतिपय देशों में विवाह के ठीक पश्चात् ही मैथुन कर्म प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु यह प्रथा आ० गृ० सू० के प्रतिकूल होने के कारण अवाञ्छनीय है क्योंकि विवाह के बाद कम से कम तीन रात्रि तक ब्रह्मचारी रहने का नियम अवश्य ही मानना चाहिए२।"

---

१. त्रिरात्रमक्षारालवणाशिनौ स्यातामधः शयीयातां, संवत्सरं न मिथुनमुपेयातां, द्वादशरात्रं......त्रिरात्रमन्ततः। १।८

२. केषुचिद्देशेषु सद्यः समावेशनं दृष्टं वक्ष्यमाणेन त्रिरात्रं द्वादशरात्रमिति ब्रह्मचर्येण बाध्यते। आ० गृ० सू० १।७।२ पर हरदत्त का उद्धरण। इसके ऊपर नारायण ने यह लिखा है कि :—

'वैदेहेषु सद्य एव व्यवायो दृष्टः। गृह्ये तु ब्रह्मचारिणौ त्रिरात्रमिति ब्रह्मचर्यं विहितं तत्र गृह्योक्तमेव कुर्यान्न देशधर्ममितिसिद्धम्।'

इससे यह निकर्ष निकलता है कि १२ वीं शताब्दी तक कन्याओं की वैवाहिक आयु १४ वर्ष से कम नहीं रही होगी।

'नग्निका शब्द का अर्थ—कुछ गृह्यसूत्रों में इस विषय का वर्णन मिलता है कि विवाह के समय कन्या को 'नग्निका' होनी चाहिये। इस शब्द के अर्थ के निर्णय में आचार्यों में बड़ा मत-भेद है। बाद के टीकाकारों ने इस शब्द का अर्थ यह किया है कि नग्निका वह कन्या है जो पाँच या छः वर्ष की हो और जिसे लज्जा का तनिक भी ध्यान न हो तथा जो अपने शरीर को वस्त्रों से बिना अच्छी तरह से आच्छादित किये ही इधर उधर घूमती हो[1]। मा० गृ० सू० के टीकाकार अष्टावक्र ने 'नग्निका' का अर्थ लिखा है कि "वह कन्या जिसने युवावस्था तथा काम-वासना का अनुभव न किया हो।" गृह्य संग्रह में लिखा है कि 'नग्निका' वह कन्या है कि जो ऋतुमती न हो तथा जो कुचों से विरहित हो[2]। परन्तु विचार करने से यह प्रतीत होता है कि 'नग्निका' शब्द का यह अर्थ नहीं है। महाभारत में १६ वर्षीय युवती को 'नग्निका' कहा गया है[3] तथा हारीत गृ० सू० ने इस विषय का विधान किया है कि

१. यावन्न लज्जयाङ्गानि; कन्या पुरुषसन्निधौ।
यौन्यादीन्यवगूहेत; तावद्भवति नग्निका॥ स्मृ० च० पृ० ३१३

२. नग्निका तु वदेत्कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत्।
ऋतुमती त्वनग्निकां तां प्रयच्छेत्तु नग्निकाम्॥
अप्राप्ता रजसा गौरी, प्राप्ते रजसि रोहिणी।
अव्यञ्जिता भवेत् कन्या, कुचहीना च नग्निका॥
गो० गृ० सू० (३।४।६) की टीका में गृह्या० सं० का उद्धरण

३. त्रिंशद्वर्षः षोडशवर्षां भार्यां विन्देत नग्निकाम्। वी० मि० पृ० ७६६

नग्निका कन्या विवाह के समय ब्रह्मचारिणी होनी चाहिये१। यदि नग्निका का अर्थ पाँच वर्ष की कन्या होता तो यह शर्त लगाना निरर्थक ही होता। अतएव मातृदत्त ने ठीक ही लिखा है कि नग्निका वह कन्या है जो विवाह के पश्चात् एकान्त में पति-समागम के लिए तैयार हो२। ऐसा ज्ञात होता है कि जब बाल-विवाह की प्रथा चल पड़ी तब स्मृतिकारों ने अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए 'नग्निका' का अर्थ नङ्गा या बालक करना प्रारम्भ कर दिया। अतः 'नग्निका' शब्द का सहारा लेकर जो लोग कन्याओं की बाल्यावस्था में विवाह होने की कल्पना करते हैं उनकी यह धारणा नितान्त निर्मूल तथा भ्रम-पूर्ण है।

बौद्ध-ग्रन्थ—बौद्ध ग्रन्थों से भी यही पता चलता है कि सभ्य तथा सुशिक्षित कुलों में ४०० ई० पू० तक कन्याओं का विवाह युवावस्था में ही होता था। विशाखा तथा कुण्डलकेशा नाम की दो भिक्षुणियों का वर्णन मिलता है जिन्होंने विवाह होने के पूर्व ही बौद्धसंघ में प्रवेश किया था और उस समय उनकी अवस्था लगभग १६ वर्ष की थी३। जातक में पटचरा नामक एक कन्या का वर्णन मिलता है जो अपने प्रेमी के साथ घर से इसलिये निकल भागी थी क्योंकि उसके पिता ने उसे विवाह करने की अनुमति नहीं दी थी४।

---

१. नग्निका सजाता ब्रह्मचारिणी। हा० गृ० सू० १।१९।२

२. तस्माद्वस्त्रविक्षेपणार्हा नग्निका मैथुनार्हेत्यर्थः।

३. राजगहे तु एका सेठिधीता सोलसवस्सुद्देसिका अभिरूपा अहोसि दस्सनाय। तस्मि च वये थिता नारियो पुरुसज्झासाय होंति पुरिसलोला। धम्मपाद की टीका, १०२।

४. थेरी गाथा नं० ४७।

महाभारत तथा रामायण—रामायण से पता चलता है कि सीता का विवाह युवावस्था में हुआ था। सीता को हरने के लिये जब रावण आया तब उससे सीता ने कहा कि वनवास के समय मेरी अवस्था १८ वर्ष की थी और मेरा विवाह इस घटना से १२ वर्ष पूर्व हुआ था१। इससे यह पता चलता है कि विवाह के समय सीता की अवस्था केवल छः वर्ष की थी। परन्तु रामायण के ये श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। प्रथमतः सीता की रावण से यह उक्ति अप्रासङ्गिक सी लगती है। दूसरा कारण यह है कि बालकाण्ड से पता चलता है कि राम तथा उनके भाइयों के साथ विवाह के पश्चात् राजा जनक की लड़कियों ने रमण किया२। यह तभी सम्भव है जब कि सीता तथा उनकी बहिनों की अवस्था १६-१७ वर्ष की हो। उसी प्रकार से अनुसूया से अपने विवाह की कथा को कहते हुए सीता ने यह कहा कि 'पतिसंयोगसुलभ' मेरी अवस्था को देखकर पिता जी को बड़ी चिन्ता हुई३। महाभारत में वर्णित द्रौपदी के स्वयम्वर से ज्ञात होता है कि विवाह के समय उसकी अवस्था बहुत अधिक थी। गत पृष्ठों में वेद, गृह्यसूत्र, बौद्धग्रन्थ, रामायण तथा महाभारत आदि से जो प्रमाण दिये गये हैं उनसे निःसन्देह यही प्रमाणित होता है कि प्राचीन भारत में कन्याओं का विवाह युवावस्था में होता था।

---

१. उषित्वा द्वादशसमाः इक्ष्वाकूणां निवेशने।
भुञ्जाना मानुषान् भोगान् सर्वकामसमृद्धिनी॥ रामायण ३।४७।४
मम भर्ता महातेजा वयसा पञ्चविंशकः।
अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते॥ ३।४७।१०

२. अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वाः राजसुतास्तदा।
रेमिरे मुदिताः सर्वाः भर्तृभिः सहितं रहः॥ रामायण १।७७।१४

३. पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता।
चिन्तामभ्यगमद्दीनो, वित्तनाशादिवाधनः॥ रामायण २।११९।३४

(ख) कन्या की विवाह-आयु में क्रमशः ह्रास—गत पृष्ठों में यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि वैदिक काल तथा गृह्यसूत्रों के समय में कन्याओं का विवाह प्रौढ़ावस्था में होता था। परन्तु धीरे धीरे कन्याओं की विवाह की आयु में ह्रास होने लगा। ४०० ई० पू० से १०० ई० के बीच में जितने धर्म सूत्रकार प्रादुर्भूति हुये उन्होंने यह विधान बतलाया कि कन्याओं का विवाह रजोदर्शन के पश्चात् अधिक दिनों तक न रोका जाय। वशिष्ठ तथा बौधायन ने यह आज्ञा दी है कि कन्यायें रजोदर्शन के पश्चात् केवल तीन वर्ष तक अविवाहित रह सकती हैं१। मनु ने भी लिखा है कि कुमारी कन्या ऋतुमती होने पर भी तीन वर्ष तक विवाह के लिए प्रतीक्षा कर सकती है। इसके पश्चात् वह अपने सदृश वर को स्वयं चुन ले२। कौटिल्य ने भी इसी मत का समर्थन किया है३। गौतम४ तथा विष्णु [२४।४१] ने इस बात पर बहुत

१—(क) त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमारी ऋतुमती सती।

बौ० ध० सू० ४।१।१४

(ख) कुमारी ऋतुमती त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत।
उर्ध्वं त्रिभ्यो वर्षेभ्यो पतिं विन्देत् तुल्यम्॥

व० ध० सू० १७।५९

२—त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमारी ऋतुमती सती।
उर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत् सदृशं पतिम्॥ ९।९०

३—अर्थशास्त्र ४।१२

४—त्रीन् कुमारी ऋतूनतीत्य स्वयं युज्येतानिन्दितेन उत्सृज्य पित्र्यालंकारान्। गौ० ध० सू० ८।२०

जोर दिया है कि कन्या का विवाह रजोदर्शन के पश्चात् तीन मास के भीतर अवश्य हो जाना चाहिये। महाभारत के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय में कन्याओं के विवाह काल के सम्बन्ध में आचार्यों में आपस में बड़ा मतभेद था। कुछ आचार्यों का यह मत था कि चूँकि विवाह वंश-परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिये किया जाता है अतः अत्यन्त स्वल्प आयु वाली कन्या से विवाह करना अनुचित है। परन्तु कुछ विद्वानों की यह सम्मति थी कि विवाह के समय कन्या का ब्रह्मचारिणी होना अत्यन्त आवश्यक है अतः काम जनित प्रेम की उत्पत्ति के पूर्व ही उसका विवाह कर देना चाहिये१। मनु ने जिनके विचार से कन्याओं का प्राक्—रजोदर्शन काल में विवाह उचित है—तो यहाँ तक लिखा है कि यदि समुचित वर उपलब्ध न हो तो पिता अपनी ऋतुमती कन्या को भी जीवन भर अविवाहित ही रख सकता है२। इन सब बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि ४००—ई० पू० से १०० ई० तक कन्याओं के विवाह-आयु में क्रमशः कमी होने लगी थी और रजोदर्शन काल के समय उनका विवाह आवश्यक समझा जाने लगा था। कामसूत्र—जो

---

१. नातिबालां वहन्त्यन्ये, अनित्यत्वात्प्रजार्थिनः।
वहन्ति कर्मिणस्तस्यामन्तः शुद्धिव्यपेक्षया॥
अपरान्वयसंभूतां संस्वप्नादिविवर्जिताम्।
कामो यस्यां निषिद्धश्च केचिदिच्छन्ति चापदि॥
म० भा० १८।७९।१४-१५

२. काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥ ९।८९

इसी काल की रचना है—में रजोदर्शन के पूर्व तथा पश्चात् होने वाले दोनों प्रकार के विवाहों का उल्लेख मिलता है[१]। इससे सहज ही में जाना जा सकता है कि उस समय कन्याओं की वैवाहिक आयु में कमी होने लगी थी।

ऊपर यह दिखलाया गया है ४०० ई० पू० से लेकर १०० ई० तक कन्याओं के प्राक्-रजोदर्शन कालिक विवाह के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद था। परन्तु १०० ई० के बाद यह विवाद या मतभेद सदा के लिये समाप्त हो गया और सभी आचार्यों ने एक स्वर से प्राक्-रजोदर्शन विवाह का आदेश करना प्रारम्भ कर दिया। इस काल में कन्याओं की शुद्धता पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया जाने लगा और यह नियम बना दिया गया कि रजोदर्शन के पूर्व कन्याओं का विवाह अवश्यमेव हो जाना चाहिये। समाज को इस बात की अत्यन्त चिन्ता रहती थी कि किसी भी प्रकार के कन्याओं के आचरण संबंधी प्रवाद सुनने को न मिलें। कथा सरित सागर में कोई पिता अपनी उन्मिषित यौवना कन्या से स्वेच्छाचार न करने के लिए आर्त होकर कहता है[२]। इससे उस समय की सामाजिक प्रवृत्ति का पता चलता है।

<u>कन्याओं के विवाह की आयु में कमी का कारण</u>—इस काल में कन्याओं की विवाह-आयु में जो क्रमशः कमी होने लगी थी इसके अनेक कारण हैं। (१) वैदिक काल में कन्याओं का उपनयन संस्कार होता था और इसके बाद

---

१. कामसूत्र ३।२-४

२. तस्माद्विशल्ययितुमिच्छसि मां यदि त्वं
वत्से तदुन्मिषति नूतनयौवनेऽस्मिन्।
न स्वेच्छमर्हसि चिरं खलु कन्यका त्वं-
आसेवितुं सुलभदुर्लभदुष्प्रवादम्॥ ३४।२२६

वे अपना समय शास्त्र के अध्ययन में विताती थीं। शास्त्राभ्यास की समाप्ति पर ही उनका विवाह होता था। परन्तु समय के परिवर्तन के साथ कन्याओं का उपनयन-संस्कार बन्द हो गया और उनके पठन पाठन की प्रथा भी जाती रही। उनका विवाह ही उपनयन समझा जाने लगा। चूँकि उपनयन जन्म के आठवें वर्ष में होता था अतः विवाह के लिये भी वही समय उचित जान पड़ा१। ऐसी अवस्था में १५-१६ वर्ष तक कन्याओं को अविवाहित रखना पिता के लिये भारभूत होने लगा और स्वयं कन्याओं को भी इतने वर्षों तक पिता के घर में समय काटना दूभर मालूम पड़ने लगा। (२) पुत्र की उत्पत्ति वंश की परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिये सदा आवश्यक समझी जाती थी। शीघ्र विवाह कर देने से रजोदर्शन होते ही पुत्र उत्पन्न होने की संभावना थी। अतः इस दृष्टि से भी रजोदर्शन के पूर्व अथवा उसके आस-पास कन्याओं का विवाह उचित समझा जाने लगा२। (३) इस समय देश में बौद्ध-धर्म का प्रचुर-प्रचार हो गया था। भिक्षु तथा भिक्षुणियाँ का बौद्ध संघ में प्रवेश कर एक साथ ही रहती थीं। ऐसी भिक्षुणियों का आचरण बहुत ही दूषित हो गया था। अतः समाज पर इसका बहुत बुरा प्रभाव

---

१. ऋतवो बहवस्ते वै गता व्यर्थाः शुचिस्मिते। म० भा० १।९४।६५०

२. (क) स्त्रीणांमुपनयनस्थानापन्नो विवाहः इति तदुचितावस्थायां विवाहस्योचितत्वात्। संस्कारकौस्तुभ (सं० कौ०) पृ० ६९९

(ख) विवाहं चोपनयनं स्त्रीणामाह पितामहः।
तस्माद्गर्भाष्टमः श्रेष्ठोजन्मतो वाष्टवत्सरः॥

स्मृति मुक्ताफल (स्मृ० म०) में यम का उद्धरण पृ० १३६

पड़ने लगा। इसलिये धर्म शास्त्रकारों ने यह उचित समझा कि कन्याओं का शीघ्र ही विवाह कर दिया जाय जिससे वे भिक्षुणियों के बुरे प्रभाव से वञ्चित रहें। (४) ऋग्वेद के समय से ही लोगों में यह आध्यात्मिक विश्वास चला आता था कि सोम, गन्धर्व और अग्नि कन्या के दैविक अभिभावक हैं१। गृ० सं० में लिखा है कि सर्वप्रथम सोम कन्या का उपभोग करता है, कुचदर्शन के पश्चात् गन्धर्व संभोग करता है और रजोदर्शन के पश्चात् अग्नि२। इसलिये समाज में यह विश्वास दृढ़मूल होता गया कि कन्या में यौवन कालीन चिह्नों के आविर्भाव के पूर्व ही उसका विवाह अत्यन्त आवश्यक है। संवर्त ने भी इसी बात को स्पष्ट शब्दों में लिखा है३। इन सब कारणों से समाज की प्रवृत्ति कन्याओं के यथाशीघ्र विवाह की ओर होने लगी थी।

कन्याओं का बाल्यावस्था में विवाह—अब तक जो वर्णन प्रस्तुत किया गया है उससे जान पड़ता है धर्म-शास्त्रकार कन्याओं के अल्पकाल में ही विवाह के पक्षपाती अवश्य थे परन्तु इसके ऊपर वे विशेष ज़ोर नहीं देते थे।

---

१. ऋग्वेद १०।८५।४०–४१

२. गो० गृ० सू० (३।४।६) की टीका में गृ० सं० का उद्धरण।

३. रोमकाले तु सम्प्राप्ते, सोमो भुङ्क्तेऽथ कन्यकाम्।
रजो दृष्ट्वा तु गन्धर्वाः, कुचौ दृष्ट्वा तु पावकः॥
तस्मात् विवाहयेत् कन्यां यावन्नऋतुमती भवेत्।
विवाहो ह्यष्टवर्षायाः कन्यायास्तु प्रशस्यते॥

स्मृ० च० में संवर्त का उद्धरण श्लो० ६४।६७.

परन्तु २००–३०० ई० के बाद कन्याओं का प्राक्–रजोदर्शन काल में विवाह अनिवार्य समझा जाने लगा तथा इसकी अवहेलना के लिये कठिन दण्डों का विधान किया गया। कई स्मृतिकारों ने तो रजस्वला कन्या का विवाह न करने वाले पिता को पातकी तक ठहराया है। याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि कन्या का विवाह रजोदर्शन के पूर्व अवश्य कर देना चाहिये नहीं तो उसका पिता या अभिभावक प्रत्येक मास में भ्रूणहत्या के पाप का भागी होता है[1]। यम ने तो यहाँ तक कहने का दु:साहस किया है कि यदि कन्या रजस्वला हो जाय तो सुयोग्य पति के न मिलने पर उसका विवाह मूर्ख तथा सब गुणों से भी हीन पति से कर देना चाहिये[2]। बौधायन ने भी यम के इस कथन का समर्थन किया है[3]। इस विषय में मनु तथा यम के वचनों में कितना महान् अन्तर दीख पड़ता है। जहाँ मनु ने सुयोग्य वर न मिलने पर कन्या को आजन्म अविवाहित रहने का आदेश दिया है वहाँ यम ने रजस्वला होने पर सर्वप्रकार के गुणों से रहित वर से विवाह कर लेने का विधान किया है। इस प्रकार समय के बीतने के साथ ही स्मृतिकारों के विचारों में बड़ा अन्तर पड़ गया।

---

१. अप्रयच्छन् समाप्नोति भ्रूणहत्यां ऋतौ ऋतौ। या० स्मृ० १।१३

२. दद्यात् गुणवते कन्यां नग्निकां ब्रह्मचारिणे।
अपि वा गुणहीनाय नोपरुन्ध्यात् रजस्वलाम्॥

स्मृ० च० के संस्कार काण्ड में यम का उद्धरण।

३. अविद्यमाने सदृशे गुणहीनमपि श्रयेत्। बौ० ध० सू० ४।१।१२

<u>विलम्ब से विवाह करने में पाप की उद्भावना</u>—कई कारणों से कन्याओं का विवाह रजोदर्शन के पूर्व होना सर्वदा संभव नहीं था। अतः स्मृतिकारों को रजोदर्शन के पश्चात् होने वाले विवाहों का निषेध करने से ही सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने ऐसे विवाहों को रोकने के लिये अन्य अनेक कल्पित उपाय ढूंढ़ निकालने का प्रयास किया। ईसा की ५०० ई० से १००० ई० के बीच के स्मृतिकारों ने रजोदर्शन के बहुत पहिले ही विवाह करने का विधान प्रारम्भ कर दिया तथा समाज को इसके लिये उत्साहित करने लगे। उन्होंने यह कल्पना कर लिया कि १० वर्ष की अवस्था में कन्या ऋतुमती हो जाती है। अतः इसके बाद उसका विवाह करना सर्वथा अनुचित है। वृहत् यम ने तो यहां तक लिखा है कि जो पिता कन्या के १० वर्षीया होने पर भी उसका विवाह नहीं करता है वह प्रत्येक मास में उसके रज-रूपी शोणित को पीता है[1]। इस समय कन्या का विवाह बालकों के उपनयन संस्कार के समान समझा जाने लगा। चूँकि ब्राह्मण बालक का यज्ञोपवीत संस्कार आठवें वर्ष में प्रशस्त समझा जाता है अतः कन्या का विवाह भी इसी समय में उपयुक्त माना गया। इसीलिये आठ वर्ष की कन्या—जो 'गौरी' कही गयी है—विवाह के लिये अत्यन्त समुचित समझी गयी। परन्तु कुछ धर्माचार्यों को इससे भी संतोष नहीं हुआ और उन्होंने कन्याओं की विवाह-आयु को और भी घटाने का प्रयत्न किया है। ब्रह्मपुराण में लिखा है कि पिता को चाहिये कि ४ से १० वर्ष

---

१. अष्टवर्षा भवेत् गौरी, नववर्षा तु रोहिणी।
दशवर्षा भवेत् कन्या, अतः उर्ध्वं रजस्वला॥
प्राप्ते तु दशमे वर्षे यस्तु कन्यां न यच्छति।
मासि मासि रजस्तस्याः पिता पिबति शोणितम्॥ ३।२१-२२

के भीतर, किसी भी समय अपनी कन्या का विवाह कर दें१। दूसरे शब्दों में ब्रह्मपुराण के अनुसार चार वर्ष की दुधमुँही बच्ची का विवाह भी समुचित था। इससे मनु तथा ब्रह्मपुराण के कथन में जो महान् अन्तर है उसे सहज ही में समझा जा सकता है। परन्तु स्मृतिकारों के द्वारा इतना कठिन तथा कठोर विधान करने पर भी प्राक्-रजोदर्शन विवाह धर्म का अक्षरशः पालन करने वाले केवल ब्राह्मणों में ही विशेष रूप से होते थे। १७ वीं शताब्दी में आविर्भूत मित्र मिश्र ने स्पष्ट ही लिखा है कि इन नियमों का पालन क्षत्रिय लोग नहीं करते थे२। इस बात की पुष्टि ३००-१२०० ई० के बीच लिखे गये संस्कृत के नाटकों से होती है जिनमें नायिकाओं का वर्णन विवाह के समय प्रौढ़ा स्त्री के रूप में किया गया है३।

मुसलमानी काल में विवाह की आयु—मध्यकाल में बाल-विवाह की प्रथा दिन पर दिन बढ़ती गयी। भला स्मृतिकारों की कठोर आज्ञाओं का उल्लंघन कर कौन व्यक्ति अपने सिर पर पाप की गठरी लेने का साहस कर सकता था? अकबर ने अपनी प्रजा को रजोदर्शन के पश्चात् विवाह करने का आदेश

---

१. चतुर्थाद्वत्सराद्रूर्ध्वं यावन्न दशमात्ययः।
तावद्विवाहः कन्यायाः पित्रा कार्यः प्रयत्नतः॥ ब्र० पु० १६५।८

२. "यस्तु तां वरयेत्कन्यां ब्राह्मणो ज्ञान दुर्बलः" अत्र ब्राह्मणपदोपादानात् ब्राह्मणस्यैवायं निषेधो, न क्षत्रियादीनाम्। वी० मि० पृ० ७७१.

३. उदाहरण के लिये देखिये रत्नावली तथा प्रियदर्शिका नाटिका।

दिया था। इसका पता हमें आइन-अकबरी (पृ० २७७) से चलता है। परंतु अकबर के इस आदेश का जनता में कुछ प्रभाव नहीं पड़ा और बाल-विवाह पूर्ववत् जारी रहे। इस समय में आने वाले अनेक विदेशी यात्रियों के विवरणों से ज्ञात होता है कि भारत में कन्याओं का विवाह रजोदर्शन के अनेक वर्ष पूर्व ही हुआ करता था। १६ वीं सदी के फिच (Fitch) नामक अंग्रेज यात्री ने लिखा है कि बङ्गाल के मुर्शिदाबाद में बालक तथा बालिकाओं की वैवाहिक अवस्था क्रम से १० और ६ वर्ष थी१। दूसरा यात्री मनुची कहता है कि १७ वीं शताब्दी में बालिकाओं का विवाह ऐसी अवस्था में होता था जब वे अच्छी तरह से बोल भी नहीं सकती थीं। ट्रेवर्नियर के कथनानुसार उस समय कन्याओं का विवाह ७ या ८ वर्ष में होता था। पेशवा का एक ब्राह्मण सेनापति इसलिये अत्यन्त चिंतित था कि उसकी ९ वर्षीया कन्या का विवाह न हो सका। उसने रणक्षेत्र से यह लिखा कि 'यदि विवाह दूसरे वर्ष के लिये स्थगित कर दिया गया तो कन्या की अवस्था १० वर्ष की हो जायेगी और यह बात बड़ी ही आपत्तिजनक तथा निन्दाजनक होगी।"

यूरोप के अन्य देशों में विवाह-वय—परंतु बाल-विवाह की यह अवस्था केवल भारत में नहीं थी। यदि हम पाश्चात्य देशों की लड़कियों के विवाह-वय की ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि यूरोप के विभिन्न देशों में यह एक प्रथा के रूप में पायी जाती थी। प्राचीन रोम में लड़कियों का विवाह

---

१. दासगुप्त—बेङ्गाल इन दि सिक्स्टीन्थ सेन्चुरी। पृ० १३१

२. भाग ३ पृ० ५९–६०

३. भाग २ पृ० १९७

१० या १२ वर्ष की अवस्था में हुआ करता था१। यूरोप में मध्ययुग में सैनिक तथा राजनैतिक कारणों से ५ वर्ष की कन्याओं का भी विवाह कर दिया जाता था। चर्च के इस नियम की अवहेलना सभी लोग स्वेच्छया करते थे कि बालक और बालिकाओं का विवाह क्रम से १५ और १२ वर्ष की वय में हो२। इङ्गलैण्ड में ट्यूडर काल में प्रधानतया उच्चश्रेणी लोगों में, बालिकाओं का विवाह अल्पायु में हुआ करता था। कभी कभी ये विवाह ४ या ५ वर्ष की आयु में भी सम्पन्न हुआ करते थे३। फर्निवल के कथन से जान पड़ता है कि आज से केवल ३०० वर्ष पहिले इङ्गलैण्ड में लड़के, लड़कियों का विवाह ६ या १० वर्ष की आयु में (और कभी कभी २ या ३ वर्ष में) हुआ करता था४। किं बहुना, सन् १९२९ ई० तक इङ्गलैण्ड में बालक तथा बालिकाओं की कानूनी वैवाहिक आयु क्रम से १४ और १२ वर्ष थी। परंतु इसी साल ब्रिटिश पार्ल्यमिण्ट ने नियम बनाकर दोनों के लिये १६ वर्ष की अल्पतम वैवाहिक आयु का कानून बनाया। इन सब उदाहरणों को दृष्टि में रखते हुये बालिकाओं के विवाह-वय को कम करने के कारण स्मृतिकारों को कोसना कदापि न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता।

वर्तमान-अवस्था—अंग्रेजों के यहाँ आने के समय बालिकाओं की विवाह-वय साधारणतया ८ या ९ वर्ष थी। आज से लगभग ७०-८० वर्ष पूर्व तक यही दशा थी। गत शताब्दी के अन्तिम चरण में सरकार ने 'एज आफ

---

१. म्यूलर—फेमिली पृ० २६०

२. जे० एल० डेविस—ए शार्ट हिस्ट्री आफ विमेन पृ० २३७-६१

३. म्यूलर—फेमिली पृ० ११४

४. एफ० जे० फर्निवल—'चाइल्ड मैरेजेज, डाइवोर्सेज'।

कन्सेण्ट बिल' के द्वारा लड़कियों के विवाह-वय को अधिक बढ़ाने का निश्चय किया था। परंतु सनातनी एवं पुराणपन्थियों के घोर विरोध के कारण यह बिल पास न हो सका। धीरे धीरे अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार देश में होने लगा और पाश्चात्य विचार तथा संस्कृति का प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ने लगा। शिक्षित तथा सभ्य वर्ग के लोगों ने वैदिक काल की भाँति स्त्री शिक्षा के महत्व को समझा और स्कूल, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में लड़कियों की शिक्षा होने लगी। अब समाज शनैः शनैः रजोदर्शन के पश्चात् विवाह की ओर ध्यान देने लगा है और बाल-विवाह का क्रमशः लोप हो रहा है। सन् १९२९ में हरविलास शारदा के भगीरथ प्रयत्न से 'चाइल्ड मैरेज रिस्ट्रेन्ट एक्ट' पास हुआ जिसके अनुसार १४ वर्ष तथा १८ वर्ष की आयु से कम आयुवाले बालिका तथा बालकों का विवाह कानून के द्वारा निषिद्ध घोषित किया गया। इस कानून के द्वारा बालिकाओं के विवाह-वय की वृद्धि में बड़ी सहायता मिली है। इस समय ऐसे और भी अनेक कारण उपस्थित हो गए हैं जिनसे बाल विवाह का धीरे धीरे ह्रास हो रहा है, जैसे आर्थिक कठिनाइयों का विकट रूप में उपस्थित होना; सुयोग्य वरों का न मिलना, तिलक तथा दहेज में अत्यधिक रुपयों का 'डिमाण्ड', संयुक्त परिवार की प्रथा का क्रमिक ह्रास तथा बाल-विवाह की बुराइयों का नग्न दृश्य। सन् १९२९ में 'एज आफ कन्सेण्ट कमेटी' ने यह हिसाब लगाया था कि ३९ प्रतिशत कन्याओं का विवाह १० वर्ष की आयु के पूर्व ही हो जाता है। परंतु संतोष इतना ही है कि हवा का रुख अब बदल गया है। स्मृतिकारों के दण्डविधान की पूर्णरूप से अवहेलना कर समाज अब प्राचीन गृह्यसूत्रकारों के आदेश को मानने के लिए उद्यत है। 'अष्ट वर्षा भवेत् गौरी' की घोषणा करने वाले

धर्म के आचार्य भी अब अपनी लड़कियों का विवाह कानून या समाज के भय से अल्प आयु में नहीं करते हैं। कहने का सारांश यही है कि जिस प्रकार वैदिक काल में कन्याओं का विवाह प्रौढ़ावस्था में होता था—जो नितांत उचित था—उसी प्रथा का पालन अब हिन्दू समाज धीरे धीरे परन्तु दृढ़ता के साथ कर रहा है।

(घ) विवाह के कुछ प्रतिबन्धक

हमारे शास्त्रकारों ने कुछ ऐसे नियम बतलाये हैं, कुछ ऐसे प्रतिबन्धकों का विधान किया है जिनका विवाह में पालन करना अत्यन्त आवश्यक समझा जाता है। ये प्रतिबन्धक प्रधानतया तीन हैं (१) सपिण्डता (२) सगोत्रता तथा (३) सप्रवरता। वर तथा वधू यदि सपिण्ड, सगोत्र तथा सप्रवर होंगे तो उनका विवाह कदापि नहीं हो सकता। इसीलिये मनु ने असपिण्ड तथा असगोत्र कन्या को ही विवाह के लिये प्रशस्त माना है[१]। अतएव विवाह में वर तथा वधू का असपिण्ड और असगोत्र होना नितांत आवश्यक है। प्राचीन काल में सप्रवर होना भी विवाह के लिये बाधक था। परंतु आजकल इसका इतना विचार नहीं किया जाता जितना सगोत्र और सपिण्ड का।

(१) सपिण्ड का अर्थ—सपिण्ड का संबंध निम्नांकित तीन विषयों में विशेष महत्व रखता है[२]। (१) विवाह (२) उत्तराधिकार (३) आशौच। परंतु यहाँ प्रसङ्गानुसार विवाह के संबंध में ही हमें इसका विचार करना है।

---

१. असपिण्डा च या मातुः, असगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां, दारकर्मणि मैथुने ॥ मनुस्मृति ३।५

२. तेन विवाहे, आशौचे, धनग्रहणे च त्रिधा सापिण्ड्यं सिद्धम्।
निर्णय सिन्धु ३, पूर्वार्द्ध पृ० २८४

सपिण्ड के अर्थं के संबंध में दो मत हैं (१) विज्ञानेश्वर का और (२) जीमूतवाहन का। सपिण्ड कन्या का विवाह नहीं हो सकता इस विषय में तो दोनों का एक मत है परंतु इस शब्द के अर्थ में दोनों में मतभेद है। विज्ञानेश्वर के मत से सपिण्ड का अर्थ है "वह कन्या जो वही पिण्ड या शरीर (अथवा शरीर के परमाणु) रखती हो। दो व्यक्तियों में सपिण्ड संबंध तभी होता है जब दोनों एक ही शरीर के परमाणुओं से सम्बद्ध रहते हैं। इस प्रकार से पिता और पुत्र में सपिण्ड संबंध है क्योंकि पिता के शरीर के परमाणु पुत्र में विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार पितामह और पौत्र में सपिण्ड संबंध है क्योंकि पितामह के शरीर के परमाणु उसके पुत्र में तथा उसके परमाणु पौत्र में विद्यमान हैं। इसी प्रकार से माता और पुत्र, मातामह और दौहित्र, मामा और भानजा, पति और पत्नी, सभी सपिण्ड हैं क्योंकि इनमें एक के शरीर के परमाणु साक्षात् अथवा परम्परा से दूसरे में विद्यमान हैं। अतएव यदि कहीं भी 'सपिण्ड' शब्द का प्रयोग होता है तो उससे एक ही शरीर के परमाणुओं से साक्षात् या किसी माध्यम के द्वारा पारस्परिक संबंध समझना चाहिये१।"

सपिण्डता की सीमा—चूंकि इस अनादि संसार में परमाणुओं२ का संबंध अनन्त पीढ़ियों तक चलता चला जाता है अतः याज्ञवल्क्य ने सपिण्डता के

---

१. या० स्मृ० ४।५२-५३ श्लोकों पर मिताक्षरा टीका।

२. आधुनिक विज्ञान वेत्ताओं का कथन कि मनुष्य के शरीर में 'क्रोमोसोम' नामक एक पदार्थ होता है जो पिता से पुत्र के शरीर में संक्रमित हो जाता है। यहाँ पर 'परमाणु' शब्द का प्रयोग इन्हीं 'क्रोमोसोम' के लिए किया गया है।

संबंध में यह नियम बना दिया कि मातृपक्ष में पाँच पीढ़ी तक और पितृपक्ष में सात पीढ़ी तक ही यह संबंध माना जायगा अर्थात् मातृपक्ष में पाँच पीढ़ी के बाद और पितृपक्ष में सात पीढ़ी के पश्चात् सपिण्डता का संबंध नष्ट हो जाता है१। वशिष्ठ ने भी इसी मत का समर्थन किया है२। मिताक्षरा के अनुसार सपिण्डता की पीढ़ियों को गिनने के लिये (१) सब के समान पूर्व-पुरुष (Common Ancestor) की भी गणना करनी चाहिये। (२) सपिडता के लिये वर तथा वधू के माता और पिता दोनों को भी ध्यान में रखना चाहिये (३) यदि सपिण्डता की गणना वर या वधू के मातृपक्ष की ओर से की जाती है तब वे दोनों समान पूर्व-पुरुष से पाँचवीं पीढ़ी के बाद अर्थात् छठी पीढ़ी में होने चाहिये परन्तु यदि यह गणना पितृ पक्ष की ओर से की जाती है तो ये दोनों—वर तथा वधू—सातवीं पीढ़ी से आगे अर्थात् आठवीं पीढ़ी में होने चाहिये। इसी बात को स्पष्ट रीति से समझाने के लिये नीचे दो चक्र (Diagram) दिये जाते हैं। इन चक्रों में 'स' वर्ण समान पूर्व पुरुष का प्रतिनिधि है; 'क' का अर्थ कन्या है और 'पु' का अर्थ पुत्र है।

---

१. पञ्चमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा। या० स्मृ० १।५३

२. पञ्चमीं सप्तमीं चैव मातृतः पितृतस्तथा। व० स्मृ०

डायग्राम—नं० १❀

स (१)

क (२)	यहाँ पर क (८) और	क (२)
पु (३)	पु (८) में विवाह सम्बन्ध हो	पु (३)
पु (४)	सकता है क्योंकि दोनों का	पु (४)
पु (५)	सपिंड सम्बन्ध पिता से लिया	क (५)
पु (६)	गया है और दोनों समान	पु (६)
पु (७)	पूर्व पुरुष 'स' से सात	पु (७)
क (८)	पीढ़ियों से अधिक दूर हैं।	पु (८)

डायग्राम—नं० २

स (१)

पु (२)	यहाँ पर पु (६) और क (६) में	पु (२)
पु (३)	विवाह सम्बन्ध हो सकता है क्योंकि	पु (३)
पु (४)	दोनों का सपिंड सम्बन्ध इनकी	पु (४)
क (५)	माताओं से दिखलाया गया है और	क (५)
पु (६)	ये दोनों पाँच पीढ़ी से अधिक दूर हैं।	क (६)

❀ ये दोनों चक्र डा० पी० वी० काणे की "हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र" नामक पुस्तक के जिल्द २ भाग. १ से लिये गये हैं जिसके लिए लेखक उनका आभारी है।

इस प्रकार याज्ञवल्क्य के मतानुसार सपिंड सम्बन्ध माता की ओर से पाँचवीं पीढ़ी तक और पिता की ओर से सातवीं पीढ़ी तक चलता है। इसके भीतर विवाह-सम्बन्ध नहीं हो सकता परन्तु इसके बाद की पीढ़ियों में विवाह स्वच्छन्दता से किया जा सकता है।

इस सम्बन्ध में आचार्यों के विभिन्न मत—सपिंड-संबंध के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। सपिंडता का संबंध कितनी पीढ़ियों तक मानना चाहिये इस संबंध में शास्त्रकारों का एक मत नहीं दीख पड़ता। याज्ञवल्क्य के मत का उल्लेख अभी किया जा चुका है। वशिष्ठ ने लिखा है कि मातृपक्ष में पाँचवीं पीढ़ी में तथा पितृपक्ष में सातवीं पीढ़ी में ही विवाह हो सकता है। परन्तु यह मत याज्ञवल्क्य के मत के विरुद्ध है। आचार्य पैठीनसी का कथन है कि कन्या मातृपक्ष में तीन पीढ़ी तथा वर पितृपक्ष में पाँच पीढ़ी के बाद के हों तो दोनों में विवाह सम्भव है[1]। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि सपिंडता कितनी पीढ़ियों तक चलती थी। स्मृतियों में अनेक ऐसे उद्धरण मिलते हैं जिनमें सपिंडता संबंध को अल्पतम पीढ़ियों में ही सीमित कर देने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। निर्णय सिन्धु में लिखा है कि शाकटायन के मतानुसार समान पूर्वपुरुष से सातवीं, छठी या पाँचवीं पीढ़ी में वर्तमान, कन्या से विवाह करने में कुछ भी दोष नहीं है[2]। इसी प्रकार मनु, पराशर, यम

---

१. यदपि वसिष्ठेनोक्तं पञ्चमीं सप्तमीं चैव मातृतः पितृतस्तथेति, त्रीनतीत्य मातृतः पञ्चातीत्य च पितृतः इति च पैठीनसिना तदप्यर्वाङ्निषेधार्थं न पुनस्तत्प्राप्त्यर्थमिति सर्वस्मृतीनामविरोधः। या० स्मृ० १।५३ पर मिताक्षरा टीका।

२. सप्तमीं च तथा षष्ठीं पञ्चमीं च तथैव च।
एवमुद्वाहयेत् कन्यां न दोषः शाकटायनः॥
तृतीयां वा चतुर्थीं वा पक्षयोरुभयोरपि।
विवाहयेत् मनुः प्राह पाराशर्योऽङ्गिरायमः॥

तथा अङ्गिरा का वचन है कि कोई व्यक्ति समान पूर्व पुरुष से माता तथा पिता दोनों पक्षों में चौथी या तीसरी पीढ़ी में स्थित, किसी कन्या से विवाह कर सकता है। पराशर के मत से कोई पुरुष—जो स्वयं समान पूर्व पुरुष से चौथी या पाँचवीं पीढ़ी में वर्तमान है—चौथी या छठी पीढ़ी की कन्या से विवाह करने का अधिकारी है। परन्तु जो व्यक्ति स्वयं पाँचवां है वह पाँचवीं पीढ़ी (समान पूर्व पुरुष से) की कन्या से विवाह नहीं कर सकता[1]। परन्तु अनेक आचार्यों ने पराशर के इस कथन का विरोध किया है।

सपिण्ड में विवाह न करने के कारण—अब यह विचार करना है कि शास्त्रकारों ने किस अभिप्राय से सपिंड विवाह का निषेध किया है। कुछ लोगों का विचार है कि व्यभिचार की भावना से ही यह विवाह निषिद्ध कर दिया गया। डा० काणे का मत है कि यह निषेध दो कारणों से किया जान पड़ता है। (१) सपिंड सम्बन्धियों में विवाह होने से उनके दोषों का संक्रमण भावी संतान में भी होने की आशंका थी (२) यदि अत्यन्त निकट सम्बन्धियों में विवाह होने लगे तो दूषित प्रेम की उत्पत्ति होगी और सदाचार में शिथिलता आ जायेगी। इसके अतिरिक्त उन लड़कियों के लिये पति मिलना अत्यन्त कठिन हो जायेगा जो एक ही घर में निकट सम्बन्धियों के साथ रहती होंगी[2]।

---

1. चतुर्थीमुद्वहेत् कन्यां चतुर्थः पञ्चमोऽपि वा पराशरयते षष्ठीं, पञ्चमो न तु पञ्चमीम्। निर्णय सिन्धु ३ पूर्वार्द्ध, पृ० २८५

2. "To me it seems more probable that in India at least the prohibiteni was due to two reasons firstly, the observed fact that, if near relatirs marry, their defects are transrnitted with aggravation to their offspring and secondly, the fear that, if marriages between near relatives by blood were allowed, there may be Clandestive love affairs and consequent loss of morals."

Dr. Kane—History of Dharmshastra. Vol. II, Part I, P. 477.

पाश्चात्य, विद्वानों के मतानुसार सपिंड विवाह इसलिये निषिद्ध माना गया था क्योंकि इससे प्रेम अत्यन्त संकुचित क्षेत्र में सीमित हो जाता था। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि ऐसे विवाह स्वाभाविक शीलता या शालीनता का उल्लंघन करते हैं अतः निषिद्ध हैं१। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डारविन ने लिखा है कि अत्यन्त निकट की वस्तुओं का पारस्परिक सम्बन्ध होने से आकार में कमी, शारीरिक शक्ति का ह्रास तथा कुरूप होने की प्रवृत्ति होने लगती है२। इन्हीं कारणों से सपिंड विवाह अत्यन्त निषिद्ध समझा जाता है।

(२) गोत्र का अर्थ—विवाह का दूसरा प्रतिबन्धक सगोत्रता है। विष्णु धर्मसूत्र, याज्ञवल्क्य३ तथा नारद सभी ने सगोत्र कन्या से विवाह करना निषिद्ध बतलाया है। मनु का भी यही मत है। अतः विवाह में असमान गोत्र का होना अत्यन्त आवश्यक है। ऋग्वेद में 'गोत्र' शब्द का अर्थ गोशाला या गायों का झुण्ड है४। कहीं कहीं पर गोत्र का अर्थ बादल, या वह पर्वत की श्रेणी या शिखर है जो जल देने वाले बादलों को छिपाये रखती है५। कुछ ऋचाओं में गोत्र का अर्थ 'दुर्ग' मिलता है। अन्य ऋचाओं में गोत्र का अर्थ सम्भवतः समूह से है६। ऐसा जान पड़ता है कि इसी अन्तिम वैदिक अर्थ

१. Westermark—History Vol. II, P. 162.

२. Darvin—Variation of animals and plants bude donestication. (London/1868).

३. अरोगिणीं भ्रातृमतीं असमानार्षगोत्रजाम्। १।५३

४. ऋग्वेद १।५१।३; २।१७।१

५. ऋग्वेद १०।१०३।७

६. ऋग्वेद २।२३।१८

(समूह) से 'गोत्र' शब्द का आधुनिक अर्थ—मनुष्यों का समुदाय—निकला होगा। ऋग्वेद में किसी सामान्य या समान पूर्व पुरुष से उत्पन्न वंशजों के अर्थ में गोत्र शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। हाँ, अथर्ववेद में 'विश्वगोत्र्य:' शब्द का प्रयोग पाया जाता है जिसका अर्थ है सब परिवारों से सम्बन्ध रखने वाला। यहाँ गोत्र शब्द का अर्थ उन लोगों से है जो एक रक्त से आपस में सम्बद्ध हों। अतः 'गोत्र' शब्द का अर्थ हुआ 'मनुष्यों का वह समुदाय जो आपस में एक रक्त से सम्बद्ध हों तथा जिनकी उत्पत्ति किसी समान पूर्व पुरुष (Common ancestor) से हुई हो। उदाहरण के लिये भृगु ऋषि से उत्पन्न सन्तति 'भार्गव' कहलाती है क्योंकि सबका गोत्र एकही—भृगु—है। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में प्रसिद्ध ऋषियों के वंशज उनके बहुवचनान्त रूप से सम्बोधित किये गये हैं—जैसे वसिष्ठ की सन्तान 'वासिष्ठाः' तथा अङ्गिरा के वंशज 'आङ्गिरसाः' कहे गये हैं।

<u>प्रधान गोत्र</u>—गोत्र की सामान्य भावना यह है कि वे समस्त पुरुष जो किसी समान पूर्व पुरुष से अखंडित (पुरुषों की) परम्परा के द्वारा अपनी उत्पत्ति मानते हैं वे सभी सगोत्र हैं। जब कोई मनुष्य कहता है कि मैं पराशर गोत्र का हूँ तब उसका आशय यही है कि वह अपनी उत्पत्ति प्राचीन कालीन पराशर ऋषि से अक्षुण्ण अखंडित रूप से मानता है। जैसा बौधायन ने लिखा है कि गोत्रों के संस्थापक अत्यन्त प्राचीन काल से आठ ऋषि हैं[1]—

---

१. विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमः। अत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते सप्त ऋषयः। तेषां सप्तर्षीणामगस्त्याष्टमानां यदपत्यं तद्गोत्रमुच्यते। बौ० श्रौ० प्रवराध्याय ५४।

(१) विश्वामित्र (२) जमदग्नि (३) भरद्वाज (४) गौतम (५) अत्रि (६) वशिष्ठ (७) कश्यप तथा (८) अगस्त्य। इन आठ ऋषियों की जो सन्तान उत्पन्न हुयी उसको गोत्र कहते हैं। यों तो गोत्र हजारों हैं परन्तु प्रधान रूप से यही आठ हैं२। ये आठ गोत्र पाणिनि और पतञ्जलि दोनों को ज्ञात थे। पतञ्जलि ने लिखा है कि अस्सी हजार ऋषियों ने ब्रह्मचर्य का पालन किया परन्तु अगस्त्य को लेकर आठ ऋषियों के ही कारण वंश या सन्तति की वृद्धि हुई। इन आठों के अपत्य गोत्र कहलाते हैं और इनके अतिरिक्त अन्य "गोत्रापत्य" कहे जाते हैं३। याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका मिताक्षरा में लिखा है कि गोत्र वह है जो वंश में परम्परा से चला आता हो। ये गोत्र कई समुदायों में बंटे हुये हैं। आश्वलायन श्रौत सूत्र के अनुसार वशिष्ठ गोत्र के चार विभाग हैं—(क) उपमन्यु (ख) पराशर (ग) कुण्डिन और (घ) वशिष्ठ। इसी प्रकार से अन्य गोत्रों में भी कई समुदाय हैं जिनका वर्णन विस्तार भय से नहीं किया जा सकता।

<u>सगोत्र में विवाह न करने का कारण</u>—सगोत्र संबंध यदि एक दिशा में सपिंड सम्बन्ध से अत्यन्त विस्तृत है तो दूसरी दिशा में संकुचित भी है। कोई भी व्यक्ति किसी सगोत्र कन्या से विवाह नहीं कर सकता चाहे यह सगोत्र-सम्बन्ध कितना ही दूर का क्यों न हो। इसी प्रकार से कोई गोद

---

२. गोत्राणां तु सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च।
ऊनपञ्चाशदेवैषां प्रवरा ऋषि दर्शनात्॥

३. अष्टाशीतिः सहस्राणि उर्ध्वरेतसामृषीणां बभूवुस्तत्रागस्त्याष्टमैर्ऋषिभिः प्रजनोऽभ्युपगतः। तत्रभवतां यदपत्यं तानि गोत्राणि, अतोऽन्ये गोत्रावयवाः॥ महाभाष्य भाग २ पृ० २३३।

लिया गया पुरुष अपने पिता की सगोत्र कन्या से विवाह नहीं कर सकता क्योंकि (१) यद्यपि उसका सम्बन्ध उत्तराधिकार तथा पिंडदान के विषय में अपने मौलिक कुल से कुछ भी नहीं है फिर भी उसका अन्य सम्बन्ध अपने पिता के कुल से उसी प्रकार बना हुआ है। (२) दूसरी बात यह है कि मनु ने स्पष्ट लिखा है कि कन्या वर के पिता के गोत्र को नहीं होनी चाहिये। इस तरह से गोद लिये जाने पर यद्यपि कोई व्यक्ति दूसरे गोत्र में चला जाता है फिर भी विवाह के अवसर पर पिता के गोत्र का ही विचार किया जाता है। इस प्रकार दत्तक पुत्र होने पर भी पिता की गोत्र वाली कन्या से विवाह करना निषिद्ध है। सपिंड सम्बन्ध में केवल पाँच और सात पीढ़ियों तक ही विवाह को निषिद्ध बतलाया है परन्तु सगोत्र सम्बन्ध के कारण अनादि पीढ़ियों तक विवाह का निषेध है। सपिंड एकही गोत्र या भिन्न गोत्र के भी लोग हो सकते हैं। परन्तु सगोत्र सपिण्ड ही हो सकता है अन्य नहीं। मिताक्षरा ने भिन्न गोत्र वालों को "बन्धु" लिखा है। सूत्रकाल में भी सगोत्र विवाह निषिद्ध था। स्मृतियों में तो इसका प्रचंड विरोध पाया जाता है। अपरार्क, स्मृति चन्द्रिका तथा पराशर-माधव ने ब्रह्मपुराण का एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें सगोत्र तथा सपिंड विवाह को 'कलिवर्ज्य' बतलाया गया है[१]। सगोत्र विवाह भी उन्हीं कारणों से निषिद्ध समझा जाता था जिन कारणों से सपिंड विवाह। इसीलिये इस नियम का पालन आजतक हिन्दू समाज में बड़ी कठोरता से किया जाता है।

---

१. सगोत्राद्वा सपिण्डाद्वा, विवाहो गोवधस्तथा।
नराश्वमेधौ मद्यञ्च, कलौ वर्ज्यं द्विजातिभिः॥ ब्र० पु०

(३) सप्रवर का अर्थ—सपिंड तथा सगोत्र के समान ही सप्रवर होना भी विवाह में प्रतिबन्धक माना जाता था। परन्तु आजकल सप्रवर होने का विशेष विचार नहीं किया जाता। प्रवर का दूसरा नाम "आर्षेय" भी है और यह इसी नाम से वेदों में पाया जाता है। इस प्रकार इसकी परम्परा ऋग्वेद तक चली गयी है। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर 'आर्षेय' का उल्लेख उपलब्ध होता है। अथर्ववेद (११।१।१६) के अनुसार आर्षेय का अर्थ "ऋषियों की सन्तान अथवा वे लोग जिनका सम्बन्ध ऋषियों से है" लिखा है। तैतरीय संहिता (२।५।८।७) में आर्षेय शब्द का प्रयोग "यजमान के सुप्रसिद्ध पूर्वज" अर्थ में किया गया है। इस प्रकार प्रवर या आर्षेय शब्द का अर्थ है एक या अनेक पूर्व पुरुषों का वह समुदाय जिससे उनके वंशजों का नाम संसार में प्रचलित हो।

गोत्र और प्रवर में भेद—गोत्र और प्रवर में बहुत ही थोड़ा अन्तर है। इसी भेद की कमी के कारण गोत्र की ही प्रधानता रह गयी और प्रवर की कल्पना को लोग भूल चले। यहाँ तक कि कुछ पढ़े लिखे ब्राह्मण भी अपना प्रवर नहीं जानते। गोत्र वह अन्तिम पूर्वज या अन्तिम पूर्वजों में से एक है जिसके नाम से वंश का नाम अनेक पीढ़ियों से चलता आता है परन्तु प्रवर उस ऋषि अथवा ऋषियों से सम्बन्धित हैं जो अत्यन्त पुरातन काल में विद्यमान थे; जो अत्यन्त प्रसिद्ध तथा यशस्वी थे तथा जो गोत्र—ऋषियों के पूर्वज थे[१]। इस प्रकार से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रवर-ऋषि वे थे जो गोत्र-ऋषियों के भी पूर्वज थे तथा अत्यन्त प्राचीन काल में आविर्भूत हुये थे। साधारणतया बहुसंख्यक गोत्रों में तीन प्रवर ऋषि होते हैं परन्तु कुछ ऐसे

१. काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जिल्द २, खण्ड १, पृ० ४९७.

भी गोत्र हैं जिनमें केवल एक, दो या पांच प्रवर ऋषि पाये जाते हैं। वे गोत्र जिनमें केवल एक ही प्रवर ऋषि हैं प्रधानतया मित्रायुस एवं वशिष्ठ हैं जिनके प्रधान प्रवर वशिष्ठ हैं। शौनक का प्रवर गृत्समद है और अगस्तीका प्रवर आगस्त है। इसी प्रकार से दूसरे गोत्रों के प्रवर तीन या पांच पाये जाते हैं।

सप्रवर में विवाह न करने का कारण—एकही प्रवर वाले वर तथा कन्या में विवाह-निषेध का कारण प्रायः वही है जो सगोत्र विवाह में पाया जाता है। चूंकि एक प्रवर में उत्पन्न होने वाले वर तथा वधू में एक ही रक्त की परम्परा चली आ रही है अतः इन दोनों का आपस में विवाह वैज्ञानिक तथा शास्त्रीय दृष्टि से हानिकारक है। इसीलिये प्रचीन आचार्यों ने सप्रवर विवाह का निषेध किया है। परन्तु भूल से यदि कोई व्यक्ति सप्रवर में विवाह करले तो कन्या का परित्याग नहीं करते थे। अपरार्क ने सुमन्तु का उद्धरण देते हुए लिखा है कि यदि कोई भ्रम से समान प्रवर वाली किसी स्त्री से विवाह कर ले तो वह उसके साथ मैथुन कर्म का परित्याग कर दे परन्तु स्त्री को नहीं छोड़ना चाहिए। प्रायश्चित्त रूप में वह चान्द्रायण व्रत करे[१]। परन्तु यदि कोई मनुष्य जान बूझ कर सप्रवर कन्या से विवाह करता है तो उसके लिये महान् दंड का विधान किया गया है।

(४) अन्य प्रतिबन्धक—उपर्युक्त तीनों के अतिरिक्त विवाह के अन्य भी प्रतिबन्धक थे। स्मृति मुक्ताफल में लिखा है कि विवाह-सम्बन्ध परिवर्तन के रूप में नहीं करना चाहिए अर्थात् अपनी लड़की का विवाह किसी के पुत्र से

---

१. परिणीय सगोत्रां तु समान प्रवरां तथा।
त्यागं कृत्वा द्विजस्तस्यास्ततश्चान्द्रायणं चरेत्॥
......त्यागश्चोपभोगस्य न तु तस्याः। अपरार्क पृ० ८०

करके पुनः उसकी लड़की का विवाह अपने पुत्र से नहीं करना चाहिये। यह प्रथा आज भी नीच जातियों में प्रचलित है। परन्तु सभ्य समाज इसे घृणित दृष्टि से देखता है। दूसरा प्रतिबन्धक एकही व्यक्ति से एकही साथ अपनी दो लड़कियों का विवाह करना है। ऐसे विवाह से गृहकलह की सम्भावना थी अतः इसे निषिद्ध माना गया है। दो सगे भाइयों से दो सगी बहिनों का विवाह भी निषिद्ध है। इससे भी गृह की शान्ति के भङ्ग होने की आशंका थी[१]।

गोत्र के बाहर विवाह के सम्बन्ध में पश्चिमी आचार्यों के विभिन्न मत—गोत्र के बाहर विवाह क्यों किया जाता था इस सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों में अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं। कुछ लोगों का मत यह है कि प्राचीन काल में स्त्रियों की कमी थी। इसलिये गोत्र के बाहर विवाह करने की प्रथा चल पड़ी[२]। दूसरे लोगों का यह कहना है कि कुल के भीतर बन्धन रहित मैथुन कर्म रोकने के लिये ही इस प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ[३]। कुछ विद्वानों के विचार से आत्मीय जनों में मैथुन जन्य आकर्षण उत्पन्न होने के अभाव से ही गोत्र के बाहर विवाह होने लगा[४]। अनेक विद्वान् यह कहते हैं कि प्रारम्भिक

---

१. प्रत्युद्वाहो नैव कार्यो नैकस्मै दुहितृद्वयम्।
न चैक जातयोः पुंसोः प्रयच्छेत् दुहितृद्वयम्॥
स्मृ० मु० (वर्णाश्रमधर्म पृ० १४८)

2. G. F. Mac Lennan—Studies in Anicient History P. 70.

3. L. H. Morgan—Ancient Society P. 424.

4. Crawley—The Mystic Rose P. 222.

युग में कुल का स्वामी या नेता कुल की नयी लड़कियों को स्वयं स्त्री रूप में ग्रहण कर लेना चाहता था अतः उसकी ईर्ष्या से कुल के नवयुवक अपने कुल या गोत्र से बाहर की लड़कियों से विवाह करने लगे। इस प्रकार जो वस्तु पहिले आवश्यकता के अनुसार वाधित होकर की जाती थी वह कालक्रम से एक प्रथा के रूप में परिणत हो गयी१। परन्तु यदि इन सिद्धान्तों पर विचार करते हैं तो इनकी सत्यता प्रमाणित नहीं होती। प्रथम सिद्धान्त को ही लीजिये। यदि यह मान भी लिया जाय कि प्राचीन काल में स्त्रियों की कमी थी तो भी प्रत्येक युवक को गोत्र या कुल के बाहर ही लाचार होकर विवाह करना पड़ता था यह नहीं माना जा सकता। दूसरे सिद्धान्त के विषय में यह कहना है कि जङ्गली जातियों में सदाचार की यह ऊँची कल्पना नहीं आयी होगी जिससे उन्होंने अपने गोत्र में विवाह करना बन्द कर दिया होगा। तीसरा सिद्धांत भी कुछ ठीक नहीं जँचता क्योंकि कामजन्य आकर्षण का अभाव गोत्र के अन्दर विवाह न करने का परिणाम है न कि इसका कारण चौथा सिद्धांत भी समीचीन नहीं है क्योंकि यह पशुजगत् से लिया गया है जहाँ मजबूत साँड़ या भैंसा अपने कमजोर कुटुम्बियों को गाय या भैंस के पास नहीं आने देता और उन्हें मार कर भगा देता है। अतः हमें गोत्र या कुल के बाहर विवाह करने का कारण कहीं अन्यत्र खोजना चाहिये।

प्राचीन काल में एक कुल के नवयुवक शिकार खेलने अथवा भोजन को प्राप्त करने की चिन्ता में वाहर जाते थे और दूसरे कुल की जातियों से उनका सम्पर्क होता था। नयी परिस्थितियों से बाधित होकर वे उस कुल की स्त्रियों से

---

1. I. G. Atkinson—Primal Law.

विवाह कर लेते थे और इस प्रकार से कुल के बाहर विवाह करने की प्रथा चल पड़ी। सम्भवत: कन्या-हरण के द्वारा भी इस प्रथा के प्रादुर्भाव में बहुत सहायता मिली होगी। प्राचीन काल में युद्धप्रिय जातियाँ समर में स्त्रियों को पकड़ कर घर लाती थीं और उससे विवाह कर लेती थीं। आवश्यकता से प्रेरित होकर किया गया यह कार्य आदत के रूप में परिणत हो गया और इन जातियों में सभ्यता के आगमन के बाद भी यह प्रथा उसी रूप में प्रचलित रही। यह भी हो सकता है कि कुल में द्वेष और झगड़ा बचाने के लिये ही इस प्रथा की उत्पत्ति हुई हो। क्योंकि यदि परिवार में ही विवाह होने लगता तो एकही कन्या से अनेक चचेरे भाई विवाह करना चाहते और इस प्रकार गृह में ही कलह पैदा हो जाता। इसलिए कुल के अगुआ ने यह सोचा होगा कि कन्या का विवाह गोत्र के बाहर हो उचित होगा।

सन्ततिशास्त्र की दृष्टि से विचार करने पर गोत्र या कुल के बाहर विवाह करना ही समुचित जान पड़ता है। अनुभव से भी यही बात सिद्ध होती है कि गोत्र या कुल के अन्दर विवाह करने से जाति का ह्रास होने लगता है। इङ्गलैंड के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डार्विन का कथन है कि "यदि एकही कुल के अन्दर विवाह करने की प्रथा बहुत दिनों तक चलती रहती है तो यह विश्वास है कि इसके फलस्वरूप उत्पन्न सन्तान में कद की कमी, शारीरिक बल का अभाव, सन्तानोत्पत्ति में ह्रास और शरीर में विकृति पैदा होने लगती है[१]।" इस प्रकार

---

1. "The consequences of close interbreeding carried on for too long a time are, as is genevally believed, loss of size, constitutional vigour, and fertility, sometimes accompanied by a tendendy of malformation."

Darwin—Variaction of Animals and Plants under Domistication, (London 1868).

सन्ततिशास्त्र के अनुसार भी यह आवश्यक है कि कुल के बाहर ही विवाह किया जाय। परन्तु यह कहना कठिन है कि कुल के बाहर विवाह करने के केवल ये ही कारण थे। यह बहुत सम्भव है कि भिन्न भिन्न प्रदेशों में विभिन्न अवस्थाओं में भिन्न भिन्न कारण रहे होंगे। परन्तु इतना निश्चित है कि कुल के बाहर विवाह करने का प्रधान कारण जातीय ह्रास और शारीरिक शक्ति में कमी होने की आशंका ही रही होगी। कुछ जातियाँ धार्मिक दृष्टि से भी कुल के भीतर विवाह करना अनुचित समझती रही होंगी।

(ङ) विवाह में शुल्क ग्रहण

प्राचीन भारत में तिलक तथा दहेज की प्रथा का अभाव—प्राचीन भारत में तिलक तथा दहेज की प्रथा का नितान्त अभाव था। प्राक् ऐतिहासिक काल में स्त्रियाँ घर की सम्पत्ति समझी जाती थीं। अतः विवाह के समय कन्या का पिता ही—न कि वर का पिता जैसा वर्तमान काल में प्रचलित है—कन्या-शुल्क को माँगने का अधिकारी समझा जाता था। चूँकि वर कन्या को अपने घर ले जाकर उसके पिता को उस कन्या की सेवाओं से वञ्चित कर देता था अतः इसकी क्षति-पूर्ति के रूप में उसे अपने श्वसुर को कुछ धन देना आवश्यक तथा स्वाभाविक ही था। वह अपने लिए कन्या के पिता से दहेज लेने का कभी स्वप्न में भी ख्याल नहीं कर सकता था। यदि वह कभी ऐसा 'डिमाण्ड' करता भी तो वह अनुचित समझ कर ठुकरा दिया जाता। इस प्रकार से प्राचीन समाज में दहेज की प्रथा का सर्वथा अभाव था।

स्मृतियों तथा संस्कृत नाटकों में दहेज की प्रथा का कहीं भी वर्णन नहीं पाया जाता। कन्या-शुल्क—अर्थात् वह धन जिसे वर को विवाह करते समय कन्या के लिए उसके पिता को देना पड़ता था—का वर्णन तो स्मृतियों में पाया जाता है परन्तु वर-शुल्क—अर्थात् तिलक या दहेज के रूप में वह धन जो कन्या का पिता विवाह के पहिले निश्चित किये गये शर्त के अनुसार वर को देता है—का कहीं भी पता नहीं चलता। यदि कन्या-शुल्क की ही तरह वर-शुल्क की भी प्रथा होती तो इसकी भी पूरी निन्दा स्मृतिकारों ने की होती। परन्तु इस प्रकार की निन्दा कहीं भी देखने को नहीं मिलती। यह सच है कि स्मृतियों ने वस्त्र तथा अलङ्कार से सुशोभित कन्या को विवाह में दान-रूप में देने का विधान किया है परन्तु अलङ्कार का दान पिता की स्वेच्छा के ऊपर निर्भर था। उसको किसी प्रकार से वाधित नहीं किया जाता था। वह अपनी शक्ति तथा श्रद्धा के अनुसार जितना अलङ्कार चाहे उतना अपनी पुत्री के लिए दे सकता था। इसके लिये विवाह के पूर्व उसे किसी प्रकार की शर्त का पालन नहीं करना पड़ता था। धनी तथा राजघरानों में विवाह के समय जामाता को कुछ वस्तुयें उपहार में दी जाती थीं। अथर्ववेद में एक स्थान पर राज-कन्याओं का विवाह के वाद १०० गायों को अपने साथ लेकर ससुराल में जाने का वर्णन मिलता है[१]। द्रौपदी, सुभद्रा तथा उत्तरा भी अपने साथ हाथी, घोड़े, गाय तथा रत्न उपहार रूप में ले गई थीं। रघुवंश में कालिदास ने इन्दुमती के विवाह के पश्चात् उसके पति को बहुमूल्य उपहार देकर विदा करने का वर्णन किया है[२]। परन्तु इन उपहारों को दहेज कदापि

१. नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमाशये। ५।१७।१२

२. भर्तापि तावत् क्रथकैशिकानामनुष्ठितानन्तरजाविवाहः।
सत्वानुरूपाहरणी कृत श्रीः प्रास्थापयद्राघवमन्वगाच्च ॥ ७।३२

नहीं समझना चाहिए क्योंकि ये स्वेच्छा से दिये जाते थे और विवाह के पहिले इनको देने के लिये किसी प्रकार की शर्त नहीं करनी पड़ती थी जैसा कि आज कल किया जाता है।

(१) तिलक तथा दहेज की प्रथा की उत्पत्ति—ऐसा ज्ञात होता है कि तिलक या दहेज की प्रथा की उत्पत्ति उस समय में हुयी होगी जब कन्या का विवाह दान-रूप में समझा जाने लगा था। शास्त्रों में ऐसा नियम बतलाया गया है कि किसी भी वस्तु का दान दक्षिणा के साथ होना चाहिये। दक्षिणा से रहित दान या यज्ञ का कुछ भी महत्व नहीं है और उससे पुण्य की प्राप्ति भी नहीं होती। गीता में दक्षिणा से हीन यज्ञ को तामसिक बतलाया गया है३। इसलिये कन्या रूपी दान के अवसर पर भी अलङ्कार या रुपयों के रूप में कुछ दक्षिणा देना आवश्यक समझा गया। परन्तु यह दान प्रारम्भ में नाम मात्र को ही था। इसके न देने पर भी विवाह में किसी प्रकार की बाधा नहीं उत्पन्न होती थी। यह दक्षिणा केवल राजघरानों तथा धनी, मानी कुलों में ही दी जाती थी। परन्तु धीरे धीरे इसका प्रचार बढ़ने लगा। राजपूत लोग उच्चवंश में पैदा होने का बड़ा गर्व रखते थे। सभी लोग उच्च घराने या कुल में अपनी कन्या का विवाह करना चाहते थे। अतः विवाह के बाज़ार में ऐसे कुलीन, तथा उच्चवंशाभिमानी वरों का भाव बढ़ने लगा और विवाह की वह दक्षिणा जो पहिले स्वेच्छा से दी जाती थी अब अनिच्छा से देनी पड़ने लगी। १३ वीं तथा १४ वीं शताब्दी से दहेज की प्रथा राजपूताने में बड़े

३. विधिहीनमसृष्टान्नं, मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धा विरहितं यज्ञं, तामसं परिचक्षते॥ १७।१३

भयंकर रूप में प्रचलित हो गयी। जिसका क्रम आज भी जारी है। परन्तु उस समय भी साधारण कुलों में दहेज नाम मात्र को ही दिया जाता था।

वर्तमान अवस्था—परन्तु विगत सौ वर्षों से इस दहेज की प्रथा ने वह भयंकर रूप धारण कर लिया है जिसका वर्णन करना कठिन है। घर में यदि कुछ भी धन हो तो भी लड़के का पिता तिलक लिये बिना अपने पुत्र का विवाह ही नहीं करता। परन्तु यदि वह लड़का कुछ पढ़ा लिखा भी हो और यदि कहीं नौकरी भी करता हो तब तो उसका क्या पूछना? ऐसे लड़कों के विवाह के लिये आजकल वैसे ही भाव ताव होता है जैसे बाज़ार में पशुओं का अथवा कबाड़ी की दूकान पर नीलामी चीज़ों का। जो सबसे अधिक रुपया दे सकता है वही उस लड़के से अपनी कन्या का विवाह करने का अधिकारी होता है। विवाह के पहिले लड़की के पिता से यह शर्त करा ली जाती है कि तिलक के रूप में धन की अमुक निश्चित निधि तुम्हें अवश्य-मेव देनी पड़ेगी। यदि रुपयों की इस निश्चित संख्या में दो चार की भी कमी पड़ गयी तो तिलक लौटा दिया जाता है और विवाह की बात भंग हो जाती है। आजकल मँहगी के कारण जिस प्रकार अन्न, वस्त्र अत्यधिक मँहगा हो गया है उसी प्रकार विवाह के बाजार में वर भी बहुत मँहगे बिक रहे हैं। तिलक तथा दहेज की यह घातक प्रथा अत्यन्त निन्दनीय है परन्तु दुःख तो यह है कि हिन्दू-समाज इस बुराई की अवहेलना करता हुआ अपनी गंभीर तथा घातक निद्रा में सो रहा है।

बुराइयां—तिलक तथा दहेज की प्रथा से हिन्दू-समाज में अनेक बुराइयाँ उत्पन्न हो रही हैं। जब इस घातक प्रथा का प्रचार नहीं था तब निर्धन मनुष्य भी यदि वह कुलीन है तो उच्च कुल में अपनी कन्या का विवाह कर सकता था परन्तु आजकल निर्धन मनुष्यों के लिये उच्चकुलों में विवाह करने का द्वार बन्द हो गया है। इसका विषम परिणाम यह हो रहा है कि उच्च

घराने की कन्यायें धनाभाव के कारण नीच कुलों में ब्याही जा रही हैं। दूसरी बुराई है—कन्याओं के विवाह के लिये सुयोग्य वरों का न मिलना। इस समय जो वर कुछ पढ़े लिखे तथा योग्य हैं उनके विवाह के लिये अत्यन्त अधिक तिलक माँगा जाता है। अतः निर्धन पिता लाचार होकर अपनी कन्या का विवाह किसी गुणहीन तथा मूर्ख वर से कर देता है जिससे उसे आजन्म नारकीय जीवन व्यतीत करना पड़ता है। इस प्रथा के कारण कितनी लड़कियों का विवाह नहीं हो पाता और वे पिता के दुःख को देखकर आत्महत्या तक कर लेती हैं। देवी स्नेहलता की करुण कहानी किसे ज्ञात नहीं है ? जिसने इसी कुत्सित प्रथा की वेदी पर अपना बलिदान कर दिया। समाज को चाहिये कि इस प्रथा को अति शीघ्र दूर कर दें क्योंकि यह शास्त्रानुमोदित नहीं है। हिन्दू युवकों को चाहिये कि वे हिन्दू समाज के रसातल तक पहुंचने के पहिले ही इस प्रथा के विरुद्ध विद्रोह कर दें।

(२) कन्या-शुल्क—प्राचीन भारत में तिलक तथा दहेज की प्रथा का नितांत अभाव था परन्तु कन्या-शुल्क की प्रथा अवश्य विद्यमान थी। प्राचीन समय में कन्या घर की सम्पत्ति समझी जाती थी। वह घर के कार्यों में हाथ बटाती थी। अतः जब कोई उससे विवाह करके उसे अपने घर ले जाता था तब वह उसके पिता को उसकी सेवाओं से वञ्चित कर देता था। ऐसी दशा में उसकी सेवा की क्षति-पूर्ति के रूप में पिता के द्वारा कन्या-शुल्क माँगना स्वाभाविक तथा उचित ही था। महाभारत से पता चलता है कि कैकेयी, गान्धारी तथा माद्री के विवाह के समय बहुत अधिक कन्या-शुल्क देना पड़ा था। यद्यपि इस प्रथा का प्रचलन प्राचीन भारत में विद्यमान अवश्य था परन्तु धर्मशास्त्रकारों ने इसका बड़े शब्दों में विरोध किया है। बौधायन ने तो यहाँ तक लिखा है कि

जो लोग अपनी कन्या को बेचते हैं वे घोर नरक में पड़ते हैं१। अत्रि का कथन है कि खरीदी गयी स्त्री धर्मतः पत्नी नहीं है तथा उससे उत्पन्न होने वाले पुत्रों को अपने पितरों को पिण्डदान देने का अधिकार नहीं है२। मनु ने भी कन्या-शुल्क की बड़ी निन्दा की है३। यह बड़ो मनोरंजक बात है कि जिस तिलक तथा दहेज की प्रथा का धर्मशास्त्रों में उल्लेख मात्र तक नहीं मिलता उसका इतना अत्यधिक प्रचार इस देश में हो गया है और कन्या-शुल्क सर्वथा लुप्त हो गया। यह सब काल चक्र की लीला ही समझनी चाहिए।

(च) विवाह में ज्योतिष का स्थान

(१) विवाह के लिये शुभ मुहूर्त—इस देश में विवाह परम पवित्र तथा धार्मिककृत्य माना जाता है अतः इस संस्कार को सम्पादित करने के लिये किसी मंगलमय तथा शुभ मुहूर्त को निश्चित करना स्वाभाविक ही है। विवाह सूक्त में लिखा है कि 'अघा में गायें मारी जाती हैं और फाल्गुनी में कन्यायें

---

१. शुल्केन ये प्रयच्छन्ति स्वसुतां लोभमोहिताः।
पतन्ति नरके घोरे घ्नन्ति चासप्तमात्कुलम्॥ १।११।२१

२. क्रयक्रीता च या कन्या न सा पत्नी विधीयते।
तस्यां जाताः सुतास्तेषां पितृपिण्डो न विद्यते॥ ३८४

३. आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददन्।
शुल्कं हि गृह्णन् कुरुते, छन्नं दुहितृ विक्रयम्॥ ९।९८

अपने पिता के घर से ले जायी जाती हैं१।' आपस्तम्ब में भी इसका वर्णन मिलता है२। विवाह के दिन वर को जो मधुपर्क दिया जाता था उसका उल्लेख एक ही मन्त्र में उपलब्ध होता है। सम्भवतः विवाह के दूसरे या तीसरे दिन कन्यायें अपनी ससुराल को चली जाती थीं। इससे यह ज्ञात होता है कि वैदिक काल में विवाह उस समय सम्पन्न किया जाता था जब चन्द्रमा का संयोग अघा (मघा) नक्षत्र से होता था। आश्वलायन गृह्य-सूत्र का कथन है कि सूर्य के उत्तरायण होने पर, शुक्ल पक्ष में, किसी शुभ नक्षत्र में चौल, उपनयन, गोदान तथा विवाह संस्कार करना चाहिये परन्तु कुछ आचार्यों के मत से विवाह सभी मासों में हो सकता है३। शा० गृ० सू० में कुछ भिन्न शब्दों में यही बात लिखी गयी है४। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र ने ऐसा विधान किया है कि शिशिर के दो महीने—माघ और फाल्गुन—और ग्रीष्म ऋतु का अन्तिम मास—आषाढ़—को छोड़ कर सभी महीनों में विवाह हो सकता है५। वह पिता जो यह चाहता है कि उसका जामाता उसकी कन्या को अधिक प्यार करे उसे चाहिये कि वह अपनी कन्या का विवाह निष्ट्या (स्वाती) नक्षत्र में करे। इससे पत्नी पति की प्रियतमा होती है, वह अपने पिता के घर फिर

---

१. अघासु हन्यते गावो फल्गुन्योः पर्युह्यते। ऋ० वे० १०।८५।१३

२. मघाभिर्गावो गृह्यन्ते फल्गुनीभ्यां व्यूह्यते। आप० गृ० सू० ३।१-२

३. उदगयन आपूर्यमाणपक्षे, कल्याणे नक्षत्रे, चौलकर्मोपनयनगोदान-विवाहाः। सार्वकालमेके विवाहम्। आ० गृ० सू० १।४।१-२

४. शा० गृ० सू० १।५।५

५. आप० गृ० सू० २।१२-१३

लौटकर नहीं आती१। बौधायन ने भी विवाह के लिये इन्हीं उपर्युक्त मासों को शुभ बतलाते हुये लिखा है कि रोहिणी, मृगशिरा, उत्तराफाल्गुनी, स्वाती नक्षत्र विवाह के लिए उपयुक्त हैं तथा पुनर्वसु, तिष्य (पुष्य), हस्त, श्रवण और रेवती नक्षत्र विवाह को छोड़कर अन्य संस्कारों के लिये शुभ हैं।२ मानव गृह्यसूत्र से पता चलता है कि रोहिणी, मृगशिरा, श्रवण, श्रविष्ठा (धनिष्ठा), और उत्तरा अर्थात् उत्तराषाढ़, उत्तराफाल्गुनी एवं उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र विवाह के लिये तथा कन्याको ससुराल भेजने (गवना) के लिये शुभ मुहूर्त हैं३। काठक (१४।६-१०) तथा वाराह गृह्यसूत्रों में भी ऐसा ही वर्णन पाया जाता है। रामायण में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र—जिसके देवता भग हैं—में विवाह होने का उल्लेख मिलता है४। महाभारत के आदि पर्व में ऐसे नक्षत्र में विवाह होने का वर्णन

---

१. यां कामयेत दुहितरं प्रियास्यादिति तां निष्ट्यायां दद्यात्, प्रियैव भवति। नैव च पुनरागच्छति इति ब्राह्मणावेक्षो विधिः।

—आ० गृ० सू० ३।३

२. सर्वे मासाः विवाहस्य। शुचितपस्तपस्यवर्जमित्येके। रोहिणीमृगशीर्ष उत्तरेफल्गुनी स्वातीति विवाहस्य नक्षत्राणि। पुनर्वसू तिष्यो, हस्तः, श्रोणा, रेवती, अन्येषां भूतिकर्मणाम्। बौ० गृ० सू० १।१।१८—२१

३. मा० गृ० सू० १।७।५

४. मघाह्यद्य महाबाहो, तृतीये दिवसे प्रभो।
फल्गुन्यामुत्तरे राजंस्तस्मिन्वैवाहिकं कुरु॥
उत्तरे दिवसे ब्रह्मन्, फल्गुनीभ्यां मनीषिणः।
वैवाहिकं प्रशसन्ति, भगो यत्र प्रजापतिः॥
वा० रा०, बालकाण्ड ७१।२४; ७२।१३

मिलता है जिसके देवता भग है१। कौशिक सूत्र में लिखा है कि विवाह कार्तिक पूर्णिमा के पश्चात् और वैसाखी पूर्णिमा के पहिले ही निष्पन्न होना चाहिये। अपनी इच्छानुसार कोई किसी भी समय विवाह कर सकता है परन्तु फिर भी चैत्र मास को अवश्य छोड़ देना चाहिये अर्थात् वर्ष के किसी भी महीने में विवाह करे परन्तु चैत्र में कदापि नहीं२।

विवाह का समय—गृह्यसूत्रों में विवाह के शुभ मुहूर्त के विषय में स्पष्ट वर्णन मिलता है परन्तु पीछे के निबन्धकारों ने ज्योतिष शास्त्र का सहारा लेकर बड़ा ही प्रपंच खड़ा कर दिया। रघुनन्दन ने अपने उद्वाहतत्त्व में राजमार्तण्ड तथा भुजबलभीम का उद्धरण देते हुये लिखा है कि "चैत्र और पौष को छोड़ करके विवाह के लिये सभी मास शुभ हैं, परन्तु यदि कन्या युवती हो गयी हो तो उसके लिये शुभ मास की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये, बल्कि विवाह के समय में नक्षत्र तथा चन्द्रमा को अनुकूल देखकर उसका विवाह कर देना चाहिये। कन्या जब तक १० वर्ष की हो तभी तक उसके विवाह के लिए अयन, मास, दिन आदि का विचार करना चाहिये, बाद में नहीं३। संस्कार रत्नमाला (पृ० ४६० में) लिखा है कि विवाह के

---

१. म. भा. ८।१६

२. उर्ध्वं कार्तिक्या आवैशाख्याः। यथाकामी वा।
चित्रा पक्षं तु वर्जयेत्। कौ० सू० ७५।२–४

३. राजग्रस्ते तथा युद्धे पितॄणां प्राणसंशये।
अतिप्रौढ़ा च या कन्या नानुकूल्यं प्रतीक्षते॥
अतिवृद्धा च या कन्या कुलधर्मविरोधिनी।
अविशुद्धापि सा देया, चन्द्रलग्नबलेन तु॥ राजमार्तण्ड
ग्रहशुद्धिमब्दशुद्धिं शुद्धिं मासायनर्तुदिवसानाम्।
अर्वाक् दशवर्षेभ्यो मुनयः कथयन्ति कन्यकानाम्॥
उद्वाहतत्त्व पृ० १२४ में भुजबलभीम का उद्धरण।

मास के संबंध में सूत्र तथा स्मृतियों में विरोध होने के कारण मनुष्यों को चाहिये कि अपने देश की प्रथा का पालन करें। ज्येष्ठ पुत्र का विवाह किसी व्यक्ति की ज्येष्ठ पुत्री से, ज्येष्ठ मास में नहीं करना चाहिये तथा जिस मास, दिन तथा नक्षत्र में जन्म हुआ हो उस मास, दिन तथा नक्षत्र में विवाह निषिद्ध है। सोमवार, बुधवार, बृहस्पति तथा शुक्रवार विवाह के लिये शुभ हैं परन्तु मदन पारिजात के अनुसार यदि रात्रि में विवाह हो तो सभी दिन शुभ हैं[1]। निर्णय सिन्धु के मत से रजस्वला कन्या के विवाह में गुरु शुद्धि की चिन्ता करना व्यर्थ है[2]। सिंह राशि में गुरु के होने पर विवाह तथा उपनयन नहीं करना चाहिये[3]।

(२) विवाह में जन्म-कुण्डली का स्थान—प्राचीन ग्रन्थों के अनुशीलन से पता चलता है कि पुरा काल में विवाह के समय जन्म-कुण्डली का विचार कुछ भी नहीं किया जाता था। गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में विवाह के निश्चित करने के पूर्व जन्म-कुण्डली को देखने का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। इसका कारण सम्भवतः यही जान पड़ता है कि उस समय में ज्योतिष शास्त्र की इतनी उन्नति नहीं हुई थी। वह अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था। ४०० ई० तक वर्तमान काल की भाँति वर-वधू की जन्मकुंडली में नाड़ी तथा गुण आदि को मिलाने की प्रथा का कहीं भी वर्णन नहीं मिलता। भास के नाटकों से पता चलता है कि ३०० ई० के आस-पास तक ज्योतिषी लोग

---

१. न वारदोषाः प्रभवन्ति रात्रौ। मदन पारिजात

२. रजस्वलायाः कन्यायाः गुरुशुद्धिं न चिन्तयेत्। ३ पूर्वार्द्धं पृ० ३०४

३. गोदावर्युत्तरतो यावद्भागीरथीतटं याम्यम्।
तत्र विवाहो नेष्टः सिंहस्थे देवपतिपूज्ये॥ सं० प्र० पृ० ८०६

केवल यही देखा करते थे कि विवाह के लिये कौन सा दिन शुभ है। कुछ नक्षत्र मंगल-कारक तथा शुभ समझे जाते थे। अतः उसी दिन विवाह सम्पन्न किया जाता था। इसके अतिरिक्त विवाह के सम्बन्ध में ज्योतिष शास्त्र का अधिक उपयोग नहीं था। ४०० से ६०० ई० के बीच ज्योतिष शास्त्र की अधिक उन्नति हुयी और सम्भवतः उसी समय से विवाह में वर-वधू की कुंडली को मिलाने की प्रथा चल पड़ी।

आज कल विवाह के निर्णय करने में जन्मकुंडली अत्यन्त आवश्यक समझी जाती है। ज्योतिषी लोग वर-वधू की कुंडली मिलाकर—जिसे 'गणना' कहते हैं—जब उसे ठीक तथा उचित बतलाते हैं तभी विवाह किया जा सकता है अन्यथा नहीं। जिन लोगों के पास जन्मकुंडली नहीं होती वे भी केवल विवाह के लिये एक झूठी जन्मकुंडली तैयार करा लेते हैं। यदि कन्या की जन्मकुंडली में किसी प्रकार का दोष निकल आता है अथवा वर की कुंडली से वह ठीक नहीं मिलती तो विवाह नहीं हो सकता। परन्तु नयी पाश्चात्य सभ्यता के साथ ही साथ कुंडली का महत्व अब धीरे धीरे नष्ट होने लगा है फिर भी अशिक्षित जनता में इसका महत्व आज भी बहुत अधिक है।

जन्मकुण्डली में विभिन्न विषयों पर विचार—ज्यों ज्यों ज्योतिषशास्त्र की उन्नति होती गयी त्यों त्यों विवाह में इसका उपयोग बढ़ता गया। जैसा पहिले लिखा जा चुका है प्राचीन काल में जन्मकुंडली का विचार नहीं होता था परन्तु बाद में विवाह में यह आवश्यक समझी जाने लगी। सं० प्र० में लिखा है कि जन्म के समय के नक्षत्र और राशि का विचार निम्नांकित आठ प्रकार से किया जाता है जिन्हें 'कूट' कहते हैं:—(१) वर्ण (२) वश्य (३) योनि (४) नक्षत्र (५) ग्रह (६) गण (७) राशि और (८) नाड़ी। वर कन्या के विवाह

के समय ज्योतिषी लोग इन्हीं आठ विषयों पर विचार करते हैं। इनमें वर्ण, गण तथा नाड़ी अत्यन्त प्रधान हैं। आजकल भी ब्राह्मणों में इन विषयों पर विचार करने के बाद ही विवाह सम्पन्न होता है। अतः सर्वप्रथम इनका संक्षेप में यहाँ विचार किया जाता है।

ज्योतिष शास्त्र में २७ नक्षत्र होते हैं। इनमें नव-नव नक्षत्रों को देवगण, मनुष्यगण तथा राक्षस—इन तीन-गणों में निम्न रीति से विभक्त किया गया है।

(क) देवगण	(ख) मनुष्यगण	(ग) राक्षसगण
१—अश्विनी	भरणी	कृत्तिका
२—मृगशिरा	रोहिणी	आश्लेषा
३—पुनर्वसु	आर्द्रा	मघा
४—पुष्य	पूर्वा	चित्रा
५—हस्त	उत्तरा	विशाखा
६—स्वाती	पूर्वाषाढ़	ज्येष्ठा
७—अनुराधा	उत्तराषाढ़	मूल
८—श्रवण	पूर्वाभाद्रपद	धनिष्ठा
९—रेवती	उत्तराभाद्रपद	शततारका

यदि वर और कन्या का जन्म इन तीन ग्रूपों में से किसी एक ही गण के नक्षत्रों में हुआ हो तो यह विवाह बहुत ही उत्तम समझा जाता है। जैसे यदि वर और कन्या राक्षस गण के मघा और चित्रा नक्षत्रों में पैदा हुए हों तो यह उत्तम है। यदि कन्या देवगण और वर मनुष्यगण के नक्षत्र में उत्पन्न हों तो इसका फल साधारण होता है। यदि वर देवगण या राक्षसगण के नक्षत्र में और कन्या मनुष्यगण के नक्षत्र में पैदा हो तथा यदि कन्या राक्षसगण एवं वर मनुष्यगण के नक्षत्र में उत्पन्न हो तो दोनों दशा में विवाह का फल मरण होता है। यदि कन्या देवगण और वर राक्षसगण के नक्षत्र में उत्पन्न हो तो विवाह के पश्चात् पति और पत्नी में सदा कलह रहता है। इस बात को नीचे के विवरण से स्पष्ट समझ लेना चाहिए।

देवगण	मनुष्यगण	राक्षसगण	फल
१–(वर + कन्या)	या (वर + कन्या) या	(वर + कन्या)	उत्तम
२–कन्या	+ वर	——	साधारण
३–वर	+ कन्या + या	(वर)]	मृत्यु
४- ——	वर +	कन्या]	मृत्यु
५–कन्या	+	वर	कलह

नाड़ी के विचार से नक्षत्रों का विभाजन निम्न प्रकार से तीन भागों में किया गया है।

आद्या नाड़ी	मध्या नाड़ी	अन्त्या नाड़ो
१—अश्विनी	भरणी	कृत्तिका
२—आर्द्रा	मृगशिरा	रोहिणी
३—पुनर्वसु	पुष्य	आश्लेषा
४—उत्तरा	पूर्वा	मघा
५—हस्त	चित्रा	स्वाती
६—ज्येष्ठा	अनुराधा	विशाखा
७—मूल	पूर्वाषाढ़ा	उत्तराषाढ़ा
८—शततारका	धनिष्ठा	श्रवण
९—पूर्वाभाद्रपदा	उत्तराभाद्रपदा	रेवती

यदि वर और कन्या के नक्षत्र एकही नाड़ी के हों तो यह बहुत बुरा माना जाता है क्योंकि इसका फल मृत्यु है। अतः एक नाड़ी होने पर विवाह नहीं हो सकता। इसलिये वर और कन्या के नक्षत्र विभिन्न नाड़ी के होने चाहिये। जैसे यदि कन्या की नाड़ी आद्या हो तो वर की अन्त्या होनी चाहिए। तभी दोनों में विवाह सम्बन्ध हो सकता है अन्यथा नहीं।

(३) विवाह के प्रबन्धक एवं कन्या-दान के अधिकारी—अब इस विषय पर विचार करना कुछ अप्रासङ्गिक न होगा कि विवाह में कन्यादान का अधिकारी कौन है तथा किसे कन्या के विवाह को निश्चित करने का अधिकार प्राप्त है। विष्णु ने लिखा है कि विवाह में क्रमशः पिता, पितामह, भाई, सम्बन्धी, नाना तथा माता कन्यादान कर सकते हैं[१]। यदि इस सूची में पूर्व व्यक्ति का अभाव हो तो यह अधिकार उत्तर वाले व्यक्ति को प्राप्त होता है अर्थात् पिता के अभाव में पितामह और उसके न रहने पर भाई आदि। याज्ञवल्क्य (१।६३-६४) ने कन्यादान करने वाले अधिकारियों की सूची में नाना को स्थान नहीं दिया है और यह लिखा है कि कन्यादान का अधिकार उसी अभिभावक को है जो पागल न हो। परन्तु यदि ऐसा सम्भव न हो तो कन्या को स्वयम्वर विधि से पति चुनना चाहिए। नारद के अनुसार अधिकारियों की यह सूची इस प्रकार है[२]—पिता, (उसकी आज्ञा से) भाई, पितामह, मामा, अपने कुलवाले, बान्धव और (पागल न होने पर) माता। सम्भवतः इस सूची में माता का नम्बर सबके अन्त में इसीलिये आया है कि माता विवाह कार्य में स्वतः भाग नहीं ले सकती थी बल्कि उसे यह कार्य किसी पुरुष के द्वारा ही कराना पड़ता था। विवाह में कन्यादान का कार्य बड़ा ही उत्तरदायित्वपूर्ण समझा जाता था क्योंकि उचित समय पर इसे सम्पादित न करने पर बड़ा पाप लगता था। सम्भवतः

---

१. वि० ध० सू० २४।३८-३९

२. पिता दद्यात्स्वयं कन्यां, भ्राता वानुमते पितुः।
पितामहो मातुलश्च, सकुल्या बान्धवास्तथा॥
मातात्वभावे सर्वेषां प्रकृतौ यदि वर्तते।
तस्यामप्रकृतिस्थायां दद्युः कन्यां सनाभयः॥ २०-२१

माता को पूर्ण उत्तरदायी न समझ कर ही नारद ने उसकी उपेक्षा की है। परन्तु आधुनिक भारतीय न्यायालयों ने अपनी कन्या के लिए पति को चुनने में माता के अधिकार को स्वीकार किया है जिसके अनेकों प्रमाण 'इण्डियन ला रिपोर्टर' में मिलते हैं। धर्मसिन्धु में लिखा है कि यदि किसी पुरुष के अभाव में कन्या स्वयम्वर करे अथवा उसकी माता कन्यादान करे तब कन्या या माता को चाहिये कि वह नान्दीश्राद्ध कर लें और विवाह के प्रधान संकल्प के अतिरिक्त अन्य कार्य किसी ब्राह्मण के द्वारा करावें[१]। नारद के अनुसार उन्माद या अन्य किसी बीमारी से ग्रसित मनुष्य के द्वारा किया गया कार्य अवैध है। अतः यदि पिता पागल हो तो उसके द्वारा भी निश्चित किये गए विवाह को नहीं करना चाहिए[२]। पिता की उपस्थिति में ही यदि कन्या का मामा उसका विवाह कर दे तो क्या करना चाहिए? इस विषय में "उद्वाहतत्त्व" में लिखा है कि सप्तपदी हो जाने पर विवाह भङ्ग नहीं हो सकता क्योंकि विवाह में विवाह-संस्कार को ही प्रधानता है कन्यादान के अधिकारी

---

१. कन्यास्वयम्वरे मातुर्दातृत्वे च ताभ्यामेव नान्दीश्राद्धं कार्यं, तत्र माता कन्या वा स्वयं प्रधानसंकल्पमात्रं कृत्वा अन्यद् ब्राह्मणद्वारा कारयेत्।

ध० सि० ३। पूर्वार्ध पृ० २५१

२. स्वतन्त्रोपि हि यत्कार्यं कुर्यादप्रकृतिं गतः।
तदप्यकृतमेव स्यादस्वातन्त्र्यस्य हेतुतः॥

या० १।६३ पर अपरार्क द्वारा नारद का उद्धरण

को नहीं[1] ।

जिस प्रकार प्राचीन काल में कन्या के विवाह का निर्णय पिता, पितामह, भाई आदि करते थे उसी प्रकार से साधारणतया आजकल भी होता है। परन्तु राजघरानों में तथा धनी, मानो पुरुषों के यहाँ यह कार्य नाई और ब्राह्मण किया करते हैं। वे दूर-दूर देशों में घूम-घूम कर वर को खोजते हैं तथा विवाह का निर्णय करते हैं। यदि ये लोभी हुये तो कार्य की सिद्धि ठीक ढङ्ग से नहीं होती। परन्तु 'कन्यादान' से इन लोगों का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह कार्य पिता, भाई आदि ही सम्पन्न करते हैं।

---

१. यदि तु विवाहो निवृत्तस्तदा प्रधानस्य निष्पन्नत्वे नाधिकारवैकल्यान्न तस्य पुनरावृत्तिरिति। उ० त० पृ० १२७

यदि तु सप्तपदीविवाहहोत्रादिप्रधानं जातं [illegible]ङ्गवैकल्येनापि नावृत्तिर्विवाहस्य। नि० सि० ३। पूर्वार्धं पृ० ३०७

५—विवाह-संस्कार

वैवाहिक-विधि का क्रमिक विकास—संसार की सभी सभ्य तथा असभ्य जातियों में विवाह संस्कार किसी न किसी रूप में अवश्य ही उपलब्ध होता है। हिन्दुओं का जीवन सदा से धर्ममय रहा है। अतः उनके संस्कारों एवं उत्सवों पर धार्मिक विश्वासों के कारण अनेक शास्त्रीय विधियों का विधान पाया जाता है। इस कारण विवाह जैसे महत्वपूर्ण तथा प्रसिद्ध संस्कार के अवसर पर वैवाहिक-विधियों का सम्पादन स्वाभाविक ही है। विवाह की विधि (Rites and Rituals) के इतिहास पर यदि हम दृष्टिपात करते हैं तो हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि वैदिक काल में वैवाहिक-विधि बहुत ही संक्षिप्त और सीधी सादी थी। परन्तु ज्यों ज्यों समय बीतता गया इस विधि विधान में विस्तार होता गया। सूत्रों के काल में विवाह की पद्धति प्रधानतया वही रही जो वैदिक काल में थी परन्तु विभिन्न कुलों में विभिन्न सूत्रग्रन्थों के पालन करने के अनुसार इसमें कुछ परिवर्तन हो चला था तथा वैवाहिक-विधि को विस्तृत रूप देने की प्रवृत्ति परिलक्षित होने लगी थी। इन सूत्रकारों ने विवाह की पद्धति को सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया तथा स्थानीय रीति रिवाजों का आश्रय लेकर वेदकालीन सरल विवाह-विधि को विस्तृत रूप में परिणत कर दिया। इसीलिये आश्वलायन ने लिखा है कि विभिन्न देश और जनपद की विवाह-सम्बन्धी विधियाँ अनेक हैं। विवाह में उनका पालन अवश्य करना चाहिए[१]। आपस्तम्ब का कथन है कि विवाह में स्थानीय

---

१. अथ खलूच्चावचा जनपदधर्मा:ग्रामधर्माश्च तान् विवाहे प्रतीयात्।
आ० गृ० सू० १।५।१

रीतियों के अनुसार विभिन्न विधि-विधानों का ज्ञान स्त्रियों से प्राप्त करना चाहिए१ ।

पारस्कर का मत है कि विवाह और श्मशान सम्बन्धी कार्यों में 'ग्रामवचन' को करना आवश्यक है। इन विषयों में 'ग्राम' ही प्रमाण होता है ऐसा श्रुति का मत है२ । गदाधर के मत से 'ग्राम' शब्द का आशय 'अपने कुल की बूढ़ी स्त्रियों से' है जो पूर्व पुरुषों के द्वारा अनुष्ठीयमान सदाचार को स्मरण रखती हैं३ । ग्रामीण रीति-रिवाजों का उल्लेख करते हुए गदाधर ने लिखा है कि मंगलसूत्र का बाँधना, गले में माला धारण करना; वर-वधू के वस्त्रों के अन्त भाग को लेकर उसमें गाँठ बांधना, न्यग्रोधपुटिका को धारण करना, वर के आने पर उसका नाक पकड़ना, वर के हृदय में दही लगाना आदि विधान भी विवाह में करना चाहिये४ । अतः ऊपर के इन उल्लेखों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूत्र

---

१. आवृतश्चास्त्रीभ्यः प्रतीयेरन् । आप० गृ० सू० २।१५

२. ग्रामवचनं च कुर्युः । विवाहश्मशानयोर्ग्रामं प्रविशतादिति वचनात् । तस्मात्तयोः ग्रामः प्रमाणमितिश्रुतेः । पार० गृ० सू० १।८।११-१३

३. ग्रामशब्देन स्वकुलवृद्धाः स्त्रियोऽभिधीयन्ते । ताः हि पूर्वपुरुषैरनुष्ठीय-मानं सदाचारं स्मरन्ति । पार० गृ० सू० १।८।११ पर गदाधर की टीका पृ० ६५ ।

४. विवाहे श्मशाने च वृद्धानां स्त्रीणां वचनं वाक्यं कुर्युः । सूत्रे अनुप-निबद्धमपि वधूवरयोर्मङ्गलसूत्रं, गले मालाधारणमुभयोर्वस्त्रान्ते ग्रन्थि-करणं, करग्रहणे न्यग्रोधपुटिकाधारणं, वरागमने नासिकाधारणं, वर हृदये दध्यादिलेपनादि ताश्च यत् स्मरन्ति तदपि कर्तव्यमित्यर्थः। च शब्दात्देशाचारोऽपि । पार० गृ० सू० १।८।११ पर गदाधर की टीका पृ० ९५

काल में ही वैवाहिक-विधियों में स्थानीय रीति-रिवाजों का भी समावेश होने लगा था जिसकी अविच्छिन्न परम्परा आज भी उसी प्रकार से चली आ रही है।

सूत्र काल में प्राचीन वैवाहिक विधि में अनेक परिवर्तन हुए। इस विधि में कुछ नवीन विधि - विधानों को भी सम्मिलित किया गया। पारस्कर के 'ग्रामवचन' और आश्वलायन के 'जनपद धर्म' पर विशेष ध्यान दिया गया और इस कारण इस विधि में अनेक नये विधानों का समावेश हुआ। नारायण भट्ट ने स्थानीय रीति-रिवाजों की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि "विवाह की विधि का क्रम कह दिया गया है परन्तु अपने देशाचार के अनुसार इसका पालन करना चाहिये१।" कमला-कर भट्ट का कथन है कि विवाह के संबंध में अपने देश और ग्राम की रीति का पालन करना चाहिये२। संस्कार-कौस्तुभ से पता चलता है कि बहुत लोग शास्त्रों के नियमों का उल्लंघन कर देशाचार का ही पालन करते थे३। इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि सूत्रों के पश्चात् काल में देशाचार की महत्ता बढ़ने लगी थी।

विवाह-पद्धति का जो वर्णन गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होता है उनमें मुख्यतया तीन प्रकार की विधियों का विधान किया गया है। कुछ ऐसी वैवाहिक विधियाँ हैं जो प्रारम्भिक हैं तथा जो वर-वधू के संयोग को प्रदर्शित करती हैं

---

१. क्रमः उक्तः स च देशाचारवशेनानुसर्तव्यः। प्रयोगरत्न

२. जनपदधर्माः ग्रामधर्माश्च विवाहे प्रतीयान्। निर्णयसिन्धु, पूर्वभाग ३

३. सकलग्रन्थाननादृत्याचारानुसरणमेवेच्छतां परितोषार्थं यथाचारमपि प्रयोगो लिख्यते। सं० कौ०

जैसे पाणि-ग्रहण, ग्रन्थि-बन्धन तथा हृदय स्पर्श । अनेक वैवाहिक संस्कार ऐसे हैं जिनमें दम्पति की सन्तान-वृद्धि तथा धन, - धान्य की समृद्धि की इच्छा प्रकट की गयी है। बहुत से विधान ऐसे भी हैं जिनमें विवाह के समय आने वाली आपत्तियों को हटाने की प्रार्थना की गयी है। अनेक ऐसी विधियाँ उपलब्ध होती हैं जो प्रधानतया धार्मिक हैं तथा जिनका विवाह में सम्पादन करना अत्यन्त आवश्यक समझा जाता है, जैसे अग्नि की प्रदक्षिणा तथा सप्तपदी आदि। परन्तु इन प्रधान विधियों के क्रम में भी गृह्यसूत्रों में अन्तर पाया जाता हैं। उदाहरण के लिये आश्वलायन ने सप्तपदी के पहिले अग्नि प्रदक्षिणा का वर्णन किया है परन्तु आपस्तम्ब में अग्नि प्रदक्षिणा के पहले ही सप्तपदी का उल्लेख मिलता है। फिर भी प्रधान वैवाहिक विधियों के सम्बन्ध में सभी गृह्यसूत्रों का मत एक समान है तथा सभी ने मूलभूत वैदिक विधि का ही ग्रहण किया है।

वेदों में वैवाहिक-विधि—यह कहना अत्यन्त कठिन है कि प्राक्-वैदिक काल में विवाह की विधि क्या थी? क्योंकि अभी तक उस समय के रीति - रिवाजों का वर्णन प्राप्त नहीं है। सम्भव है वैदिक काल के समान ही उस समय भी विवाह की विधि रही हो। ऋग्वेद के विवाह सूक्त[१] में हमें तत्कालीन विवाह-संस्कार की झाँकी मिलती है। यहाँ हिन्दू-विवाह के उच्च आदर्श तथा दाम्पत्य प्रेम के स्वरूप का दर्शन होता है। यद्यपि आजकल विवाह-संस्कार में अनेक परिवर्तन हो गये हैं फिर भी इन्हीं वैदिक मन्त्रों के द्वारा हमारा संस्कार आज भी सम्पन्न होता है। इसीसे इनकी महत्ता समझी जा सकती है। ऋग्वेद के विवाह सूक्त में सवितृ की कन्या सूर्या का विवाह सोम से होने का वर्णन मिलता है। इस विवाह में जिन संस्कारों का उल्लेख है उनका वर्णन संक्षेप में यहाँ उपस्थित किया जाता है।

---

१. ऋ० वे० १०।८५

दोनों अश्विन् सूर्या के पिता सवितृ के पास सोम के लिये सूर्या को वधू रूप में माँगने के लिये जाते हैं और सवितृ इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेते हैं। जब वर अर्थात् सोम विवाह करने लिये आता है तो उसका बड़ा आदर किया जाता है और उपहारस्वरूप उसे गायें दी जाती हैं। सोम सूर्या का पाणिग्रहण इस मन्त्र को पढ़ते हुये करता है कि "मैं तुम्हारा पाणिग्रहण ऐश्वर्य तथा प्रेम की वृद्धि के लिये कर रहा हूं। तुम अपने पति के साथ वृद्धावस्था तक जीवित रहो। तुमको भग, अर्यमन्, पूषण तथा सवितृ आदि देवताओं ने गृहस्थधर्म को पालन करने के लिये मुझे दिया है१।" कन्या पिता के द्वारा प्रदत्त दान है तथा इसके साक्षी देवता और अग्नि हैं (म० ४०-४१)। अतः विवाह होने पर कन्या पिता के अधिकार से निकल कर पति के साथ एक हो जाती है। इसके बाद वधू को आशीर्वाद दिया जाता है कि "तुम यहाँ (पति के) साथ रहो; तुम्हारी आयु बड़ी हो; तुम अपने घर में सुखी तथा बच्चों के साथ खेलती रहो। हे इन्द्र! आप इसे योग्य सन्तान तथा धन से सुशोभित करें; इसे दस पुत्र दें। ए वधू! तुम अपना सास तथा ससुर की अधीश्वरी बनो तथा देवर और ननदों पर शासन करो२।" इसके बाद विवाह

---

१. गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं, मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो, अर्यमा, सविता, पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥

ऋ० वे० १०।८५।३६

२. इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥ ऋ० वे० १०।८५।४२

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः, सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्रानाधेहि, पतिमेकादशं कृधि॥
सम्राज्ञी श्वसुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधिदेवृषु॥

ऋ० वे० १०।८५।४५-४६

के साधारण कृत्यों में सूर्या के साथ रैभ्या का अनुदेयी (मित्र) के रूप में जाना प्रधान कार्य है। रैभ्या उसके साथ इसलिये जाती है जिससे सूर्या का सर्वप्रथम पितृ-गृह–त्याग दुःखदायी न हो[१]। यह बात ध्यान देने योग्य है कि कन्या के पहिली बार ससुराल जाने के अवसर पर आज भी उसके साथ दासी या नौकरानी भेजी जाती है।

अथर्ववेद में भी वैवाहिक विधि का वर्णन पाया जाता है जो ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक व्यापक तथा विस्तृत हैं। इसके अनुसार कन्या वस्त्रालंकारों से सुसज्जित होकर अपनी सखियों के साथ अपने भावी पति के घर रथ में चढ़कर जाती थी। जब वह अपने पति के घर जाने लगती थी तब उसको अनेक मन्त्रों से सुखी तथा पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया जाता था[२]। विवाह के दिन वैदिक - मन्त्रों से अभिषिक्त जल से कन्या को स्नान कराया जाता था तथा गृहस्थी के भार का सूचक जुवा उसके सिर पर रक्खा जाता था[३]। इसके बाद वर उसको वस्त्र तथा अलंकार देता था जिसको वह धारण करती थी और पति उसे देखकर प्रसन्न होता था[४]। विघ्न को दूर करने वाले मन्त्रों को पढ़कर वे दोनों रथ पर चढ़ जाते थे और इस प्रकार विवाह का जलूस वर के घर लौट आता था। इसके पश्चात् पत्नी घर में प्रवेश कर पति के साथ अग्नि के सामने बैठती थी। उस समय

---

१. रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी।
सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम् ॥ ऋ० वे० १०।८५।६

२. अथर्ववेद १४।१।१७–२०।

३. अ० वे० १४।१।४०।

४. अ० वे० १४।१।५३-५७।

पत्नी को सौभाग्यवती, पुत्रवती तथा सास एवम् ससुर की सेवा में निरत होने का आशीर्वाद दिया जाता था१। विवाह के पश्चात् सुरत - सम्भोग होता था। रात्रि में वधू वर की शय्या पर लायी जाती थी। पति शय्या पर बैठने के लिये उससे प्रार्थना करता था। कुमारी लड़कियों में निवास करने वाले विश्वावसु तथा गन्धर्व को चले जाने के लिये विनती की जाती थी। इसके बाद दम्पति को दस पुत्र प्रदान करने के लिये अग्नि की स्तुति की जाती थी२। अन्त में ब्राह्मणों को नवीन वस्त्र देकर सम्पूर्ण वैवाहिक कृत्य समाप्त कर दिया जाता था।

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के समय वैवाहिक विधि प्रायः समान ही थी यद्यपि अथर्ववेद में वैवाहिक कृत्यों का क्रम कुछ भिन्न पाया जाता है। वास्तविक बात तो यह है कि अथर्ववेद की विवाह - विधि ऋग्वेद के विवाह - सूक्त पर अवलम्बित है। अथर्ववेद में पाणि - ग्रहण संस्कार की उतनी ही प्रधानता मानी गयी है जितनी ऋग्वेद में है। दोनों में कन्या का दान उसका पिता ही करता है। पाणि - ग्रहण संस्कार आज कल की भांति उस समय भी संभवतः कन्या के ही घर पर होता था। यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि ऋक् तथा अथर्व में जिस वैवाहिक-विधि का वर्णन उपलब्ध होता है वह मूलरूप में आज ५००० वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी उसी रूप में चला आ रहा है।

<u>सूत्र काल में विवाह की विधि</u>—इस काल में सूत्रकारों ने विभिन्न वैवाहिक विधियों को एक निश्चित रूप प्रदान किया तथा उनका वर्णन क्रमानुसार

---

१. अ० वे० १४।१।२५-२९।
२. अ. वे. १४।२।३३—३६।

किया है। गृह्यसूत्रों में वर्णित अध्ययन से पता चलता है कि प्रधान विधियाँ समान होने पर भी प्रत्येक के वर्णन-क्रम में कुछ न कुछ अन्तर दिखाई पड़ता है तथा कुछ में नयी विधियों का विधान भी पाया जाता है। इसका प्रधान कारण यही ज्ञात होता है कि प्रत्येक वैदिक परिवार का अपना पृथक् सूत्र था। अतः भिन्न-भिन्न सूत्रों से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों की विवाह पद्धति में पार्थक्य होना स्वाभाविक ही था। इसके अतिरिक्त स्थानीय रीति रिवाजों के पालन करने से और भी भिन्नता आ गयी। फिर भी इन विधियों में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं दिखाई पड़ता क्योंकि इन सभी का मूल ऋग्वेद है। भिन्न - भिन्न सूत्र - ग्रन्थों में विवाह के लिये समान रूप से एक ही वैदिक - मन्त्रों का प्रयोग किया गया है। परन्तु गृह्य - सूत्रों में अनेक नयी विधियाँ दिखाई पड़ती हैं।

वैवाहिक विधि-विधानों की सूची

गृह्य - सूत्रों के समय में विवाह संस्कार के क्रम का कुछ अनुमान दो प्रधान गृह्य - सूत्रों की वैवाहिक - विधियों की निम्नांकित सूची से लगाया जा सकता है।

पारस्कर गृह्यसूत्र	बौधायन गृह्यसूत्र
१—अर्घ्य और मधुपर्क	१—वर - प्रेक्षणम्
२—वस्त्र - परिधानम्	२—ब्राह्मण - भोजनम्
३—समाञ्जन	३—नान्दीमुख - विवाह - होम
४—वध्वा सह निष्क्रमण	४—वधूगृहे वर गमनम्
५—समीक्षणम्	५—समीक्षणम्

६—अग्नि प्रदक्षिणा	६—हस्त-ग्रहणम्
७—वैवाहिक होम तथा आज्याहुति आदि	७—सप्त - पदी
८—लाजा - होम	८—अर्घ्य और मधुपर्क
९—पाणि - ग्रहणम्	९—अलंकरणम्
१०—अश्मारोहणम्	१०—अदिति, अनुमति, सविता को होम
११—गाथा-गानम्	११—हृदय-स्पर्श
१२—अग्नि-प्रदक्षिणा	१२—कर्णे-जप
१३—शेष लाजा होम	१३—पाणि-ग्रहणम्
१४—सप्तपदी	१४—अग्नि-प्रदक्षिणा
१५—मूर्द्धाभिषेक	१५—अश्मारोहणम्
१६—सूर्य-दर्शन	१६—लाजा-होम
१७—हृदय-स्पर्श	१७—पुनः अग्नि प्रदक्षिणा
१८—अभि-मन्त्रण	१८—प्राजापत्य होम
१९—वृषचर्मारोहण	१९—उद्वाह (विवाह)
२०—ग्राम-वचन	२०—गृह-प्रवेश
२१—आचार्य-दक्षिणा	२१—वृषचर्मारोहण
२२—ध्रुव-दर्शन	२२—ध्रुव, अरुन्धती और सप्तर्षि-दर्शन
२३—त्रिरात्र-व्रत	२३—त्रिरात्र-व्रत
२४—आवसथ्य-होम	२४—चतुर्थी-कर्म
२५—उद्वाहनम्	२५—उपसंवेशनम्
२६—चतुर्थी कर्म	
२७—मूर्द्धाभिसिञ्चनम्	
२८—स्थाली-पाक-प्राशन	
२९—दम्पति-प्रेम-शिक्षा	
३०—गर्भाधानम्	

ऊपर दो प्रधान गृह्य-सूत्रों की दो सूचियाँ दी गयी हैं उनसे स्पष्ट पता चलता है कि यद्यपि प्रधान रूप से इनमें वैदिक - विधियों का ही अनुसरण किया गया है फिर भी नयी - नयी अनेक वैवाहिक - विधियों का इनमें समावेश पाया जाता है। उदाहरण के लिये मधुपर्क, लाजा होम, अश्मारोहण, गाथागान, मूर्द्धाभिषेक, हृदय-स्पर्श, सूर्य-दर्शन तथा सप्तपदी को लिया जा सकता है जिनका वैदिक विधियों में अभाव है। ऐसा ज्ञात होता है कि वैदिक काल के पश्चात् पुरोहितों ने स्थानीय प्रथाओं को स्थान देने की इच्छा से प्रेरित होकर विवाह की विधियों का अत्यधिक विस्तार कर दिया जो कई कारणों से अनिवार्य था। आपस्तम्ब तथा आश्वलायन ने विवाह संस्कारों में ग्रामीण रीतियों तथा कुल की प्राचीन परम्पराओं को सम्मिलित करने का विधान करते हुये इस पर बहुत ही जोर दिया है। इस प्रकार इस काल में जो नये परिवर्तन हुये उनका वैदिक - विधि विधानों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं था।

पद्धति तथा प्रयोगों के समय में वैवाहिक विधि—सूत्र काल के पश्चात् वैवाहिक विधियों में और अधिक परिवर्तन हुआ। बहुत सी नयी विधियाँ तथा परम्परायें इनमें जोड़ दी गयीं। पारस्कर के मत से ग्राम की वृद्ध स्त्रियों के द्वारा जो विधि बतलायी जाय वह भी मान्य है क्योंकि वे प्राचीन तथा प्रचलित लौकिक विवाह - परम्परा की रक्षा करने वाली समझी जाती हैं। आश्वलायन ने लिखा है कि स्थानीय रीतियाँ भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं अतः विवाह संस्कार में उनका भी ध्यान रखना चाहिये। नारायण भटट तथा कमलाकर भट्ट ने भी 'देशाचार' का आदर करने की व्यवस्था जिसका उल्लेख पहिले किया जा चुका है।

इन कारणों से, कुछ समय के पश्चात् वैवाहिक विधि-विधानों में अनेक परिवर्तन हो गये तथा इनमें भिन्न-भिन्न ग्रामीण रीतियाँ समाविष्ट हो गयीं जिनका वर्णन गदाधर ने पारस्कर की टीका में किया है। प्रारम्भ में, गृह्य-सूत्रों में केवल वैदिक-विधियों की ही प्रधानता थी। उस समय स्थानीय रीति-रिवाजों को विवाह की विधि में विशेष स्थान प्राप्त नहीं था। परन्तु समय की गति से बाध्य होकर बाद के शास्त्रकारों ने ग्रामीण - प्रथाओं को भी स्थान देना आवश्यक समझा। यही कारण है कि गृह्यसूत्रों के बाद जो पद्धति और प्रयोग बने उनमें वैवाहिक विधियों का बड़ा विस्तार पाया जाता है क्योंकि इन ग्रंथकारों ने ग्रामीण रीतियों को भी संस्कार रूप में ग्रहण कर लिया। आजकल भारतवर्ष के विभिन्न राज्यों में विभिन्न वैवाहिक पद्धति और प्रयोग प्रचलित हैं। इस कारण भिन्न-भिन्न प्रदेशों की वैवाहिक विधियों में भी विभिन्नता पायी जाती है। इतना होने पर भी हमारी धार्मिक तथा सांस्कृतिक एकता के कारण वैवाहिक - विधियाँ प्रधानतया प्रायः वे ही हैं जो वैदिक काल में प्रचलित थीं। स्थान भेद से भले ही इनमें कोई परिवर्तन हो गया हो परन्तु इनकी मूल - भित्ति अभी भी वैदिक - विधि ही है। आजकल जो पद्धति और प्रयोग पाये जाते हैं। उनमें वैवाहिक विधियों का क्रम निम्नांकित है। इस सूची से यह पता चलता है कि वैदिक काल से आज तक विवाह की विधियों में कितना परिवर्तन हो गया है।

(क) माण्डलीक	(ख) गदावर
१. वाग्दान	१. वाग्दान
२. मण्डपकरण	२. मृदाहरण
३. पुण्याहवाचन	३. हरिद्रालेपन
४. वर गमन	४. मण्डप-निर्माण
५. मधुपर्क	५. गणपति-पूजन
६. विस्टरदान	६. संकल्प
७. गौरी-हर-पूजा	७. नान्दी-श्राद्ध.
८. कन्या दानीय जलशुद्धि	८. वर-वरण
९. कन्यादान	९. घटी-स्थापन
१०. अक्षत रोपण	१०. वर-गमन
११. कङ्कण-बन्धन	११. नीराजन
१२. आर्द्राक्षत रोपण	१२. मधुपर्क
१३. तिलक करण	१३. वर-पूजा
१४. अष्टफल दान	१४. अग्नि स्थापन
१५. मङ्गल-सूत्र-बन्धन	१५. वस्त्र-परिधापन
१६. गणपति-पूजन	१६. समञ्जन
१७. वधू-वरोत्तरीय प्रान्तबन्धन	१७. गोत्रोच्चार
१८. अक्षतारोपण	१८. कन्यादान
१९. लक्ष्मी-पार्वती-शची-पूजा	१९. प्रतिग्रहण
२०. वापनदान	२०. समीक्षण

२१. विवाह होम	२१. अग्नि प्रदक्षिणा
२२. सप्तपदी	२२. वैवाहिक-होम
२३. गृह-प्रवेश-होम	२३. लाजा-होम
२४. अरणीदानम्	२४. पाणि-ग्रहण
२५. श्वसुराय कन्यार्पण	२५. अश्मारोहण
२६. देवकोत्थापनम् एवं मण्डपोद्वासनम्	२६. गाथागान
२७. गृहप्रवेश	२७. शेष लाजाहोम, प्रदक्षिणा
	२८. सप्तपदी
	२९. अभिषिञ्चन
	३०. सूर्यावलोकन
	३१. हृदय-स्पर्श
	३२. अभिमन्त्रण
	३३. सिन्दूरदान
	३४. वृष चर्मारोहण
	३५. आचार्य-दक्षिणा
	३६. ध्रुव-दर्शन
	३७. त्रि-रात्र-व्रत
	३८. देवकोत्थापन एवं मण्डपोद्वासन
	३९. वधू-प्रवेश
	४०. चतुर्थी-कर्म ।

इन दोनों पद्धतियों की विषय सूची पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट पता चलता है कि दोनों में वर्णित वैवाहिक विधियों में कितना अन्तर है। जहाँ माण्डलीक में २७ (सत्ताइस) वैवाहिक विधियों का उल्लेख है वहाँ गदाधर पद्धति में ४० (चालीस) विधियों का वर्णन मिलता है। आज-कल विवाह में जिन-जिन विधियों का प्रयोग मिलता है उनका सबसे अधिक

वर्णन गदाधर पद्धति में उपलब्ध होता है। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि सिन्दूर-दान जो आजकल विवाह में सबसे आवश्यकीय तथा प्रधान कार्य समझा जाता है तथा जो स्त्री का सबसे प्रधान सौभाग्य चिन्ह है उसका उल्लेख न तो वेदों में मिलता है, न सूत्रग्रन्थों में और न माण्डलीक में। हाँ, गदाधर ने इसका वर्णन अवश्य किया है। दूसरी प्रथा वर-वधू के उत्तरीय प्रान्त का बन्धन है जो इस समय प्रचलित है परन्तु प्राचीन ग्रंथों में इसका उल्लेख नहीं मिलता। बहुत सम्भव है कि यह प्रथा ग्रामीण हो। अब उपर्युक्त वैवाहिक विधियों में से प्रधान-प्रधान वैवाहिक कृत्यों का वर्णन किया जाता है।

विवाह-सम्बन्धी कुछ प्रधान विधियाँ

(१) वाग्दान—यह विवाह की प्रारम्भिक विधि है जिसे आजकल 'सगाई' कहते हैं। वाग्दान का अर्थ है वर को वधू प्रदान करने की मौखिक प्रतिज्ञा। प्राचीव काल में वर-वधू का चुनाव आपस में ही हो जाया करता था। उस समय दोनों का पारस्परिक-प्रेम ही विवाह में प्रधान कारण समझा जाता था। परन्तु कुछ समय के पश्चात् विवाह में माता और पिता का अधिकार अधिक होने लगा तथा वर के द्वारा वधू को प्राप्त करने के लिये उसके पिता की सम्मति लेनो आवश्यक समझी जाने लगी। यह प्रथा ऋग्वेद के समय में भी प्रचलित थी जैसा कि सूर्या के विवाह के लिये सोम की ओर से अश्विनों का कन्या के पिता सवितृ के यहाँ जाने से सिद्ध होता है[१]। गृह्यसूत्रों में इस विधि का वर्णन नहीं मिलता है। केवल नारद-स्मृति में इसका उल्लेख पाया जाता है जहाँ इसकी संज्ञा 'कन्या-वरण' दी गई है। इस प्रथा के अनुसार केवल वर के मित्र ही नहीं बल्कि स्वयं वर भी कन्या के पिता के पास जाकर उससे

१. ऋ० वे० १०।८५।९,१५,२३।

अपनी भावी धर्मपत्नी की याचना करता था। परन्तु मध्यकाल में वर के द्वारा वधू के घर स्वयं जाकर उसे माँगने की प्रथा बन्द हो गयी और इसके स्थान पर वर का पिता अपने साथियों के साथ कन्या के पिता के पास जाने लगा। गदाधर ने इस प्रथा का उल्लेख करते हुये लिखा है कि "किसी शुभ मुहूर्त में दो, चार या आठ आदमी सुन्दर वस्त्रों को धारण करके शकुन पक्षी का दर्शन कर, वर के पिता के साथ कन्या के पिता के पास जांय और उससे प्रार्थना करें कि अपनी पुत्री को मेरे पुत्र के लिये दो"। इस पर कन्या का पिता अपनी स्त्री से सलाह करके यह कहे कि "अमुक गोत्र में उत्पन्न अमुक व्यक्ति की पुत्री को आज शुभ मुहूर्त में मैं देता हूँ[१]।" इस प्रकार प्रस्ताव के स्वीकृत हो जाने पर वर का पिता कन्या की पूजा चावल, वस्त्र तथा फूलों से करे। इसके बाद ब्राह्मणों का आशीर्वाद प्राप्त कर यह विधि समाप्त समझनी चाहिये[२]।

यह प्रथा दक्षिण भारत में आज भी प्रचलित है परन्तु उत्तर भारत में पर्दे की प्रथा के कारण इसका सर्वथा लोप हो गया है। आजकल उत्तरी भारत में तो वर के पिता का, वधू के पिता के घर, जाने की बात तो दूर रही, वह अपने पुत्र के लिये अत्यधिक मात्रा में तिलक लिये बिना कन्या के पिता से बातें भी करना अपमानजनक समझता है। आजकल पुत्री के पिता को अपनी कन्या के लिये योग्य वर खोजना एक महान् संकट का विषय हो गया है। ऐसी दशा में उपर्युक्त 'वाग्दान' की प्रथा अपना विशेष महत्व रखती है। आजकल इस प्रथा की प्रतिनिधि 'वर-रक्षा' की

---

१. वाग्दान विधि, पा० गृ० सू० में गदाधर के द्वारा उद्धृत।

२. ततो ब्राह्मणाः आशीर्मन्त्रान्पठेयुः। वही।

प्रथा है जिसमें कन्या का पिता वर के पिता को कुछ निश्चित धन, यज्ञोपवीत तथा फल देता है। इसे 'फलदान' भी कहते हैं। इस विधि के हो जाने पर विवाह प्रायः निश्चित समझा जाता है।

आजकल कन्या - वरण की अपेक्षा 'वर-वरण' की प्रथा ही अधिक महत्वपूर्ण है। चण्डेश्वर के अनुसार "कन्या का भाई और ब्राह्मण वर के घर जाय और उसको यज्ञोपवीत, फल, फूल तथा वस्त्र प्रदान करें१।" आजकल इस प्रथा को 'तिलक' कहते हैं। गदाधर के मत से यह कार्य विवाह के एक दिन पहिले करना चाहिये परन्तु इस समय यह कार्य कई दिन पहिले भी किया जाता है।

(२) मृदाहरण—विवाह के कुछ दिन पहिले 'मृदाहरण' (मिट्टी ले आना) की विधि की जाती थी। गृह्यसूत्रों में इस विधि का उल्लेख नहीं मिलता। ज्योतिर्निबन्ध में लिखा है "प्रत्येक मांगलिक कार्य में नये दलों का प्रयोग करना आवश्यक है। विवाह के पहिले, तीसरे, पाँचवें, सातवें तथा नवें दिन, शुभ मुहूर्त में बाजे के साथ घर के उत्तर या पूर्व दिशा में जाकर किसी स्वच्छ स्थान से मिट्टी लानी चाहिये तथा उसे किसी मिट्टी के बर्तन में रखकर नया दल उत्पन्न करना चाहिये२। विवाह के पहिले दूसरी विधि का नाम 'हरिद्रा लेपन' है। वर तथा बधू के शरीर में हल्दी में तेल तथा सुगन्धित द्रव्य मिला कर लगाया जाता है। इससे शरीर कोमल तथा सुन्दर लगता है तथा यह मांगलिक भी समझा जाता है।

---

१. उपवीतं, फलं, पुष्पं, वासांसि विविधानि च।
देयं वराय वरणे; कन्या-भ्राता द्विजेन च॥

कृत्य चिन्तामणि।

२. पा० गृ० सू० १।८ में गदाधर का उद्धरण।

विवाह के एक दिन पहिले अनेक संस्कार किये जाते हैं। प्रारम्भ में शास्त्रों के नियमानुसार निर्मित किये गये विवाह-मण्डप में गणेश की प्रतिष्ठा कर उनका पूजन किया जाता है तथा इसी मण्डप में यज्ञीय अग्नि के लिये वेदी बनायी जाती है। इसके वाद कन्या का पिता स्नान तथा प्राणायाम कर स्वस्तिवाचन के लिये संकल्प करता है। पश्चात् मण्डप-प्रतिष्ठा, मातृ-पूजन, आयुष्यजप तथा नान्दी श्राद्ध आदि किया जाता है।

(३) घटी स्थापन—विवाह के दिन जल - घटी की स्थापना की जाती है तथा यह मन्त्र पढ़ा जाता है। "तुम ब्रह्मा के द्वारा बनाये गये यन्त्रों में श्रेष्ठ हो, स्त्री तथा पुरुष में भाव एवं अभाव, और काल (समय) के जानने का साधन तुम्हीं हो१।" घड़ी केवल विवाह के उचित समय को वतलाने का ही साधन नहीं है वल्कि वह उस अनन्त काल का भी प्रतीक है जो समस्त विश्व का नियामक है। यह घड़ी जल में कटोरे को रखकर बनायी जाती थी। संभवत: आधुनिक काल में विदेशी घड़ियों के उपलब्ध होने के कारण घटी-स्थापन की यह प्रथा अब विल्कुल नष्ट हो गयी है।

(४) वधू-गृह-गमन—अनेक मनोरंजन के कार्यों को करके सन्ध्या समय वर अपने मित्र तथा सम्बन्धियों के साथ अपनी अवस्था के अनुसार उचित सवारी पर चढ़कर बधू के घर जाता था२। वहाँ पहुंचने पर वर द्वार

---

१. मुखं त्वमसि यन्त्राणां ब्रह्मणा निर्मितं पुरा।
भावाभावाय दम्पत्योः कालसाधनकारणम् ॥
पा० गृ० सू० १।४।८ में गदाधर द्वारा उद्धृत।

२. कृतकौतुकबन्धश्च मित्रबान्धवसंयुतः।
यानं यथार्हमारुह्य यातव्यं च बधूगृहम् ॥
वी० मि० में शौनक का वचन।

के बाहर खड़ा रहता था और जल-कलश को लेकर वधू के घर की स्त्रियाँ उसका स्वागत करती थीं। वैवाहिक जुलूस या बारात का वर्णन ऋग्वेद में भी पाया जाता है।[१] सांख्यायन तथा आश्वलायन गृह्यसूत्रों में भी बारात का उल्लेख मिलता है। जहाँ वर के द्वारा रथ, हाथी या घोड़े पर चढ़ने का वर्णन किया गया है। आजकल की भाँति उस समय पालकी या नालकी में वर के जाने की प्रथा नहीं थी।

(५) मधुपर्क—विवाह के लिए वर के आने पर उसका ससुर मधुपर्क देकर उसका सम्मान करता था। उसको बैठने के लिए श्रेष्ठ आसन देकर उसे अर्घ्य प्रदान करता था। प्राचीन काल में अतिथियों के स्वागत करने के लिए गाय का उपयोग किया जाता था। इसका वर्णन गृह्यसूत्रों में मिलता है। परन्तु धीरे-धीरे गाय पवित्र वस्तु मानी जाने लगी। अतः उसको दान रूप में दे दिया जाने लगा। आजकल वर को दहेज रूप में गाय दी जाती है। सम्भवतः यह उपर्युक्त प्रथा का ही द्योतक है।

मधुपर्क विधि के बाद कन्या का पिता गन्ध, माला, अलंकार तथा यज्ञोपवीत देकर वर का पूजन करता था। पश्चात् कन्या मण्डप में लायी जाती थी और वर लौकिक अग्नि की स्थापना करता था। गृह्यसूत्रों के अनुसार यह अग्नि घर्षण से उत्पन्न की जाती थी। इसके पश्चात् वर निम्नांकित मन्त्रों को पढ़ता हुआ कन्या को अधोवस्त्र प्रदान करता था—

---

१. न त्वेवामा ॅ सोर्धः स्यात्। पा० गृ० सू० १।३।३०

"तुम वृद्धावस्था तक जीती रहो, इन वस्त्रों को पहिनो, शक्ति से युक्त होकर सौ वर्षों तक जीओ, पुत्र तथा धन से समन्वित रहो[1]" इसी प्रकार ऊर्ध्व वस्त्र भी प्रदान किया जाता था। आजकल ये वस्त्र विवाह के समय नहीं दिये जाते बल्कि विवाह होने के कुछ पहिले वर का बड़ा भाई (भसुर) कन्या को इन्हें अर्पित करता है।

(६) समञ्जन—इसके पश्चात् कन्या का पिता वर तथा वधू को तैल-स्पर्श कराता था। इस प्रथा जो 'समञ्जन' कहते थे। यह समञ्जन प्रेम या स्नेह का प्रतीक समझा जाता था। यह प्रथा आजकल नहीं पायी जाती।

(७) गोत्रोच्चार—विवाह के पहिले वर तथा वधू पक्ष के पुरोहित इन दोनों के पूर्व पुरुषों का नाम तथा प्रवर का उच्चारण करते थे। वसुदेव तथा हरिहर के मत से यह गोत्रोच्चार तीन बार करना चाहिये तथा गंगाधर के अनुसार केवल एक बार[2]। इस विधि का आशय केवल यही था कि उपस्थित लोगों को यह भली-भांति मालूम हो जाय कि वर तथा वधू दोनों सुप्रसिद्ध कुल में उत्पन्न हुए हैं तथा इनकी वंशपरम्परा अति-प्राचीन है। गृह्यसूत्रों में इस विधि का उल्लेख नहीं हैं। यह केवल विवाह पद्धतियों में ही पायी जाती है। यह प्रथा आजकल भी प्रचलित है जिसे 'गोत उचार' कहते हैं।

(८) कन्यादान—इसके बाद 'कन्यादान' की विधि सम्पादित की जाती थी। इस विधि को करने का अधिकार सबको प्राप्त नहीं था। प्रधानतया कन्या का पिता ही इसे करता था। उसके अभाव में शास्त्रों के द्वारा निर्दिष्ट

---

१. जरां गच्छ, परिधत्स्व वासो, भवाकृष्टीनामभिशस्तिपावा।
शतं च जीव शरदः सुवर्च्चा रयिं च पुत्राननुसंव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः इति। —पा० गृ० सू० १।४।१२

२. गर्ग पद्धति

व्यक्ति ही इसके अधिकारी थे। गृह्यसूत्रों में कन्या के विषय में "पिता के द्वारा दी गयी" ऐसा लिखा है।१ स्मृतियों में यह अधिकार अन्य सम्बन्धियों को भी दिया गया है। याज्ञवल्क्य का कथन है कि पिता, पितामह, भाई, कुल के लोग तथा माता कन्यादान कर सकती हैं। इनमें पहिले के न रहने पर क्रमशः दूसरा अधिकारी होता है।२ लड़की का पिता अथवा अभिभावक कन्यादान के समय निम्नांकित संकल्प को पढ़ता था "पूर्ण प्रसन्नता की प्राप्ति के लिये इस कन्या के द्वारा उत्पन्न पुत्र से बारह पीढ़ी पूर्व तथा बारह पीढ़ी पश्चात् अपने कुल को पवित्र करने के लिये तथा लक्ष्मी और नारायण की प्रीति के लिये मैं कन्यादान करता हूं।३" इस संकल्प के पश्चात् पिता कन्या को दान रूप में वर को प्रदान करता था और वह उसे स्वीकार करता था। यह प्रथा आज भी प्रचलित है तथा बड़ी महत्वपूर्ण समझी जाती है।

कन्या को देते समय उसका पिता या अभिभावक वर के सामने यह शर्त रखता था कि "धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति में इसका तिरस्कार न किया जाय।" इसके बाद वर प्रतिज्ञा करता था कि "मैं इसका तिरस्कार

---

१. पित्रा प्रत्तामादाय। पा० गृ० सू० १।४।१५

२. पिता पितामहो भ्राता, सकुल्यो जननी तथा।
कन्याप्रदः पूर्वनाशे प्रकृतिस्थः परः परः ॥१।६३

३. समस्तपितॄणां निरतिशयानन्दब्रह्मलोकावाप्त्यादिकन्यादान कल्पोक्तफलप्राप्तये······द्वादशावरान् द्वादशापरान् पुरुषांश्च पवित्रो कर्तुमात्मनश्च श्रीलक्ष्मीनारायणप्रीतये कन्यादानमहं करिष्ये।

जगन्नाथ—विवाह पद्धति।

नहीं करूँगा।"१ यह प्रतिज्ञा तीन बार इस लिये कहलाई जाती थी जिससे पति को यह सदा स्मरण रहे। शास्त्रों में लिखा है कि कोई भी दान दक्षिणा के बिना पूर्ण नहीं होता।२ अतः कन्या रूपी दान की पूर्ति के लिये उसे वस्त्र, अलंकार आदि दिया जाता था। इसके पश्चात् वर कन्या के साथ विवाह मण्डप को छोड़ देता था और उसे एकान्त स्थान में यह उपदेश देता था कि "वायु के समान तुम जहाँ भी संसार में भ्रमण करो, सुवर्ण पंख वैकर्ण (वायु) की दया से तुम्हारा हृदय मेरे ही हृदय में वास करे"।३ विवाह पद्धतियों ने इस विधि को 'वध्वादेश' (अर्थात् वधू को शिक्षा देना) बतलाया है।

(९) कङ्कण – बन्धन—इस विधि के अनुसार वर तथा वधू के हाथ में मन्त्र द्वारा एक सूत्र बांध दिया जाता था। प्राचीन काल में इस विधि का बड़ा महत्व था क्योंकि कंकण-बन्धन के समय से समावेश (सुरत-संबंध) तक ब्रह्मचर्य से रहना पड़ता था। आजकल भी यह प्रथा प्रचलित है परन्तु इसका वह प्राचीन उद्देश्य अब नष्ट हो गया है तथा यह केवल शोभा मात्र ही धारण किया जाता है।

(१०) लाजाहोम—इसके बाद अनेक प्रकार के होम किये जाते थे जिनमें राष्ट्रभृत्, जप, अभ्यातान और लाजाहोम प्रसिद्ध हैं। इनमें से प्रथम तीन

---

१. 'धर्मे चार्थे च कामे च नातिचरितव्या त्वयेयम्।'
'नातिचरामि' इति वरः।

२. मन्त्रहीनमदक्षिणम्—गीता

३. यदैषि मनसा दूरं, दिशोऽनु पवमानो वा।
हिरण्यपर्णो वैकर्णः स त्वा मन्मनसां करोतु॥ पा० गृ० सू० १।४।१५

होम वर की रचा के लिये किये जाते थे और अन्तिम होम का लक्ष्य समृद्धि तथा पुत्रोत्पत्ति था।१ कन्या का भाई अपने हाथ से कन्या के हाथों में लाजा (धान का लावा) को देता था तथा कन्या खड़ी होकर उन लाजाओं को लेकर अग्नि में हवन करती थी।

(११) पाणि-ग्रहणम्—इस विधि के अनुसार पति निम्नांकित मन्त्र से वधू का दाहिना हाथ पकड़ता था। "मैं तुम्हारा हाथ प्रसन्नता के लिये ग्रहण करता हूँ। तुम चिरकाल तक जीती रहो। भग, अर्यमा, सवितृ और पुरन्ध्री आदि देवताओं ने तुमको हमें दिया है जिससे तुम मेरे घर पर शासन कर सको। मैं साम हूँ, तुम ऋक् हो, मैं आकाश हूँ, तुम पृथ्वी हो, आवो हम दोनों विवाह करें तथा पुत्र उत्पन्न करें। हम लोगों को अनेक पुत्र हों तथा हम लोग चिरकाल तक जीते रहें। हम लोग सौ वर्ष तक देखें, सुनें तथा सुखपूर्वक जीवित रहें।"२ यह विधि पति के द्वारा स्त्री के पालन, पोषण तथा रक्षण का प्रतीक है। वधू का हाथ पकड़ कर पति उसे आश्वासन देता था कि "अब मैं आजीवन तुम्हारा साथी बना रहूँगा तथा तुम्हारे सुख, दुःख का मित्र रहूँगा"। यह विधि बड़ी पवित्र तथा महत्वपूर्ण समझी जाती थी क्योंकि इसके सम्पादित होने के पश्चात् पति स्त्री का समस्त उत्तर-दायित्व अपने ऊपर ले लेता था।

(१२) अश्मारोहण—अपने प्रेम तथा मैत्री में स्त्री को परिपूर्णतया विश्वस्त कराने के लिये पति वधू को पत्थर पर खड़े होने अथवा चढ़ने के लिये

---

१. इमाँल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरणं तव। पा० गृ० सू० १।६।१-२

२. अमोहमस्मि सा त्वं, सा त्वमस्य मोहं, द्यौरहं पृथिवी त्वं, सामाहमृक् त्वं; तावेह विवहावहै; प्रजां प्रजनयावहै, संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ जीवेव शरदः शतमिति। आ० गृ० सू० १।५।५

कहता था।१ इसीलिये इस विधि को 'अश्मारोहण' कहते थे। पति का आदेश पाकर वधू, अग्नि के उत्तर ओर, दक्षिण पैर से उस पाषाण खण्ड पर चढ़ती थी और पति इस मन्त्र को कहता था—"तुम इस पत्थर पर चढ़ो और पत्थर के समान स्थिर बन जाओ। शत्रुओं के सिर पर पैर रक्खो और उन्हें दूर भगा दो"।२ यहाँ पर पत्थर स्त्री की दृढ़ता तथा शत्रुओं को नाश करने की शक्ति का प्रतीक है। आजकल इस विधि का प्रयोग नहीं किया जाता। जब स्त्री पति के प्रति अपने कर्तव्यों के करने में दृढ़ होने का आश्वासन देती थी तब पति स्त्री के विषय में यह प्रशंसा सूचक मन्त्र पढ़ता था—"ए सरस्वती! तुम दयालु तथा सुन्दरी हो। सबके पहिले तुम्हारी स्तुति की जाती है; तुम में सारा संसार निवास करता है। आज मैं वह गाथा गाऊँगा जो स्त्रियों के यश का सबसे बड़ा साधन है"।३ इस मन्त्र में सरस्वती स्त्रियों की प्रतिनिधि मानी गयी हैं।

(१३) अग्नि-प्रदक्षिणा—इसके पश्चात् दोनों स्त्री और पुरुष अग्नि की प्रदक्षिणा करते थे तथा पति यह मन्त्र पढ़ता था "हे अग्नि! प्रारम्भ में सूर्या ने तुम्हारी ही प्रदक्षिणा की थी। आज भी तुम पुत्रों के साथ स्त्रियों को उनके पतियों को दे दो"४

---

१. अथैनामश्मानमारोहयत्युत्तरतोऽग्नेर्दक्षिणपादेन आरोहेममश्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव। अभितिष्ठ पृतन्यतोऽववाधस्व पृतनायत इति ॥१॥
पा० गृ० सू० १।७।१

२. पा० गृ० सू०—१।७।१

३. सरस्वती! प्रेदमव सुभगे वाजिनीवती। यां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः॥ यस्यां भूतं समभवत्, यस्यां विश्वमिदं जगत्। तामद्य गाथां गास्यामि, या स्त्रीणामुत्तमं यशः॥
पा० गृ० सू० १।७।२

४. तुभ्यमग्रे पर्यवहन्सूर्यां वहतु ना सह।
पुनः पतिभ्यो जायां दाग्ने प्रजया सहेति॥ पा० गृ० सू० १।७।३

(१४) सप्तपदी—इसके पश्चात् 'सप्तपदी' का विधान किया जाता था। इस विधि में पति स्त्री से उत्तर दिशा में सात पग (पद) चलने के लिये प्रार्थना करता था तथा साथ ही यह मन्त्र कहता जाता था। "एक पद अन्न के लिये, दो पद शक्ति के लिये, तीन पद धन की वृद्धि के लिये, चार पद सुख के लिये, पाँच पद पशु के लिये, छः पद ऋतु के लिये तथा ए मित्र! सात पद मेरे साथ एक हृदय होने के लिये चलो। मेरी अनुव्रता हो जाओ।"१ इस सप्तपदी में जिन वस्तुओं का उल्लेख किया गया है वे सब गृहस्थ जीवन में सुख प्रदान करने वाली हैं। कानून की दृष्टि से यह विधि अत्यधिक महत्व पूर्ण है क्योंकि इस विधि के सम्पादित हो जाने पर ही विवाह पूर्ण तथा वैध समझा जाता था। याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि सप्तपदी हो जाने पर कन्या अपने कुल ले भ्रष्ट होकर पति के कुल में चली जाती है।२ मनु का कथन हैं कि सप्तपदी हो जाने पर ही विवाह पूर्ण समझा जाता है।३ इन कथनों से इस विधि के महत्व का सहज ही में अनुमान किया जा सकता है। आज भी यह विधि सम्पादित होती है। पति अवश्य सात पद चलता है परन्तु पर्दा की प्रथा के कारण स्त्री अपने स्थान पर बैठी रहती है।

---

१. सप्तपदानि प्रक्रामयति। एकमिषे, द्वे ऊर्जे, त्रीणि रायस्पोषाय, चत्वारि मायोभवाय, पञ्च पशुभ्यः, षड् ऋतुभ्यः, सखे! सप्तपदा भव। सा मामनुव्रता भव। पा० गृ० सू० १।८।१

२. स्वगोत्रात् भ्रश्यते नारी, विवाहात्सप्तमे पदे। या स्मृ० १।७८

३. (क) पाणिग्रहणमन्त्रास्तु नियतं दारलक्षणम्।
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे॥
म० स्मृ० ९।७०

(ख) नोदकेन च वाचा वा कन्यायाः पतिरुच्यते।
पाणिग्रहणसंस्कारात् पतित्वं सप्तमे पदे॥
या० स्मृ० १।८४

(१५) हृदय स्पर्श—सप्तपदी हो जाने के बाद पति अपने दाहिने हाथ से स्त्री के हृदय का स्पर्श करता था तथा यह मन्त्र पढ़ता था "अपने व्रत में मैं तुम्हारे हृदय को धारण करता हूँ; तुम्हारा चित्त मेरे चित्त में निवास करे। तुम मेरे वचनों को सुनकर अपने हृदय से प्रसन्न होवो; प्रजापति तुम्हारा संयोग मेरे साथ करावे"१। मानव शरीर में हृदय भावों का केन्द्र स्थान समझा जाता है। अतः पति पत्नी के हृदय को छूकर के उन भावों को जागृत कर प्रेम के साथ सदा के लिये 'एकमना' होने का प्रयत्न करता था। हृदय-स्पर्श विधि का यही रहस्य था।

(१६) सिन्दूर-दान—इसके पश्चात् पति मण्डप में उपस्थित श्रेष्ठजनों तथा संबंधियों को वधू को आशीर्वाद देने के लिये आमन्त्रित करके यह श्लोक पढ़ता था "यह स्त्री मांगलिक आभूषणों को पहनी हुयी है। आप लोग आकर इसे देखिये और सौभाग्य प्रदान कर आप अपने घर को चले जाइये"२। इसी समय सिन्दूर-दान की विधि सम्पन्न की जाती थी। यद्यपि आजकल की विवाह-पद्धति में सिन्दूर-दान का सबसे प्रसिद्ध तथा महत्वपूर्ण स्थान है परन्तु आश्चर्य है कि गृह्यसूत्रों में इसका कहीं भी उल्लेख नहीं पाया जाता। गदाधर ने लिखा है कि परम्परा के अनुसार सिन्दूर-दान किया जाता है३। आजकल इस विधि को 'सुमङ्गली' कहते हैं। बहुत सम्भव है कि 'सुमङ्गलीरियं वधू' इस पद में प्रथम शब्द 'सुमङ्गली' होने के कारण ही इस विधि का नाम 'सुमङ्गली' पड़ गया हो।

---

१. अथास्यै दक्षिणा समधिहृदयमालभते, मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु, मम वाचमेकमना जुषस्व, प्रजापतिस्त्वा नियुनक्तु मह्यमिति। पा० गृ० सू० १।८।८

२. अथैनामभिमन्त्रयते, सुमङ्गलीरियं बधूरिमां समेत पश्यत; सौभाग्य-मस्यै दत्वा याथास्तं विपरेतनेति॥ पा० गृ० सू० १।८।९

३. अत्र आचारात् स्त्रियः सिन्दूरदानादि कुर्वन्ति॥ गदाधर पद्धति।

गृह्यसूत्रों के अनुसार कन्या को आशीर्वाद देने के पश्चात् कोई बलशाली पुरुष उसे मण्डप से उठाकर या पूर्व दिशा की ओर स्थित घर में उसे लाल बैल के चर्म पर इन शब्दों को कहते हुये बैठाता था कि "यहाँ पर गायें बैठे, यहाँ पर घोड़े और यहाँ पर मनुष्य। यहाँ पर सहस्त्र दक्षिणा वाला यज्ञ स्थित रहे और यहाँ पर पूषन् बैठें[१]।" बैल का चर्म पुत्रोत्पत्ति तथा ऐश्वर्य का प्रतीक समझा जाता था। इसीलिये कन्या को इस चर्म पर बैठाते थे। आजकल न तो कोई पुरुष कन्या को उठा कर घर में ले जाता है और न उसको बैठाने के लिये बैल के चर्म की आवश्यकता समझी जाती है। परदे की प्रथा के कारण पहिला कार्य अनुचित समझा जाता है तथा धार्मिक दृष्टि से बैल के चर्म पर बैठना उचित नहीं जान पड़ता। इसके बाद वर और वधू घर के एक कक्ष में चले जाते थे, जहाँ उस घर की तथा ग्राम की अन्य स्त्रियाँ उनसे अनेक प्रकार का हास - परिहास करती थीं। उत्तरी भारत में यह प्रथा आज भी विद्यमान हैं। आजकल ऐसे घर को —जहाँ विवाह के पश्चात् वर-वधू के साथ बैठता है तथा ग्रामीण स्त्रियाँ उससे हँसी मजाक करती हैं – 'कोहबर' कहते हैं। अधुना विवाह - सम्बन्धी ऐसी अनेक विधियाँ सम्पादित की जाती हैं जिनका शास्त्रों में कहीं उल्लेख नहीं पाया जाता तथा जो स्थानीय रीति-रिवाज के कारण विवाह-संस्कारों में समाविष्ट हो गई हैं। पारस्कर ने 'ग्राम वचन' पालन करने का उल्लेख किया है तथा गदाधर भी उनका समर्थन करते हैं[२]। ऐसी स्थानीय रीतियों

---

१. तां दृढपुरुषः उन्मथ्य प्राग्वोदग्वाऽनुगुप्त आगार आनडुहे रोहिते चर्मण्युपवेशयति। इह गावो निषीदन्त्विहाश्वाः, इह पूरुषाः। इहो सहस्त्रदक्षिणो यज्ञः इह पूषा निषीदन्त्विति।
पा० गृ० सू० १।८।१०

२. 'ग्राम - वचनं च कुर्युः'। पा० गृ० सू० १।८।११
विवाहे श्मशाने च वृद्धानां स्त्रीणां च वचनं कुर्युः।
सूत्रे अनुपनिबद्धमपि वधूवरयोर्मङ्गलसूत्रं गले माला धारणम् ... ... इत्यादि। पा० गृ० सू० १।८।११ पर गदाधर की टीका

में मङ्गलसूत्र का बाँधना, माला धारण करना, वर तथा वधू के वस्त्रों को लेकर ग्रंथि बन्धन करना, वट वृक्ष को स्पर्श करना, वर के आगमन पर उसके नाक को छूना तथा वर के हृदय में दधि लगाना इत्यादि प्रथायें उस समय भी प्रचलित थीं।

(१७) आचार्य - दक्षिणा—अन्त में विवाह कराने वाले पुरोहित या आचार्य को दक्षिणा दी जाती थी। पारस्कर ने लिखा है ब्राह्मण को चाहिये कि दक्षिणा - रूप में आचार्य को एक गाय दें तथा क्षत्रिय और वैश्य को क्रम से एक गाँव और घोड़ा देना चाहिये१। आजकल केवल धनी लोग आचार्य को एक गाय और कुछ रुपया दक्षिणा रूप में देते हैं।

(१८) ध्रुव-दर्शन—आचार्य को दक्षिणा देने के पश्चात् वैवाहिक विधि समाप्त समझी जाती थी। परन्तु फिर भी कुछ ऐसी विधियाँ करनी पड़ती थीं जो विवाह सम्बन्ध को चिरस्थायी तथा आनन्दपूर्ण बनाने में आवश्यक मानी जाती थीं। यदि विवाह दिन में होता था तो कन्या को 'तच्चक्षुरिति' मन्त्र को कहते हुये सूर्य को देखना पड़ता था।२ यदि विवाह रात में होता था तब वर कन्या को ध्रुव तारा दिखलाते हुये यह कहता था कि "तुम स्थिर हो, मैं तुम्हें स्थिर रूप में देखता हूँ, तुम मेरे साथ स्थिर होवो, बृहस्पति ने तुम्हें मुझको दिया है, अतः मुझसे पुत्र उत्पन्न करती हुयी तुम मेरे साथ सौ वर्षों तक जीवित रहो"३। आश्वलायन के अनुसार वधू को

---

१. आचार्याय वरं ददाति। गौर्ब्राह्मणस्य वरः। ग्रामो राजन्यस्य। अश्वो वैश्यस्य। पा० गृ० सू० १।८।१५-१७

२. अथैनां सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति। वही १।८।७

३. अस्तमिते ध्रुवं दर्शयति। ध्रुवमसि, ध्रुवं त्वा पश्यामि, ध्रुवैधि पोष्ये मयि मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिर्मया पत्या प्रजावती संजीव शरदः शतमिति॥ पा० गृ० सू० १।८।२०

अरुन्धती तारा और सप्तर्षि-मण्डल भी दिखलाना चाहिये१। यदि बधू इनको न भी देखे तौभी प्रश्न करने पर उसे यही कहना चाहिये कि मैं इन्हें देख रही हूँ२। ध्रुव दर्शन बधू को इसलिये कराया जाता था कि जिस प्रकार ध्रुव तारा निश्चल तथा स्थिर है उसी प्रकार से उसे भी पति के प्रेम में स्थिर रहना चाहिए। अरुन्धती-दर्शन का आशय संभवतः यह था कि वधू को अरुन्धती के समान ही पतिव्रता होना चाहिये।

(१६) त्रिरात्रव्रत—इसके पश्चात् त्रिरात्रव्रत किया जाता था। इस विधि का आशय यह था कि वर-वधू तीन रात तक ब्रह्मचर्य पूर्वक रहें। इस व्रत के द्वारा उनको यह स्मरण दिलाया जाता था कि विवाह के पश्चात् भी ब्रह्मचर्य से रहना उतना ही आवश्यक है जितना विवाह के पहिले। इस व्रत में वर तथा वधू तीन रात तक नमकीन भोजन नहीं करते थे, वे जमीन पर सोते थे और वे तीन रात, छः रात, बारह रात या एक वर्ष तक सुरत संभोग नहीं करते थे"३ कम से कम उन्हें तीन रात तक नियमित रूप से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना आवश्यक था। इसीलिये इसे 'त्रिरात्र व्रत' कहते थे। इन धार्मिक आदेशों को पति तथा पत्नी दोनों के लिये पालन करना अनिवार्य था।

---

१. ध्रुवमरुन्धतीं सप्तऋषीनिति दृष्ट्वा वाचं विसृजेत जीवपत्नी प्रजां विन्देयेति। आ० गृ० सू० १।६।२२

२. सा यदि न पश्येत् पश्यामीत्येव ब्रूयात्। पा० गृ० सू० १।८।२०

३. त्रिरात्रमक्षारालवणाशिनौ स्यातामधः शयीयाताम्।
संवत्सरं न मिथुनमुपेयातां, द्वादशरात्रं, षड्रात्रं, त्रिरात्रमन्ततः।
पा० गृ० सू० १।८।२१

एक विचित्र प्रथा—प्राचीन काल में त्रिरात्र व्रत के पश्चात् एक बड़ी ही मनोरंजक विधि की जाती थी। इस विधि के अनुसार दम्पति अलंकार धारण करके एक बिस्तर पर लेट जाते थे तथा उनके बीच में उदुम्बर वृक्ष की लकड़ी का बना हुआ 'विश्वावसु' नामक गन्धर्व दण्ड के रूप में विराजमान रहता था। यह दण्ड चन्दन से विभूषित और वस्त्र से आच्छादित होता था। व्रत के बाद चौथे दिन दम्पति एक अत्यन्त सुन्दर तथा सुसज्जित गृह में प्रवेश करते थे और इस महत्वपूर्ण मन्त्र को पढ़ते थे "ए विश्वावसु! हम लोग प्रार्थना करते हैं कि तुम हम लोगों की शय्या को छोड़कर चले जावो। तुम उस कन्या के पास जावो जिसकी आयु कम हो तथा जो तुम्हारी सहायता चाहती हो। इस बधू को तुम अब छोड़ दो, जिससे हम दोनों एक साथ रह सकें। हे गन्धर्व, यह बधू तुम से नतमस्तक होकर याचना करती है कि तुम चले जावो और तुम ऐसी कुमारी कन्या को खोजो जो अभी अपने पिता के घर में रहती हो। ऐसी ही कन्या तुम्हारे योग्य हैं।१" इस प्रार्थना के पश्चात् वह दंड उठा कर फेंक दिया जाता था। इस विधि का ठीक-ठीक उद्देश्य क्या था यह कहना कठिन है। डा० ए० सी० दास के मतानुसार इस दंड में विश्वावसु गन्धर्व का निवास समझा जाता था तथा यह वर तथा बधू दोनों के ब्रह्मचर्य का प्रतीक था।२ वैदिक काल में यह विश्वास प्रचलित था कि कन्या का उपभोग विभिन्न अवस्थाओं में सोम, गन्धर्व और अग्नि किया करते हैं। यह सम्भव था कि गन्धर्व अभी भी कन्या के शरीर में विद्यमान हो। अतः उसको छोड़कर अन्यत्र जाने के लिये गन्धर्व से प्रार्थना करना आवश्यक था।

---

१. बौ० गृ० सू० १।५।१७-१८

२. "This rod was supposed to be inhabited by Viswavasu Gandharva and was a witness of the pair's Brahmacharya"
Dr. A. C. Das—Rig Vedic culture. p. 381

(२०) चतुर्थी कर्म–गृह्यसूत्रों के अनुसार विवाह के चौथे दिन, प्रातः काल में, पति घर में अग्नि की स्थापना करता था। वह इस अग्नि के दक्षिण ओर बैठता था, हविष्यान्न पकाता था और निम्नांकित मन्त्र से अग्नि में उसका हवन करता था। "ए अग्नि! तुम देवताओं के प्रायश्चित्त हो। मैं ब्राह्मण रक्षा की इच्छा करता हुआ, तुम्हारी प्रार्थना करता हूँ। इस स्त्री में रहने वाली उन समस्त वस्तुओं का नाश कर दो जिससे पति की मृत्यु की आशंका हो। स्वाहा[१]"। इसी प्रकार से पति वायु, सूर्य, चन्द्रमा और गन्धर्व का क्रमशः आवाहन पुत्र, धन, पशु तथा यश की रक्षा के लिये करता था। तब वह यह मन्त्र पढ़ते हुये स्त्री के ऊपर जल छिड़कता था "उन बुरी वस्तुओं को जो तुममें निवास करती हैं और जो तुम्हारे पति, पुत्र, घर, पशु और यश का नाश करने वाली हैं उनको आज मैं नष्ट करता हूँ। तुम चिर काल तक मेरे साथ जीती रहो।"[२] इस विधि को 'चतुर्थी-कर्म' कहते थे क्योंकि यह विवाह के चौथे दिन किया जाता था। आजकल यह विधि वर के घर नहीं की जाती बल्कि बारात के विदा होने के पहिले लड़की के पिता द्वारा घर में सम्पादित होती है। इस विधि का उद्देश्य कन्या के उन बुरे प्रभावों को नष्ट करना था जिनसे वर के परिवार में हानि होने की आशंका थी।

चतुर्थी कर्म के पश्चात् पति अपनी स्त्री को पकाये गये अन्न को खाने के लिये बाधित करता था तथा यह मन्त्र पढ़ता था "मैं तुम्हारे प्राणों को

---

१. अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि।
ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्यै पतिघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय, स्वाहा। पा० गृ० सू० १।११।२

२. ततः एनां मूर्द्धन्यभिषिञ्चति। याते पतिघ्नी, प्रजाघ्नी, पशुघ्नी, गृहघ्नी, यशोघ्नी, निन्दिता तनूर्जारघ्नी तत एनां करोमि; सा जीर्य त्वं मया सहासाविति।
पा० गृ० सू० १।११।४

अपने प्राणों से धारण करता हूँ, मांस को मांस से और हड्डी को हड्डी से"१। कुछ काल के पश्चात् यह प्रथा वर-वधू के सहभोज के रूप में परिणत हो गयी। गदाधर ने लिखा है कि "यहाँ पर पति पत्नी के साथ रीति के अनुसार एक साथ ही भोजन करता है"२। हिन्दू धर्मशास्त्रों में पति, पत्नी का एक साथ भोजन करना निषिद्ध हैं परन्तु ऐसे समय में इस प्रकार के कार्य में कुछ भी पाप नहीं लगता। इस विधि से पति-पत्नी की एकता सूचित होती है।

(२१) देवकोत्थापन और (२२) मण्डपोद्वासन—विवाह-संस्कार के संबंध में यह अन्तिम विधि है। गृह्यसूत्रों में इसका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता परन्तु इसका पता विवाह पद्धतियों से चलता है। इस विधि के अनुसार विवाह के अन्त में देवताओं को विसर्जित कर विवाह के मण्डप को उखाड़ दिया जाता था। यह कार्य विवाह के पश्चात् सम दिवसों जैसे चौथे या छठे में करना चाहिये। पांचवें तथा सातवें दिन को छोड़कर विषम दिन इस कार्य के लिये वर्ज्य हैं।३ यह विधि आजकल भी की जाती है। इस कार्य के पश्चात् वैवाहिक कृत्य पूर्णतया समाप्त समझा जाता था।

---

१. प्राणैस्ते प्राणान्सन्दधामि, अस्थिभिरस्थीनि, मांसैर्मांसानि, त्वचा त्वचम्। पा० गृ० सू० १।११।५

२. अत्र स्त्रिया सह वरोऽपि समाचाराद् भोजनं करोति। स्त्रिया सह भोजनेऽपि न दोषः इत्याह हेमाद्रौ प्रायश्चित्त काण्डे गालवः।

एकयान समारोहः; एकपात्रे च भोजनम्।
विवाहे, पथि, यात्रायां; कृत्वा विप्रो न दोषभाक्॥
अन्यथा दोषमाप्नोति पश्चाच्चान्द्रायणं चरेत्।

पा० गृ० सू० में गदाधर

३. समे च दिवसे कुर्यात् देवकोत्थापनं बुधः।
षष्ठं च विषमं नेष्टं मुक्त्वा पंचमसप्तमौ॥ गर्गपद्धति में उद्धृत।

आधुनिक वैवाहिक विधि—गत पृष्ठों में पारस्कर तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र में जिस वैवाहिक विधि का उल्लेख है उसका विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। अब आधुनिक समय में वर्तमान तथा प्रचलित वैवाहिक विधियों का संक्षेप में उल्लेख किया जाता है। जैसा पहिले लिखा जा चुका है जातिभेद तथा स्थानभेद से इन विधियों में महान् अन्तर दिखाई पड़ता है। केवल ब्राह्मण जाति को ही लिया जाय तो इनमें भी सरयूपारीण, कान्यकुब्ज, गौड़, सनाढ्य, सारस्वत और झिझौतिया आदि अनेक भेद और उपभेद पाया जाता है तथा प्रत्येक के विवाह-संस्कार में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य मिलता है। अतः ऐसी दशा में समस्त भारत में हिन्दू-समाज में प्रचलित वैवाहिक - विधियों के वर्णन के लिये एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की ही आवश्यकता है। परन्तु इस कार्य के लिये न तो यहाँ अवकाश ही है और न स्थान ही। अतः उदाहरण के रूप में 'भोजपुरी-प्रदेश' (यू० पी० के पूर्वी जिलों तथा बिहार के पश्चिमी जिलों) में प्रचलित वैवाहिक विधि का यहाँ अत्यन्त संक्षेप में वर्णन प्रस्तुत किया जाता है।

भोजपुरी प्रदेश में सर्वप्रथम कन्या का पिता वर के पिता के पास जाता है और अपनी कन्या का विवाह उसके पुत्र से करने की प्रार्थना करता है। इस पर वर का पिता कुछ निश्चित धन उससे माँगता है और यदि लड़की का पिता उस धन देने के लिए उद्यत हो जाता है तो विवाह को निश्चित रूप प्रदान करने के लिये किसी शुभ मुहूर्त में वह कुछ रुपये, फल तथा यज्ञोपवीत वर को प्रदान करता है। इस विधि को 'वर-रक्षा' या 'फलदान' कहते हैं। चूँकि इस विधि के पश्चाद् वर की रक्षा हो जाती है, अब कोई दूसरा व्यक्ति उससे विवाह का प्रस्ताव नहीं कर सकता, अतः इसे 'वर-रक्षा' कहते हैं। इसके कुछ दिनों के बाद तथा विवाह से कुछ दिन पहिले लड़की का पिता निश्चित धन की राशि—जिसकी संख्या साधारणतया कई हजार रुपयों में होती है—तथा वर्तन और वस्त्रों को लेकर अपने कुछ बन्धु-बान्धवों के साथ, वर के घर जाता हैं और उसे इन वस्तुओं को समर्पित करता है। इस विधि को 'तिलक चढ़ाना' कहा जाता हैं। इस दिन वर के घर

बड़ा उत्सव मनाया जाता है, वृहत् भोज होता है तथा नृत्य आदि का भी प्रबन्ध रहता है। इसी दिन विवाह की तिथि निश्चित की जाती है। विवाह के दिन वर के बन्धु, बान्धव तथा सम्बन्धो बड़ी सज-धज के साथ हाथी, घोड़ों तथा सवारियों में बैठकर बारात के साथ कन्या के पिता के घर जाते हैं। बारात-विदा होने के पहिले स्त्रियाँ वर के सिर पर लोढ़ा घुमाती हैं जिसे 'परिछावन' कहा जाता है। यह कृत्य संभवतः वर के सकुशल लौट आने तथा विघ्न-बाधाओं को दूर करने के लिए किया जाता है। पश्चात् बारात चलती है और कन्या के घर पहुँचती है। वहाँ पहुँचने पर वर की पूजा की जाती है। उस पर पवित्र जल और अच्चत छिड़का जाता है तथा श्रेष्ठ लोग उसे आशीर्वाद देते हैं। इस विधि को 'द्वारपूजा' कहते हैं। सम्भवतः यह वर और बारात में आये हुये सज्जनों के स्वागत के लिये किया जाता है। पश्चात् 'जनवासा' में जाकर कन्या का पिता और उसके बन्धु-बान्धव वर के पिता को भोजन करने का निमन्त्रण देते हैं जिसे 'आज्ञा माँगना' कहते हैं। बाद में वर का बड़ा भाई (भसुर) विवाह मण्डप में जाता है और अपने छोटे भाई की भावी स्त्री (भवहि) को अलंकार, वस्त्र आदि समर्पित करता है। इसे 'गुरहत्थी' या 'कन्या निरीच्चण' भी कहते हैं। संभवतः प्राचीन काल में जब पर्दे की प्रथा नहीं थी तब भसुर (वर का बड़ा भाई) स्वयं वधू को अलंकार वस्त्र आदि देता था। परन्तु अब पर्दे की आड़ में छिपी कन्या के हाथ से छुला कर इन वस्तुओं को वह रख देता है। इसके पश्चात् वर मण्डप में लाया जाता है और वैवाहिक विधि प्रारम्भ होती है।

विवाह में दोनों पच्चों के पुरोहित आमने-सामने बैठते हैं और वे वर तथा वधू के गोत्रों तथा प्रवरों का ज़ोरों से उच्चारण करते हैं। इसे 'गोत्रोच्चार' की संज्ञा प्राप्त है। इसके बाद अनेक छोटे-छोटे विधि-विधान किये जाते हैं। बाद में अग्नि को जला कर उसमें हवन होता है। लड़की का पिता अपनी कन्या को गोद में लेकर विवाह-मण्डप में बैठा रहता है और वैवाहिक विधि सम्पादित की जाती है। वर-वधू के बाये अँगूठे को

अपने दाहिने हाथ से छूता है तथा उसे एक पत्थर पर रख देता है। सम्भवतः यह विधि प्राचीन काल के अश्मारोहण संस्कार का प्रतीक है। इसके बाद कन्या का पिता संकल्प पढ़ करके अपनी कन्या का दान कर देता है जो 'कन्यादान' के नाम से प्रसिद्ध है। यह बड़ा ही महत्वपूर्ण संस्कार समझा जाता है क्योंकि जो व्यक्ति कन्या-दान देता है वह कन्या का अन्न-जल कभी ग्रहण नहीं करता। कुछ लोग विवाहिता लड़की के गाँव का पानी तक भी नहीं पीते।

इसके पश्चात् में 'सिन्दूरदान' की विधि होती है। वर अपने हाथ में सिन्दूर लेकर स्त्री के मांग में अर्पित करता है। इसे 'सुमङ्गली' भी कहते हैं। यह संस्कार भी अपना बड़ा महत्व रखता है। क्योंकि यह भारतीय स्त्रियों के सौभाग्य का द्योतक तथा उनके शृङ्गार का प्रधान साधन है। इसके पश्चात् वर तथा वधू को ध्रुव तारा का दर्शन कराया जाता है जिससे दोनों का प्रेम ध्रुव के समान ही स्थिर रह सके। बाद में 'सप्तपदी' का विधान होता है। वर तथा बधू दोनों साथ-साथ सात पद चलते हैं अथवा वे सात बार अग्नि की प्रदक्षिणा करते हैं। इसे "भाँवर घूमना" या 'भाँवर पड़ना" कहा जाता है। पर्दे की प्रथा के कारण वधू कभी-कभी प्रदक्षिणा नहीं करती और उसके स्थान पर उसके किसी आभूषण या वस्त्र को ही अग्नि के चारों ओर उसके प्रतिनिधि के रूप में घुमा दिया जाता है। इसके पश्चात् आचार्य को दक्षिणा देकर विवाह समाप्त समझा जाता है। पुरोहित वर तथा बधू के हाथों में 'रक्षा या मङ्गलसूत्र' बांधते हैं। बाद में घर की स्त्रियाँ वर तथा बधू को 'चूमकर' एक सुसज्जित घर में ले जाती हैं और वहाँ वे अनेक प्रकार का हास-परिहास वर के साथ करती हैं। इस घर को 'कोहबर' कहते हैं। वर तथा बधू रात भर यहीं रहते हैं। प्रातःकाल वर 'जनवासा' में चला जाता है और बारात की विदाई हो जाने पर वह अपने घर लौट आता है। विवाह के पश्चात् जब वर बधू को लेकर अपने घर जाता है इस संस्कार को 'गवना' की संज्ञा दी जाती है। घर पहुंचने पर

पालकी से उतर कर गृह में प्रवेश करते समय वर तथा बधू को 'दौरा' में पैर रखकर चलना पड़ता है जिसे 'दौरा में डेग ड़ालना' कहते हैं। विवाह के चौथे दिन वर किसी नदी के किनारे स्त्रियों के साथ जाता है और वहाँ उसके रक्षा या कङ्कण - सूत्र का मोचन किया जाता है। इसे "कङ्कण मोचन' या 'कक्कन छूटना' कहते हैं। इस दिन बन्धु-बान्धवों को भोज दिया जाता है और इस प्रकार विवाह का कृत्य सम्पूर्णतया समाप्त समझा जाता है।

ऊपर भोजपुरी प्रदेश में प्रचलित वैवाहिक-विधि का जो संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है उससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आज ५००० वर्षों के व्यतीत हो जाने पर भी हमारे वैवाहिक संस्कार प्रधानतया वही हैं जो वैदिक काल में थे। यद्यपि अनेक लौकिक रीति-रिवाजों के कारण उनमें अनेक परिवर्तन तथा परिवर्धन हो गये हैं परन्तु उनका मूल आधार वहीं है जिसका वर्णन वेदों में मिलता है। आज भी हमारे सभी वैवाहिक संस्कार वैदिक-मन्त्रों के द्वारा सम्पन्न होते हैं तथा इन विधियों में आज भी वही भावना विद्यमान है जो वैदिक-समय में थी। हिन्दुओं की भिन्न-भिन्न जातियों तथा उपजातियों की वैवाहिक विधियों में देश-काल के भेद के कारण भले ही कुछ विभिन्नता आ गयी हो परन्तु सबकी मूल विधियाँ वे ही हैं जिनका सूक्ष्म दर्शन हमें वेदों में मिलता हैं। गृह्यसूत्रों में इन्हीं विधियों का पल्लवीकरण हुआ तथा वैवाहिक प्रद्धतियों और प्रयोगों में इन्होंने विस्तार को प्राप्त किया। इस प्रकार वैवाहिक - विधि की वैदिक धारा आज भी अवच्छिन्न रूप से प्रवाहित पायी जाती है।

—०*०—

६—वैवाहिक-जीवन

(क) पति और पत्नी में पारस्परिक संबंध—हिन्दू-समाज में प्रचलित वैवाहिक विधियों का वर्णन पहिले किया जा चुका है तथा यह भी दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि किस प्रकार सप्तपदी के समय वर तथा बधू एक हृदय होकर प्रेम भाव से जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञा करते थे। किस प्रकार विवाह से उत्पन्न धार्मिक तथा सामाजिक उत्तरदायित्व का पालन करने का ये संकल्प करते थे तथा अपने-अपने विहित कर्तव्यों का पालन करने के लिये वचनवद्ध होते थे। अब प्रस्तुत अध्याय में यह दिखलाने का प्रयास किया जाता है कि पति तथा पत्नी के कर्तव्य क्या थे तथा कौन अपने कर्तव्य का पालन करने में अधिक तत्पर रहता था। स्त्री तथा पुरुष के दाम्पत्य जीवन का आदर्श क्या था, पत्नी के साथ पति कैसा व्यवहार करता था, स्त्री की धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक अवस्था कैसी थी तथा अन्य देशों में स्त्रियों की क्या दशा थी?

स्त्री के साथ व्यवहार—प्राचीन काल में स्त्रियों का विवाह प्रौढ़ावस्था में होता था। वे शिक्षित तथा गृह कार्य में दक्ष होती थीं। अतः जब वे अपने ससुर के घर में आती थीं तब उनके साथ सद्व्यवहार करना स्वाभाविक ही था। ऋग्वेद से पता चलता है कि विवाह के पश्चात् स्त्री गृह-स्वामिनी बन जाती थी और सास तथा ससुर से गृह के शासन सूत्र को अपने हाथ में ले लेती थी[१]। उसकी सम्मति का सम्मान होता था और उसकी आज्ञा का सभी पालन करते थे[२]। 'दम्पति' शब्द का धात्वर्थ

---

१. सम्राज्ञी श्वसुरे भव, सम्राज्ञी अधिदेवृषु। ऋ० वे० १०।८५।४६

२. यथा सिन्धुर्नदीनां; साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि, पत्युरस्तं परेत्य च॥ अ० वे० १४।१४३

'गृह का समान अधिकारी' होता है तथा 'पत्नी' शब्द का अर्थ 'यज्ञ में भाग लेने वाली' है। पति अपनी धर्मपत्नी के साथ प्रेम से यज्ञ-यागादिक करता था। इन सब बातों से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में स्त्रियों के साथ बड़ा सद्व्यवहार किया जाता था। स्त्रियाँ भी पति तथा ससुर आदि को श्रद्धा की दृष्टि से देखती थीं तथा उनका आदर करती थीं।

दुर्व्यवहार के कुछ उदाहरण—बौद्ध-ग्रन्थों से पता चलता है कि बुद्ध के समय में स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार होता था और वधू (पतोहू) सास के अत्याचार के डर से बौद्ध संघ में प्रविष्ट हो जाती थी। कभी-कभी सास अपनी पतोहू को मूसल से मारती थी जिसका परिणाम अत्यन्त भयंकर होता था[१]। परन्तु इसके ठीक विपरीत वधू के बुरे व्यवहारों के कारण सास के भिक्षुणी बन जाने का भी वर्णन मिलता है[२]। एक ऐसा भी प्रसंग पाया जाता है जिसमें पतोहू के कुचक्र के कारण ससुर को ही घर छोड़ना पड़ा था[३]। परन्तु ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। धीरे-धीरे बाल विवाह की प्रथा प्रचलित होने लगी और ऐसी छोटी-छोटी कन्याओं का विवाह होने लगा जिन्हें सांसारिक विषयों तथा गृहस्थी की बातों का कुछ भी अनुभव नहीं था। अतः उनसे गलती होना स्वाभाविक ही था। ऐसी दशा में संकुचित विचार वाली, अशिक्षिता सास कुछ अत्याचार करने लगीं हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मनु ने क्रोधित स्त्री को रस्सी से बाँध कर घर में रखने के लिये लिखा है[४]।

---

१. थेरी गाथा पृ० XLV

२. धम्मपद ११५। थेरीगाथा पृ० XLV

३. धम्मपद ३२४

४. भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः।
प्राप्तापराधास्ताड्या स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा॥
म० स्मृ० ८।२९९

पत्नी और पति की एकता—हिन्दू समाज में दाम्पत्य जीवन बड़ा ही सुखी रहा है। इसका प्रधान कारण पति-पत्नी का अभिन्न प्रेम और एकता थी। यूरोप की भाँति यहाँ दम्पत्ति के बीच न तो कलह का बीज पाया जाता है और न स्वार्थ की भावना। इस देश में स्त्री तथा पुरुष दोनों का अभिन्न सम्बन्ध था और वे एक दूसरे के पूरक समझे जाते थे। एक के बिना दूसरे की सत्ता नहीं के बराबर थी। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि पति पत्नी के बिना आधा है। वह तब तक पूर्ण नहीं समझा जाता जब तक स्त्री से उसका सम्बन्ध नहीं होता और उसके बच्चे पैदा नहीं होते१। मनु के मत से पति तथा पत्नी दोनों एक ही हैं२। अतः दम्पत्ति का सुख तथा दुःख एक दूसरे पर अवलम्बित होता था। यदि स्त्री तथा पुरुष में प्रेम - भाव बना हुआ है तो घर स्वर्ग के समान है अन्यथा घर नरक से भी अधिक दुःखदायी हो जाता है। यदि पत्नी अनुकूल है तो स्वर्ग-प्राप्ति से क्या लाभ? और यदि भार्या प्रतिकूल अर्थात् स्वेच्छा - चारिणी है तो नरक खोजने की आवश्यकता ही क्या है३?

पत्नी का महत्व—हमारे शास्त्रों में स्त्री की महत्ता का प्रतिपादन बड़े विस्तार से किया गया है। क्योंकि स्त्री ही वह मूल भित्ति है जिसके ऊपर

---

१. अर्धो ह वैष आत्मनस्तस्माद्यावज्जायां न विन्दते अर्धो हि तावत् भवति। अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि सर्वो भवति।
श० ब्रा० ५।१।६।१०

२. एतावानेव पुरुषो, यज्जायात्मा प्रजेति ह।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृताङ्गना॥ म० स्मृ० ९।४५

३. आनुकूल्यं हि दम्पत्योस्त्रिवर्गोदयहेतवे।
अनुकूलं कलत्रं चेत् त्रिदिवेन हि किं ततः॥
प्रतिकूलं कलत्रं चेत् नरकेण हि किं ततः।
गृहाश्रमः सुखार्थाय पत्नीमूलं हि तत्सुखम्॥ प० पु० २२३।३६-७

गृहस्थाश्रम का महान् प्रासाद खड़ा किया गया है। यदि स्त्री न हो तो पुरुष का धार्मिक तथा गार्हस्थ जीवन सदा के लिये नष्ट हो जाय। महाभारत में लिखा है कि घर में पुत्र, पुत्र-बधू, पौत्र तथा भृत्य भले ही हों परन्तु स्त्री के बिना घर शून्य या सूना सा मालूम पड़ता है१। दुःख में पड़े हुये पति के लिये पत्नी सबसे बड़ी औषधि है२। वह पति की चिर-संगिनी है, उसके सुख और दुःख में साथ देने वाली है। सच तो यह है कि गृहिणी ही गृह है क्योंकि गृहिणी के बिना गृह जंगल से भी अधिक भयावना मालूम पड़ता है३। महाकवि कालिदास ने स्त्री के आदर्श तथा उसकी महत्ता को प्रतिपादित करते हुये लिखा है कि वह पति की मंत्री है, मित्र है तथा ललित कला में उसकी प्रिय शिष्या है४। शतपथ ब्राह्मण से पता चलता है कि पुरुष स्त्री के बिना स्वर्ग में प्रवेश नहीं पा सकता। अतः यज्ञीय विधि में स्वर्ग जाने के अवसर पर पति का पत्नी के लिये प्रतीक्षा करने का उल्लेख मिलता है५। वेद के अनुसार पत्नी ही पति का सच्चा

---

१. पुत्रपौत्रवधूभृत्यैराकीर्णमपि सर्वतः।
भार्याहीनगृहस्थस्य शून्यमेव गृहं भवेत् ॥ म० भा० १२।१४४।४

२. न च भार्या समं किञ्चित् विद्यते भिषजां मतम्।
औषधं सर्वदुःखेषु सत्यमेतत् ब्रवीमि ते ॥ म० भा० ३।५८।२९

३. न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहं तु गृहिणीहीनं कान्तारादतिरिच्यते ॥ म० भा० १२।१४४।६

४. गृहिणी, सचिवः, सखी, मिथः; प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
रघुवंश ८।६७

५. स रोक्ष्यञ्जायामामन्त्रयते। जाये एहि स्वो रोहावेति।
रोहावेत्याह जाया। तस्माज्जायामामन्त्रयते।
अर्धो ह वैष आत्मनो यज्जाया ॥ श० ब्रा० ५।२।१।१०

मित्र है।१ महाभारत से भी इसी मत की पुष्टि होती है२। बौद्ध ग्रन्थों में भी इसी बात का वर्णन पाया जाता है३। अतः पत्नी के बिना पति सुख की कल्पना भी नहीं कर सकता४। इस प्रकार गृह्य सूत्रों तथा स्मृतियों में पत्नी की महत्ता के प्रतिपादक सहस्त्रों प्रमाण भरे पड़े हैं।

(१) पत्नी के धार्मिक कर्तव्य—भारतीय पत्नी की प्रशंसा में तथा उसके महत्व के प्रतिपादन में शास्त्रकारों की सम्मतियों का उल्लेख पहिले किया जा चुका है। अब यह विचार करना है कि स्त्रियों के कर्तव्य क्या थे? यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि हिन्दू स्त्री 'जाया' (पुत्र उत्पन्न करने वाली) ही नहीं है वह 'पत्नी' (यज्ञ में भाग लेने वाली) भी है! अतः उसके कर्तव्य भी दो प्रकार के हैं—पहिला धार्मिक दूसरा साधारण। प्राचीन भारत में चूँकि विवाह का प्रधान उद्देश्य धार्मिक होता था अतः स्त्री के धार्मिक कर्तव्यों पर ही सर्व प्रथम विचार किया जाता है।

पाणिनि ने 'पत्नी' शब्द की निरुक्ति बतलाते हुये लिखा है कि वही स्त्री 'पत्नी' कही जा सकती है जो पति के साथ यज्ञ में भाग ले। इसीलिये भाष्यकार पतंजलि ने कहा है कि शूद्र की स्त्री 'पत्नी' नहीं कही जा सकती क्योंकि शूद्र को यज्ञ करने का अधिकार नहीं है। परन्तु वह उपमान या सादृश्य के कारण ही पत्नी कही जाती है५। 'पत्नी' शब्द की इस निरुक्ति

---

१. सखा ह जाया। ऐ० ब्रा० ७।३।१३

२. पुत्र आत्मा मनुष्यस्य, भार्या दैवकृतः सखा। म० भा० १।३७४।७३
पुत्रः प्रियाणामधिको भार्या च सुहृदां वरा। वही ४।२२।१७

३. पुत्ता वत्थू मुनिस्सानं भारिया च परमा सखा।
संयुक्त निकाय (सं० नि०) १।६।४

४. ना कल्पां नारीमभिरमेत्। गौ० ध० सू० १।८।२६

५. "पत्युर्नो यज्ञसंयोगे"। अष्टाध्यायी ४।१।३३
एवमपि तुजषकस्य पत्नीति न सिध्यति। उपमानात् सिद्धम्।
पत्नीवत् पत्नीति। पाणिनि ४।१।३३ पर पतंजलि का महाभाष्य।

से स्त्री के कर्तव्यों पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। स्त्री का सबसे बड़ा कर्तव्य पति के साथ यज्ञ में हाथ बटाना है। ऋग्वेद में लिखा है कि "उन्होंने अपनी स्त्रियों के साथ पूजनीय अग्नि की पूजा की"१। दूसरे स्थान पर यह उल्लेख मिलता है कि "जब तुमने स्त्री और पुरुष को एक मन वाला कर दिया तब वे मित्र की भाँति घी से तुममें आहुति देते हैं"२।

तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन है कि "स्त्री अपने पति से शुभ कार्यों के कारण एकचित्त हो जाय। वे यज्ञ कर्म में सम्यक् प्रकार से जुटे रहें, तथा स्वर्ग में वे अक्षय ज्योति को प्राप्त करें३। इसी ग्रंथ से यह भी ज्ञात होता है कि अश्वमेध यज्ञ में स्त्री यज्ञीय अश्व का अभिषेक करती थी४। विवाह के समय में पत्नी अग्नि में लाजा से हवन करती थी। आपस्तम्ब धर्मसूत्र का मत है कि विवाह के समय से ही स्त्री तथा पुरुष को धार्मिक कृत्यों में साथ-साथ काम करना चाहिये, क्योंकि उनको इसका समान फल (पुण्य) मिलता है। यदि पति न रहे तौभी स्त्री आवश्यकतानुसार दान दे सकती है५। आश्वलायन गृह्यसूत्र में यह विधान बतलाया गया है कि विवाह के समय प्रज्वलित अग्नि को दम्पति अपने घर ले जाते हैं६।

---

१. संजानाना उपसीदन्नभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन्। ऋ०वे० १।७२।५

२. अंजन्ति मित्रं सुधितं न गोभिः,
यत् दम्पती समनसा कृणोषि॥ ऋ० वे० ५।३।२

३. स पत्नी पत्या सुकृतेन गच्छताम्। यज्ञस्य युक्तौ धुर्यावभूताम्।
संजानाना विजहतामरातीः। दिविज्योतिरजरमारभेताम्।
तै० ब्रा० ३।७।५

४. 'पत्नयोऽभ्यञ्जन्ति'। तै० ब्रा० ३।८।४

५. जायापत्योर्न विभागो विद्यते। पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु।
तथा पुण्यफलेषु द्रव्यपरिग्रहेषु च। तै० ब्रा० २।६।१३

६. विवाहाग्निमग्रतोऽजस्त्रं नयन्ति। आ० गृ० सू० १।८।५

विवाह के दिन से पति स्वयं अग्नि में हवन करे या इस कार्य को उसकी पत्नी, पुत्र, पुत्री या शिष्य करें। यदि वह अग्नि किसी प्रकार से बुझ जाय तो कुछ आचार्यों के मत से पत्नी को उपवास करना चाहिये। सन्ध्या समय 'अग्नये स्वाहा' तथा प्रातः काल 'सूर्याय स्वाहा' कहकर आहुति देनी चाहिये[१]। मनु ने लिखा है कि सन्ध्या समय बनाये गये भोजन में से स्त्री को चाहिये कि बिना मन्त्र के बलि दे दें[२]। इससे प्रकट है कि वैदिक मन्त्रों के उच्चारण करने का अधिकार न होने पर भी स्त्रियों को यज्ञ में भाग लेने का अधिकार अवश्य प्राप्त था।

हिरण्य गृह्यसूत्र (१।२३।३) के अनुसार स्त्री को स्थालीपाक यज्ञ में अन्न को भूसी को अलग करना पड़ता था और श्रौत यज्ञ में आज्य की देख-भाल करनी पड़ती थी। पूर्व मीमांसा से पता चलता है कि पति तथा पत्नी दोनों यज्ञ के समान अधिकारी हैं; दोनों को यज्ञ में समान रूप से भाग लेना चाहिये। परन्तु पति को ही विशेष रूप से धार्मिक कृत्य करने चाहिये। स्त्री वही कृत्य करे जिसका विधान उसके लिये विहित हो[३]। प्रत्येक धार्मिक कार्य में पत्नी का रहना आवश्यक है। इसीलिये भगवान् रामचन्द्र ने अश्वमेध यज्ञ के समय सीता की सोने की प्रतिमा बना कर अपने पास में रक्खा था[४]। रामायण

---

१. पाणिग्रहणाद्धि गृह्यं परिचरेत् स्वयं पत्नी अपि वा पुत्रः कुमार्यन्ते - वासी वा। ··· ··· यदि तूपशाम्येत् पत्नी उपवसेदित्येके। ··· "अग्नये स्वाहेति" सायं जुहुयात्, "सूर्याय स्वाहेति" प्रातस्तूष्णीं, द्वितीये उभयत्र। आ० गृ० सू० १।९।१-८

२. सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य, पत्नी अमन्त्रं बलिं हरेत्।
वैश्वदेवं हि नामैतत्सायं प्रातर्विधीयते॥ म० स्मृ० ३।१२१

३. तस्या यावदुक्तमाशीर्वह्मचर्यमतुल्यत्वात्। जै० ६।१।२४

४. रामोऽपि कृत्वा सौवर्णीं सीतां पत्नीं यशस्विनीम्।
ईजे यज्ञैः बहुविधैः सह भ्रातृभिरर्चितैः॥ गो० स्मृ० ३।१०

तथा उत्तर रामचरित में यज्ञ में सीता की स्वर्ण मूर्ति बनाकर रखने का उल्लेख मिलता है१। तैत्तरीय ब्राह्मण में लिखा है कि यदि किसी व्यक्ति की पत्नी मासिक धर्म के कारण यज्ञ में पति के साथ भाग नहीं ले सकती तो उस पुरुष का आधा यज्ञ नष्ट हो जाता है२। यज्ञ में पति के साथ पत्नी के इसी साहचर्य के कारण मनु ने कहा है कि यदि पति के पूर्व स्त्री का देहान्त हो जाय तो उसको उसी गृह्य अग्नि से यज्ञ के समस्त उपकरणों के साथ जला देना चाहिये३। क्योंकि पत्नी के अभाव में पति के लिये अब उन सामग्रियों का उपयोग ही क्या है? ऊपर के इस विवरण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि स्त्री का धार्मिक कर्तव्य कितना कठोर तथा उत्तरदायित्व-पूर्ण था।

(२) स्त्रियों के साधारण कर्तव्य—स्मृतियों, पुराणों तथा निबन्ध ग्रन्थों में स्त्रियों के कर्तव्य का विस्तृत रूप से वर्णन पाया जाता है। समस्त धर्म शास्त्रों का यही एक मत है कि स्त्री को पुरुष की आज्ञा का पालन करना चाहिये और उसे देवता के समान समझना चाहिये। महाभारत में लिखा है कि पति ही स्त्री का देवता है, वही बन्धु और वही गति है४। शतपथ ब्राह्मण से पता चलता है कि जब राजकुमारी सुकन्या का विवाह जरा से जीर्ण-शीर्ण च्यवन ऋषि से हुआ तब उसने यह प्रतिज्ञा की कि मै अपने

---

१. काञ्चनीं मम पत्नीं च दीक्षायां ज्ञांश्च कर्मणि।
अग्रतो भरतः कृत्वा गच्छत्वग्रे महायशाः॥ रामायण ७।९१।२५

२. अर्धो वा एतस्य यज्ञस्य मीयते यस्य व्रत्येऽहन् पत्नी अनालम्भुका भवति। तै० ब्रा० ३।७।१

३. एवं वृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम्।
दाहयेदग्निहोत्रेण, यज्ञपात्रैश्च धर्मवित्॥
भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्वाग्नीनन्त्यकर्मणि।
पुनर्दारक्रियां कुर्यात् पुनराधानमेव च॥ म० स्मृ० ५।१६७-६८

४. पतिर्हि देवो नारीणां पतिर्बन्धुः पतिर्गतिः। म०भा० (अ०प०)१४६।५५.

बूढ़े पति को उसकी जीवितावस्था में नहीं छोड़ सकती क्योंकि पिता ने मुझे उसको दे दिया है१। स्मृति-कार शंख-लिखित कहते हैं—"स्त्रियों को चाहिये कि पतित, रोगी, अङ्गहीन तथा बूढ़े पति से भी घृणा न करें क्योंकि पति हो स्त्री का देवता है२।" मनु ने भी शंख और लिखित के कथन का समर्थन किया है३। रामायण में यह उल्लेख मिलता है कि पति ही पत्नी का देवता और स्वामी है और पत्नी पति की सेवा करने से स्वर्ग को प्राप्त करती है४। स्त्री के लिये न तो पिता, और न माता, न मित्र और न पुत्र ही कुछ कर सकते हैं। इनके द्वारा दी गयी सहायता सीमित है परन्तु पति के द्वारा प्रदत्त सहायता असीम तथा प्रभूत होती है५। महाभारत में भी इसी कथन का

---

१. यस्मै मां पितादात्नैवाहं तं जीवन्तं हास्यामि। श० ब्रा० ४।१।५।६

२. न भर्तारं द्विष्याद्यप्यष्ठीवलः, स्यात्पतितोऽङ्गहीनो व्याधितो
वा, पतिर्हि देवता स्त्रीणाम्।
स्मृतिचन्द्रिका में शङ्ख लिखित का उद्धरण

३. विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः॥ म० स्मृ० ५।१५४

४. भर्तुः शुश्रूषया नारी; लभते स्वर्गमुत्तमम्।
अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात्॥
शुश्रूषामेव कुर्वीत भर्तुः प्रियहिते रता।
एषः धर्मः स्त्रिया नित्यो वेदे लोके श्रुतः स्मृतः॥
रामायण २।२४।२६-७

५. न पिता, नात्मजो, नात्मा; न माता, न सखीजनः।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा॥
मितं ददाति हि पिता; मितं भ्राता, मितं सुतः।
अमितस्य च दातारं भर्तारं का न सेवते॥
रामायण २।२७।६; २।४०।३

समर्थन किया गया है (शा० प० १४८।६)। मत्स्य पुराण में लिखा है कि पति स्त्री का देवता है१। कालिदास ने भी पति की श्रेष्ठता तथा स्त्री के ऊपर उसके स्वामित्व का उल्लेख किया है२। इससे पता चलता है कि स्त्री का सर्व प्रथम कर्तव्य पति को देवता मानकर उसकी आज्ञा का पालन करना और उसकी सेवा, सुश्रूषा करना है।

मनु के अनुसार स्त्री को सदा स्मित-वन्दना होना चाहिये। उसे सावधान तथा गृह कार्यों में चतुर होना आवश्यक है। उसे गृह के पात्रों को मांज कर साफ तथा चमचमाता हुआ रखना चाहिये तथा अधिक खर्चा न करना चाहिये३। मनु ने यह भी लिखा है कि पति को चाहिये कि वह संग्रहीत धन की रचा के लिये, उसे उचित रीति से खर्च करने के लिये, सब वस्तुओं को स्वच्छ रखने के लिये, यज्ञ करने के लिये, भोजन बनाने के लिये तथा घर की अन्य सामग्री की रचा करने के लिए पत्नी को आदेश दे४। शराब पीना, बुरे मनुष्यों की संगति में रहना, अपने पति से दूर रहना, तीर्थ आदि में घूमना, दिन में सोना, तथा अपरिचित लोगों के घरों में निवास करना— ये छः कार्य विवाहित स्त्रियों को नहीं करना चाहिये क्योंकि ये निषिद्ध हैं५।

---

१. पतिर्हि दैवतं स्त्रीणां पतिरेव परायणम्। म० पु० २१०।१७

२. तदेषा भवतः कान्ता, त्यज वैनां गृहाण वा।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी॥ शकुन्तला, अंक ५·२६

३. सदा प्रहृष्टया भाव्यं, गृह कार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया, व्यये चामुक्तहस्तया॥ म० स्मृ० ५।१५०

४. अर्थस्य संग्रहे चैनां; व्यये चैव नियोजयेत्।
शौचे, धर्मेऽन्नपंक्त्यां च, पाणिग्राहस्य चेक्षणे। म० स्मृ० ९।११

५. पानं, दुर्जनसंसर्गः; पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च; नारीसंदूषणानि षट्॥ म० स्मृ० ९।१३

व्यास की भी यही सम्मति है कि स्त्री को अपने मायके में अधिक दिन तक नहीं रहना चाहिये क्योंकि इससे अयश फैलता है१ । कालिदास ने भी इसका समर्थन किया है२ । याज्ञवल्क्य की आज्ञा है कि स्त्री को चाहिये कि घर के बर्तनों को सदा साफ रक्खे तथा सामान को उचित स्थान पर रक्खे । उसे चतुर, स्मितमुख, मितव्ययी, पति-सेवा-परायण, सास तथा ससुर की सेवा में संलग्न रहना चाहिये और अपनी इन्द्रियों को वश में रखना चाहिये३ । स्मृतिकार शङ्ख ने लिखा है कि "स्त्री को पति की अनुमति को लिये बिना बाहर नहीं जाना चाहिये; तीव्र गति से नहीं चलना चाहिये; अपरिचित पुरुष से संभाषण नहीं करना चाहिये परन्तु संन्यासी, व्यापारी, वैद्य तथा वृद्ध के साथ भाषण करने में यह नियम लागू नहीं है; उसे अपनी नाभि नहीं दिखलानी चाहिये; उसे इस प्रकार से वस्त्र (साड़ी) को पहनना चाहिये जो एडी तक पहुंचता हो; उसे अपने कुचों को खुला नहीं रखना चाहिये; मुँह पर आवरण दिये बिना उसे ज़ोरों से नहीं हँसना चाहिये; पति या उसके संबंधियों से घृणा नहीं करनी चाहिये । वेश्या, शराब पीकर प्रमत्त स्त्री, दुश्चरित्र नायिकाओं, भिक्षुणियों, स्त्री - ज्योतिषियों, तंत्र- मंत्र करने वाली स्त्रियों तथा दुराचारिणियों के साथ नहीं रहना चाहिये । क्योंकि इनके साथ रहने से

---

१. नारीणां चिरवासो हि बान्धवेषु न रोचते ।
कीर्तिचारित्रधर्मघ्नस्तस्मान्नयत मां चिरम् ॥ म० भा० १।७४।१२

२. सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां, जनोन्यथा भर्तृमतीं विशंकते ।
शकुन्तला ५।१७

३. या० स्मृ० १।८३ और ८७

उसका चरित्र दूषित हो जाता है१"। विष्णु धर्मसूत्र में स्त्री के कर्तव्यों का उल्लेख निम्नरीति से किया गया है। "स्त्री को चाहिये कि वह उन्हीं व्रतों को करें जिसे उसका पति करता है; उसे अपनी सास, ससुर, ज्येष्ठ लोग, देवता और अतिथि का आदर करना चाहिये और घर के वर्तनों को साफ रखना चाहिये। उसे मितव्ययी, गृह सामग्री की रक्षा में सावधान और शुद्ध आचरण रखना चाहिये२।" महाभारत में द्रौपदी ने कहा है 'कि मेरा पति जो कुछ नहीं खाता, पीता तथा ग्रहण करता उसे मैं भी नहीं ग्रहण करती। मैं पाण्डवों की समस्त सम्पत्ति, उनकी आय तथा व्यय सब जानती हूँ३"।

वात्स्यायन के कामसूत्र में स्त्रियों के कर्तव्यों का बड़ा ही विशद, रोचक तथा मनोहारी वर्णन मिलता है। उन्होंने लिखा है कि "गृह का समस्त प्रबन्ध करना स्त्री का सर्व प्रथम कर्तव्य है; स्त्री को चाहिये कि गृह खर्च का वार्षिक बजट तैयार करें और उसी के अनुसार दैनिक खर्चा करें। यदि पति अपव्ययी है तो उसे खर्चा करने से रोकना चाहिये। जब अन्न सस्ता हो तो उसे खरीद कर साल भर के लिये संग्रह कर लेना चाहिये। उसे नौकरों को अन्न तथा वस्त्र देकर उनकी आवश्यकता पर ध्यान देना चाहिये। यदि घर

---

१. नानुक्ता गृहान्निर्गच्छेत्। नानुत्तरीया। न त्वरितं व्रजेत्। न परपुरुषमभिभाषेतान्यत्र वणिक्प्रव्रजितवृद्धवैद्येभ्यः। न नाभिं दर्शयेत्। आगुल्फाद्वासः परिदध्यात्। न स्तनौ विवृतौ कुर्यात्। न हसेदनपावृता। भर्तारं तद्बन्धून्वा न द्विष्यात्। न गणिका - धूर्ताभिसारिणी - प्रव्रजिता - प्रेक्षणिकामायामूल-कुहककारिकादुःशीलादिभिः सहैकत्र तिष्ठेत्। संसर्गेण हि कुलस्त्रीणां चारित्र्यं दुष्यति। याज्ञवल्क्य स्मृति १।८७ की मिताक्षरा टीका में शंख का उद्धरण।

२. वि० ध० सू० २५।१-६

३. म० भा०, वन पर्व, अध्याय २३३

में खेती होती है तो जानवरों और खेती का भी निरीक्षण करना उसका कर्तव्य है। चरखा कातना, बुनना तथा रस्सी बटने में उसे अपना शेष समय बिताना चाहिये। विपत्ति की अवस्था में उसे पति को मन्त्रणा देनी चाहिये, यदि वह उसकी सम्मत्ति न माने तो मीठे शब्दों के द्वारा उसे अनुकूल करना चाहिये१।"

पतिव्रता का लक्षण, महत्त्व तथा कर्तव्य—पतिव्रता वह स्त्री है जो अपने पति के समान व्रत को धारण करे। वृहस्पति ने इसकी परिभाषा बतलाते हुये लिखा है कि पतिव्रता नारी वह है जो पति के दुःखी होने पर दुःखी, प्रसन्न होने पर प्रसन्न तथा मरने पर सती हो जाय२। पतिव्रता स्त्रियाँ अपने चरित्र की शुद्धता तथा अनन्य पति-प्रेम के कारण प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने पतियों के लिये कौन - कौन से त्याग नहीं किये ? इनकी अमिट कहानी भारतीय इतिहास के पृष्ठों में छिपी पड़ी है। इसीलिये धर्मशास्त्रों में उनकी बड़ी महिमा गायी गयी है। महाभारत में पतिव्रता गान्धारी का महत्व बतलाते हुये लिखा है कि वह अपने प्रताप से संसार को जला सकती है तथा सूर्य और चन्द्रमा की गति को रोक सकती है३। जिस प्रकार से सँपेरा बिल से साँप को पकड़ लेता है उसी प्रकार पति व्रता स्त्री यम के दूतों से अपने मृत पति को खींच कर स्वर्ग पहुँचा सकती है४। सीता तथा सावित्री

---

१. कामसूत्र ४।१

२. आर्तार्ते, मुदिते हृष्टा, प्रोषिते मलिना, कृशा।
मृते म्रियेत या पत्युः; सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥
अपरार्क (पृ० १०६) में वृहस्पति का उद्धरण

३. शक्ता चासि महाभागे ! पृथिवीं सचराचरम्।
चक्षुषा क्रोधदीप्तेन प्रदग्धुं तपसो बलात् ॥ म० भा० (श० प०) ६३।२१

४. व्यालग्राही यथा व्यालं बलादुद्धरते बिलात्।
एवमुत्क्रम्य दूतेभ्यः पतिं स्वर्गं व्रजेत् सती ॥
यमदूताः पलायन्ते तामालोक्य पतिव्रताम् ॥
स्क० पु० (ब्रह्मखण्ड) धर्मारण्य, अध्याय ७।५४-५५

आदर्श पति-व्रता हैं जिन्होंने पति के प्रति अपने कर्तव्य का पूर्णतया पालन किया था।

कर्तव्य का पालन का तुलनात्मक विवरण—उपर्युक्त वर्णन से हिन्दू स्त्रियों की महत्ता तथा उनके विशुद्ध चरित्र का स्पष्ट परिचय मिलता है। संसार में शायद ही कोई ऐसा देश हो जहाँ स्त्रीत्व का आदर्श इतना ऊँचा तथा महान् हो। हमारे आचार्यों ने बड़ी बुद्धिमानी से स्त्री तथा पुरुषों के कर्तव्यों का अलग-अलग विभाजन कर दिया था जिससे आपस में किसी प्रकार की प्रतियोगिता की भावना न होने पावे। स्त्री न तो कभी पुरुष के कार्य क्षेत्र में हस्तक्षेप करती थी और न कभी पति ही स्त्री के घरेलू प्रबन्ध में हस्तक्षेप करता था। पत्नी गृहस्वामिनी थी और पति 'भर्ता' था। दोनों के कर्तव्यों के क्षेत्र बँटे हुये थे अतः आपस में संघर्ष का कभी अवसर ही नहीं आता था। यही कारण है कि इस देश में न तो यूरोप की भाँति तलाक ही होता था और न गृह कलह ही। हमारा पारिवारिक जीवन अत्यन्त सुखी और आनन्दमय था। आज यूरोप में स्त्रियाँ अपने कर्तव्य को भूल गयी हैं। वे पुरुषों के कार्यों को छीनकर अपना रही हैं इसीलिये उनका जीवन दुःखदायी बन गया है।

परन्तु यह कथन कुछ अनुचित न होगा कि शास्त्रकारों ने स्त्री के कर्तव्य पर जितना ज़ोर दिया है उतना पति के कर्तव्यों पर नहीं। पुरुषों को इस विषय में अपने कर्तव्यों का पालन करने अथवा न करने की अधिक स्वच्छन्दता दी गयी जिसका प्रभाव समाज के ऊपर बहुत बुरा पड़ा। इसी कारण से हिन्दू समाज उच्छृङ्खल और दूषित बन गया। यदि पुरुषों के लिये भी अपने कर्तव्यों के पालन न करने के लिये शास्त्रों ने कठिन दण्ड का विधान किया होता तो आज हिन्दू-समाज की यह दयनीय दशा न होती। स्त्री का भरण, पोषण करने के कारण ही पति का नाम 'भर्ता'[१] है। उसका परम कर्तव्य

१. वृद्धौ च मातापितरौ; साध्वी भार्या, शिशुः सुतः।
अप्यकार्यशतं कृत्वा, भर्तव्या मनुरब्रवीत्॥ म० स्मृ० ९।१०

अपनी स्त्री की रक्षा करना है१। मनु ने पति को 'एक पत्नी व्रत' रहने का आदेश दिया है। परन्तु इतिहास साक्षी है कि पुरुषों ने अपने कर्तव्यों का पालन उचित रीति से कभी भी नहीं किया। न तो वे अपनी स्त्रियों की रक्षा करने में ही समर्थ हुये और न उन्होंने रामचन्द्र के आदर्श—'एकपत्नीव्रत' को ही अपनाया।

(३) पति की सम्पत्ति में स्त्री का अधिकार—प्राचीन काल में संसार के विभिन्न देशों में स्त्रियाँ पति की सम्पत्ति समझी जाती थीं। पुरुष का उनके ऊपर पूर्ण अधिकार था। यही दशा भारतवर्ष में भी थी। वैदिक काल में स्त्रियाँ दान के रूप में दूसरों को दी जातीं थीं। महाभारत में धृतराष्ट्र के द्वारा सैकड़ों दासियों को कृष्ण के लिये देने का वर्णन मिलता है२। परन्तु इस उदाहरण को अपवाद रूप में ही समझना चाहिये। वेदों से पता चलता है कि स्त्री पारिवारिक सम्पत्ति की सम्मिलित अधिकारिणी समझी जाती थी। विवाह के समय पति को यह शपथ लेनी पड़ती थी कि वह अपनी पत्नी के स्वार्थों तथा आर्थिक अधिकारों का अतिक्रमण नहीं करेगा। यदि स्त्री के सम्मिलित स्वामित्व का सिद्धान्त वस्तुतः व्यावहारिक रूप में स्वीकार किया गया होता तो स्त्रियों के अधिकार अधिक विस्तृत होते परन्तु यह सिद्धान्त केवल नाम मात्र के लिये ही था। एक धर्म-सूत्रकार ने लिखा है कि पति की अनुपस्थिति में स्त्री गृहस्थी के सम्बन्ध में थोड़ा खर्चा कर सकती है३। हिन्दू - धर्मशास्त्री पति के धन में स्त्री के सम्मिलित स्वामित्व के सिद्धान्त

---

१. स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च।
स्वञ्च धर्मं प्रयत्नेन, जायां रक्षन् हि जीवति ॥ म० भा०

२. दासीनामप्रजातानां शुभानां रुक्मवर्चसाम्।
शतमस्मै प्रदास्यामि दासानामपि तावताम् ॥ म० भा० ५।८६।८

३. पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु ··· द्रव्यपरिग्रहेषु च।
न हि भर्तुर्विप्रवासे नैमित्तिके दाने स्तेयमुपदिशन्ति ॥
आ० ध० सू० २।६।१४

को स्वीकार करने पर भी उसे आधे धन की भी अधिकारिणी मानने के लिये तैयार नहीं थे। केवल याज्ञवल्क्य ने यह लिखा है कि यदि पति अपनी आज्ञाकारिणी स्त्री का परित्याग कर देता है तो उसे पति के धन का तृतीयांश अवश्य मिलना चाहिये१। परन्तु यह धन भी व्यवहार रूप में स्त्रियों को कभी नहीं दिया गया। एक स्थान पर मिताक्षरा ने स्पष्ट ही लिखा है कि पति की आज्ञा के बिना स्त्री पारिवारिक सम्पत्ति में से कुछ भी खर्चा नहीं कर सकती२। परन्तु यह नियम केवल स्थायी सम्पत्ति के विषय में था। अस्थायी सम्पत्ति में स्त्रियों का बहुत कुछ हाथ था परन्तु वह भी सीमित मात्रा में ही था।

<u>स्त्री-धन</u>—"स्त्री - धन" उस धन को कहते थे जिसे वधु अपने मायके से विवाह के समय लाती थी। संभवतः इसका सम्बन्ध प्राचीन काल में कन्या-शुल्क से था। परन्तु कन्या - शुल्क को प्रथा बन्द हो जाने पर कन्या को आभूषण, रुपया, बहुमूल्य रत्न आदि देने की प्रथा बनी रही। इस प्रकार कन्या अपने मायके से जो कुछ सम्पत्ति लाती थी वही "स्त्री-धन" का मूल था। वेदों में स्त्री धन का उल्लेख मिलता है जिसे उस समय "पारिणाह्य" कहते थे३। उन दिनों में स्त्रियों को 'स्त्री-धन' पर भी पूर्ण अधिकार था या नहीं यह कहना कठिन है। सम्भवतः उन्हें यह अधिकार नहीं था। धीरे-धीरे 'स्त्री-धन' का क्षेत्र विस्तृत होने लगा। विवाह के पश्चात् पति-पत्नी को जो कुछ रुपया - पैसा देता था, उसकी भी गणना "स्त्री धन" में होने लगी। मनु के अनुसार स्त्री धन छः प्रकार का होता था।

---

१. आज्ञासंपादिनीं दक्षां वीरसूं प्रियवादिनीम्।
त्यजन्दाप्यस्तृतीयांशमद्रव्यो भरणं स्त्रियः॥ या० स्मृ० २।७६

२. तस्माद् भर्तुरिच्छया भार्यायाः अपि द्रव्यविभागो भवत्येव न स्वेच्छया। या० स्मृ० २।५२ पर मिताक्षरा टीका।

३. पत्नी वै पारिणाह्यस्य ईशे। तै० सं० ६।२।१।१

(१–३) माता, पिता तथा भाई के द्वारा दिया गया धन; (४) विवाह के पश्चात् पति के द्वारा दिया गया; (५–६) विवाह के समय अथवा ससुराल आने के समय अन्य लोगों के द्वारा दिया गया धन१। सातवीं शताब्दी के बाद से स्त्री धन के क्षेत्र में और भी वृद्धि होने लगी। देवल ने भरण - द्रव्य और आकस्मिक लाभ को भी इसी के अन्तर्गत रक्खा है। क्रमशः भूमि धन आदि भी इस सम्मिलित समझे जाने लगे। परन्तु स्त्रियों को इस 'स्त्रीधन' पर भी पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं था। वे इसका वितरण या दान नहीं कर सकती थीं।२ जब स्त्रियों को अपने धन पर भी अधिकार नहीं था तब पति के पैतृक सम्पत्ति पर अधिकार की चर्चा करना ही व्यर्थ है।

पति की सम्पत्ति पर विधवा स्त्री का उत्तराधिकार कभी भी नहीं था। आपस्तम्ब ने उत्तराधिकारियों की जो सूची दी है उसमें विधवा का कहीं भी स्थान नहीं है३। मनु ने भी विधवा को पति के धन की उत्तराधिकारिणी स्वीकार नहीं किया है। परन्तु जीमूतवाहन ने विधवाओं के पक्ष का ज़ोरों से समर्थन करते हुये लिखा है कि "विवाह के समय स्त्री पति के धन की सम्मिलित अधिकारिणी है। परन्तु पति की मृत्यु के पश्चात् उसका यह अधिकार नष्ट हो जाता है इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं है४। आजकल

---

१. अध्यग्न्यध्यावाहनिकं, दत्तं च प्रीतिकर्मणि।
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्॥ म० स्मृ० ९।१९४

२. भर्त्रा प्रीतेन यद् दत्तं स्त्रियै तस्मिन् मृतेऽपि तत्।
सा यथा काममश्नीयात् दद्यात् वा स्थावरादृते॥
व्यवहार मयूख (व्य० मू०) पृ० ९७ में नारद का वचन।

३. पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः स पिण्डः। तदभावे आचार्यः, आचार्याभावे अन्तेवासी ··· ··· दुहिता वा। आ० गृ० सू० २।१४।२–४

४. दाय - भाग प्रकरण ११

विधवाओं की बड़ी दुर्दशा है। उनको भरण-पोषण के अधिकार के सिवाय पति की सम्पत्ति में कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं है। हिन्दू-कानून की इसी कमी को दूर करने के लिये डा० देशमुख ने १९३६ ई० में सेन्ट्रल एसेम्बली में एक बिल पेश किया था परन्तु उनका उद्योग असफल रहा। सन् १९३७ ई० में पारित 'हिन्दू वीमेन्स राइट टु प्रापर्टी एक्ट' के अनुसार दायभाग का सिद्धान्त समस्त ब्रिटिश भारत पर लागू हो गया है जिससे स्त्रियों की आर्थिक दशा में कुछ सुधार होने की संभावना है[1]।

(ख) विवाह - विच्छेद

धर्म शास्त्रों के अनुशीलन से पता चलता है कि प्राचीन काल में पुरुष अपनी प्रथम स्त्री का परित्याग कर दूसरी स्त्री से विवाह कर सकता था। परन्तु यह अधिकार स्त्रियों को प्राप्त नहीं था। एक बार किसी व्यक्ति से विवाह सम्बन्ध हो जाने पर पत्नी आजीवन उससे विवाह-विच्छेद नहीं कर सकती थीं। इसका कारण यह था कि धर्म-शास्त्र-कार विवाह-संबंध को अविच्छेद्य मानते थे। मनु ने तो यहाँ तक लिखा है कि यदि पति स्त्री को बेंच दे अथवा सर्वदा के लिये उसका परित्याग कर दे तौभी उस स्त्री का उस प्रथम पति से सम्बन्ध टूट नहीं सकता क्योंकि यह नियम प्रजापति के द्वारा बनाया गया है[2]। धर्मशास्त्रकारों का यह मत था कि विवाह एक धार्मिक संस्कार है और उसी संस्कार के कारण स्त्री का स्त्रीत्व बना हुआ है। यदि पति या पत्नी पतित भी हो गयी तौभी वह संस्कार बना हुआ है और प्रायश्चित के द्वारा वे पुनः शुद्ध किये जा सकते हैं। अतः विवाह-विच्छेद

---

१. 'हिन्दू-कानून' में स्त्रियों के अधिकार के विस्तृत तथा प्रामाणिक विवेचन के लिये देखिये। डा० अलेकर—पोजीशन आफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन पृ० २५२–३३३

२. न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते।
एवं धर्मं विजानीमः प्राक् प्रजापतिनिर्मितम् ॥ म० स्मृ० ९।४६

की आवश्यकता ही क्या है ? पत्नी के व्यभिचारिणी होने पर भी उसका परित्याग करना निषिद्ध है१। जब शास्त्रकारों का ही यह विचार था तब विवाह - विच्छेद का न होना स्वाभाविक ही था।

धर्मशास्त्रों में विच्छेद की प्रथा—परन्तु धर्मशास्त्रों का अध्ययन यदि सावधानी से किया जाय तो कहीं - कहीं पर ईसा के पूर्व में विवाह-विच्छेद की झाँकी इसे देखने को मिलती है। यह बड़ी मनोरंजक बात है कि विवाह - संबंध की दृढ़ता के प्रबल पक्षपाती मनु ने भी लिखा है कि यदि स्त्री उन्मत्त, पतित, नपुंसक, रोगी तथा नीच पति का सर्वथा परित्याग कर दे तो वह दोष की भागी नहीं है२। पति के परित्याग का अर्थ विवाह-सम्बन्ध का विच्छेद ही समझना चाहिये क्योंकि मनु ने ऐसी स्त्री को पति - समागम न होने की अवस्था में पुनर्विवाह करने का आदेश दिया है३। ऐसे विवाह से जो सन्तान उत्पन्न होगी वह कानून से जायज़ मानी गयी है। ईसवी सन् की पहिली शताब्दी तक प्रायः सभी वर्णों में विवाह-विच्छेद की प्रथा प्रचलित थी। अथर्ववेद में किसी स्त्री का, सम्भवतः अपने पति को

---

१. केचित्तु परित्यक्तासु पारदारप्रायश्चित्तं नेच्छन्ति संबंधिनिमित्तत्वात् दारशब्दस्य। ... ... न च व्यभिचारादिभिस्तस्यापगमो युक्तः संस्कारनिमित्तत्वात् दारशब्दस्य। तस्य च पतनेप्यनपगमात्। अतएव पतिताः योषितः पुनर्नसंस्क्रियन्ते।

याज्ञवल्क्य स्मृति पर विश्वरूप ३।२५३—५४

२. उन्मत्तं, पतितं, क्लीबं; अबीजं, पापरोगिणम्।
न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च; न च दायापवर्तनम्॥ म० स्मृ० ९।७९

३. या पत्या वा परित्यक्ता; विधवा वा स्वयेच्छया।
उत्पादयेत् पुनर्भूत्वा, स पौनर्भव उच्यते॥
सा चेत् अक्षतयोनिः स्यत्; गतप्रत्यागतापि वा।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा; पुनः संस्कारमर्हति॥ म० स्मृ० ९।१७५-६

जीवितावस्था में हो, पुनः विवाह करने का वर्णन मिलता है१। ४०० ई० पू० से १०० ई० के बीच में होने वाले धर्मशास्त्रकारों ने इस बात का विधान किया है कि ब्राह्मण की स्त्री को चाहिये कि वह परदेश या किसी लम्बी यात्रा पर गये हुये अपने पति की पाँच वर्ष तक प्रतीक्षा करे। कौटिल्य ने लिखा है कि उसे केवल दस मास तक ही प्रतीक्षा करनी चाहिये२। वशिष्ठ का मत है कि यदि इस बीच में पति न आवे और यदि स्त्री की इच्छा उसके पास जाने की न हो तो पति को मृत समझ करके, उसी कुल के या गोत्र के किसी अन्य पुरुष से वह अपना विवाह कर ले३। इसी प्रकार से कौटिल्य ने भी सम्बन्ध - विच्छेद की आज्ञा दी है परन्तु उनके मत से इसके लिये धर्माधिकारी से आज्ञा लेनी आवश्यक है४। अर्थ - शास्त्र में विवाह - विच्छेद के सम्बन्ध में कुछ बहुत ही मनोरंजक बातें दी गयी हैं। कौटिल्य ने लिखा है कि यदि कोई स्त्री अपने पति से घृणा करती है परन्तु पति उसे चाहता है तब वह पति का परित्याग नहीं कर सकती। इसी प्रकार स्त्री को न चाहने वाला पति उसको नहीं छोड़ सकता। परन्तु दोनों यदि एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखते हों तो उनका विवाह-विच्छेद हो सकता है। यदि पुरुष स्त्री के कारण अपने जीवन को खतरे में समझ कर उससे मुक्ति चाहता है तो उसे विवाह में मिला हुआ सब धन स्त्री को लौटाना होगा। परन्तु यदि स्त्री पुरुष के कारण उत्पन्न खतरे से बचने के

---

१. अ० वे० ९।५।२७–२८

२. अर्थशास्त्र ३।४

३. प्रोषितपत्नी पञ्च वर्षाणि उदीक्षेत। ऊर्ध्वं पञ्चभ्यो वर्षेभ्यो भर्तृसकाशं गच्छेत्। यदि धर्मार्थाभ्यां प्रवासं प्रत्यननुकामा स्याद्यथा प्रेते एवं वर्तितव्यं स्यात्। अत ऊर्ध्वं समानोदकपिण्डर्षिगोत्राणां पूर्वः पूर्वो गरीयान्। वशिष्ठ ध० सू० १७।६७

४. अन्ततः परं धर्मस्थैः विसृष्टा यथेष्टं विन्देत। अ० शा० ३।४

लिये उससे मुक्ति चाहती है तब पुरुष को उसे कुछ भी नहीं देना चाहिये[१]। परन्तु यह विवाह - विच्छेद धर्म्य विवाह (ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष और दैव) में नहीं हो सकता क्योंकि ये अविच्छेद्य हैं। अत: कौटिल्य के अनुसार गान्धर्व, आसुर, राक्षस तथा पैशाच विवाह में विवाह - विच्छेद तभी हो सकता है जब दोनों दल (पार्टी) एक दूसरे से घृणा करते हों। यदि किसी कारण से स्त्री - पुरुष में से एक दूसरे को नहीं चाहता तब विच्छेद नहीं हो सकता। पराशर ने स्त्री को पति के नष्ट हो जाने, मर जाने, साधु या संन्यासी हो जाने, नपुंसक होने तथा पतित हो जाने पर—इन पाँच अवस्थाओं में पुनर्विवाह करने का आदेश दिया है[२]। इससे ज्ञात होता है कि विवाह - विच्छेद पराशर को भी अभिमत था अन्यथा वे पति के पतित या नपुंसक होने पर पुनर्विवाह की आज्ञा न देते।

<u>बौद्ध ग्रन्थों में तलाक</u>—परन्तु विवाह - विच्छेद के इन नियमों का व्यवहार रूप में कहाँ तक प्रयोग किया जाता था यह कहना कठिन है। ब्राह्मण ग्रन्थों में किसी विवाह - विच्छेद का उल्लिखित प्रमाण नहीं मिलता। हाँ, बौद्ध - ग्रन्थों में इसके उदाहरण अवश्य उपलब्ध होते हैं। धम्मपद से हमें पता चलता है कि काणा नामक स्त्री ने, जब उसे यह मालूम हुआ कि उसके पति ने दूसरा विवाह कर लिया है, तब उसके घर जाने से इन्कार कर दिया। बुद्ध के अनुरोध करने पर किसी राजा ने उसे अपनी कृतकदुहिता बना लिया और उसका दूसरा विवाह अयोध्या के किसी धनी व्यक्ति से

---

१. अमोक्ष्या भर्तुरकामस्य, द्विषती भार्या। भार्यायाश्च भर्ता। परस्परं द्वेषान्मोक्षः। स्त्रीविप्रकाराद्वा पुरुषश्चेन्मोक्षमिच्छेद्यथा गृहीतमस्यै दद्यात्। पुरुषविप्रकाराद्वा स्त्री चेन्मोक्षमिच्छेन्नास्यै यथागृहीतं दद्यात्। अमोक्षो धर्मविवाहानामिति। अ० शा० ३।३

२. नष्टे, मृते, प्रव्रजिते; क्लीवे च पतिते पतौ। पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥ प० स्मृ० ४।२४

कर दिया१। इसीदसी नामक भिक्षुणी ने अपने जीवन में कम से कम तीन बार विवाह - विच्छेद किया था। सर्व प्रथम उसका विवाह अयोध्या के एक धनी व्यापारी से हुआ था। जिसने उसको एक मास के भीतर ही छोड़ दिया। तब उसके पिता ने उसका दूसरा विवाह फिर किया। परन्तु वह पति भी इसे नहीं चाहता था और उसने भी इसका शीघ्र ही परित्याग कर दिया। फिर तीसरी बार इसका विवाह एक सुयोग्य पुरुष से किया गया परन्तु दुर्भाग्यवश यह विवाह भी चिर स्थायी न हो सका२। 'मज्झिम निकाय' में एक ऐसे परिवार का उल्लेख मिलता है जिसमें स्त्रियों को उनकी इच्छा के विरुद्ध परित्याग कर उनका विवाह किसी दूसरे पुरुष से कर दिया गया था३। परन्तु ऐसे प्रमाण बहुत कम पाये जाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि बौद्ध काल में भी शिक्षित तथा सभ्य समाज में विवाह विच्छेद की प्रथा का प्रायः अभाव था। कण्ह दीपायन जातक (नं० ४४४) में एक स्त्री अपने पति से कहती है कि यद्यपि मैं तुम्हें तनिक भी प्यार नहीं करती परन्तु तुम्हारा परित्याग कर इसलिये मैं दूसरा विवाह नहीं करना चाहती कि यह हमारे कुल की रीति नहीं है। इससे स्पष्ट है कि उच्च कुलों में विवाह विच्छेद का पालन नहीं किया जाता था।

<u>तलाक की प्रथा की अवनति</u>—धीरें धीरे तलाक की प्रथा की अवनति होने लगी। हिन्दू समाज में शुद्धता, त्याग तथा पवित्रता की भावना को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया जाने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि समाज में यह धारणा दृढ़मूल हो गई कि स्त्री का विवाह केवल एक ही बार होना चाहिये। पत्नी के द्वारा पति का परित्याग अधार्मिक तथा

---

१. धम्मपद २।८२ और उसकी टीका।

२. थेरी गाथा ७२ और उसकी टीका।

३. इमस्सेव सावत्थिया अञ्ञतरा इत्थी जातिकुलमागमासि। तस्सा ते जातिका सामिकं आच्छिंदित्वा अजस्स दातुकामा। सा च नेच्छति। म० नि०, भाग २, पृ० १०९

पतित कार्य समझा जाने लगा। धर्मशास्त्रों ने यहाँ तक विधान कर दिया है कि पति दुराचारी, नीच तथा अत्याचारी ही क्यों न हो, तौभी स्त्री को उससे विवाह - विच्छेद नहीं करना चाहिए। परिणाम - स्वरूप १०० ई० सन् के पश्चात् तलाक का द्वार स्त्रियों के लिये बन्द हो गया।

यूरोप में विवाह-विच्छेद की प्रथा:—केवल प्राचीन-भारत में ही विवाह विच्छेद की प्रथा का अभाव नहीं थी बल्कि यूरोप में भी इस प्रथा का अतीत युग में, अभाव पाया जाता था। रोमन कैथोलिक चर्च के सिद्धान्तों के अनुसार विवाह - बन्धन अविच्छेद्य समझा जाता था१। इङ्गलैण्ड में रिस्टोरेशन (Restoration) काल के पश्चात् विवाह - विच्छेद केवल पार्ल्यामैण्ट के एक्ट के द्वारा ही हो सकता था। परन्तु इस नियम का उपयोग केवल धनी आदमी ही कर सकते थे क्योंकि एक्ट के पास कराने में लगभग ५०० पाउण्ड (साठ-सत्तर हजार रुपये) खर्च करना पड़ता था। सन् १७१५ ई० से लेकर १८५५ ई० अर्थात् १४० वर्षों के अन्दर पार्ल्यामैण्ट के कानून के अनुसार केवल १८० आदमियों को विवाह-विच्छेद की आज्ञा मिल सकी थी२। सन् १८५८ ई० में इङ्गलैण्ड में जो "मेट्रिमोनियल काजेज एक्ट" पास हुआ उसके अनुसार कोई स्त्री विवाह - विच्छेद के लिये तभी प्रार्थना - पत्र दे सकती थी जब वह यह प्रामाणित करे कि विवाह से लेकर आजतक पति उससे व्यभिचार करता रहा है और वह दूसरी स्त्री से प्रेम करता है। परन्तु १९२३ ई० में पास हुये एक्ट के अनुसार स्त्रियों को विवाह - विच्छेद के लिये पुरुषों के समान ही सुविधायें दी गयी। आजकल यूरोप तथा अमेरिका में लोग तलाक की इस प्रथा से घबरा उठे हैं क्योंकि वहाँ तलाक की संख्या दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ रही है। वहाँ के लोग बात - बात में, क्षुद्र कारणों को लेकर भी तलाक दे देते हैं इसलिये वहाँ का कौटुम्बिक

---

१. गासपल आफ मार्क (१०।२–१२) एण्ड लूक १६।१८

२. रिपोर्ट आफ दि रायल कमीशन आन डाइभोर्स एण्ड मेट्रिमोनियल काजेज। १९१२ पृ० ११

जीवन दुःखमय एवं अशान्त बन गया है। इसीलिये रूस तथा इङ्गलैण्ड में तलाक की सुविधाओं को अब कम किया जा रहा है।

वर्तमान अवस्था—हिन्दू समाज में वर्तमान काल में पुरुषों के लिये कानून से तलाक का अधिकार प्राप्त न होते हुए भी व्यवहारतः है। परन्तु स्त्रियों के लिये विवाह - विच्छेद अत्यन्त निषिद्ध समझा जाता है। पुरुष चाहे तो एक स्त्री के जीवित रहते हुये भी एक, दो, तीन, चार या इससे भी अधिक स्त्रियों से विवाह एक साथ कर सकता है। वह अपनी पहिली पाणिग्रहीता भार्या को बिना किसी कारण के छोड़ सकता है तथा इस प्रकार उसके जीवन को नारकीय तथा दुःखदायी बना सकता है। कितने व्यक्ति काम-वासना से प्रेरित होकर अपनी सती स्त्री को छोड़कर दूसरी सुन्दरी स्त्री से विवाह कर लेते हैं और पहिली स्त्री पर व्यभिचारिणी होने का झूठा लाञ्छन लगा कर उसको भरण-पोषण के मानवोचित अधिकार से भी वञ्चित कर देते हैं। इस प्रकार ऐसी अभागिनी स्त्रियों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती जा रही है और वे अपने वर्तमान जीवन से संतुष्ट न होकर दूसरे धर्म को ग्रहण कर रही हैं। हिन्दू पतियों के द्वारा इस प्रकार परित्यक्ता ये स्त्रियाँ अपना पुनर्विवाह नहीं कर सकतीं क्योंकि इसके लिये न तो कानून ही अनुमति देता है और न समाज ही इसका अभिनन्दन करता है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि उच्च श्रेणी की स्त्रियों की अवस्था, तलाक की प्रथा के अभाव में, दिन प्रतिदिन दयनीय होती जा रही है। हिन्दू समाज की निम्नतर जातियों में तलाक की प्रथा अब भी वर्तमान है। यदि कोई पति अपनी स्त्री को छोड़ देता है तो वह स्त्री भी शीघ्र ही उस पति का परित्याग कर अपना दूसरा विवाह कर लेती है और सुख पूर्वक जीवन बिताती है। इस प्रकार नीची जाति की स्त्रियों का जीवन ऊँची जाति की स्त्रियों से कम से कम इस अंश में अधिक सुखी है।

—o*o—

७—विविध - विवाह

(१) बहु-विवाह

हिन्दू समाज में सदा से एक पत्नी व्रत का आदर्श प्रचलित था और यह आदर्श कार्य रूप में भी व्यवहृत होता था। स्त्री - पुरुष के लिये 'दम्पति' शब्द का प्रयोग मिलता है जिसका अर्थ गृह का 'सम्मिलित स्वामी' है। इससे केवल एक ही स्त्री की कल्पना की जाती थी, दूसरी स्त्री के लिये स्थान नहीं था। यज्ञ, यागादि में भी एक ही स्त्री के सहयोग का वर्णन मिलता है। वैदिक देवता भी 'एक पत्नी व्रत' का पालन करने वाले हैं। इस प्रकार साधारणतया एक ही स्त्री से विवाह करना आदर्श समझा जाता था। परन्तु यह सब होने पर भी बहु-विवाह की प्रथा प्राचीन काल से ही इस देश में प्रचलित है। किम्बहुना वेदों में भी इसका उल्लेख मिलता है।

वेदों में बहु-विवाह का उल्लेख—ऋग्वेद के एक सूक्त में मन्त्रों के द्वारा सपत्नियों के प्रेम में फँसे पति को उनसे विरक्त करने का उल्लेख मिलता है[१]। इसी वेद में इन्द्र की स्त्री शची के द्वारा अपनी सपत्नियों को पराजित कर उन्हें नष्ट करने और पति के ऊपर प्रभुत्व स्थापित करने का वर्णन पाया जाता है[२]। तैत्तिरीय संहिता में बहुविवाह का बड़ा ही रोचक उल्लेख है।

---

१. ऋ० वे० १०।१४५

२. असपत्ना सपत्नघ्नी जयन्त्यभिभूवरी।
आवृक्षमन्यासां वर्चो राधो अस्थेयसामिव॥
समजैषमिमा अहं सपत्नीरभिभूवरी।
यथाहमस्य वीरस्य विराजानि जनस्य च॥ ऋग्वेद १०।१५९।५-६

जिस प्रकार से मनुष्य एक यूप१ में दो रस्सियों को बाँधता है, उसी प्रकार एक पति दो स्त्रियों को प्राप्त करता है, परन्तु वह (यजमान) एक रस्सी से दो यूपों को नहीं बाँधता अतः एक स्त्री दो पति को प्राप्त नहीं कर सकती२"। तैत्तिरीय ब्राह्मण में अश्वमेध यज्ञ का वर्णन करते हुये लिखा है कि "पत्नियाँ घोड़े का अभिषेक करती हैं; स्त्रियाँ वास्तव में सम्पत्ति हैं३।" शतपथ ब्राह्मण में राजाओं की चार प्रकार की स्त्रियों का वर्णन मिलता है४— (१) अभिषिक्ता रानी जिसे 'महिषी' कहते थे (२) प्रेमपात्री - (वावाता) (३) परित्यक्ता स्त्री (परिवृक्ता) और (४) नीच वर्ण की स्त्री (पालागली)। रामायण में अश्वमेध यज्ञ के सम्बन्ध में इनसे से प्रथम तीन प्रकार की स्त्रियों का उल्लेख मिलता है५। वाजसनेयी संहिता में कुछ ऐसे श्लोक मिलते हैं जो ब्रह्मा, उद्गाता और होता के द्वारा क्रमशः महिषी, वाताता और परिवृक्ता को संबोधित किये गये हैं६। ऋग्वेद में शत्रुओं के द्वारा

---

१. यज्ञ में स्थापित वह स्तम्भ जिसमें पशुओं को बाँध कर उनकी बलि दी जाती थी।

२. (क) यदेकस्मिन्यूपे द्वे रशने परिव्ययति तस्मादेको द्वे जाये विन्दते। यन्नैकां रशनां द्वयोर्यूपयोः परिव्ययति तस्मान्नैका द्वौ पती विन्दते। तै० सं० ६।६।४।३

(ख) तस्मादेको बह्वीर्जाया विन्दते। तस्मादेकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति नैकस्यै बहवः सहपतयः। ऐ० ब्रा० १२।११

३. पत्नयोऽभ्यञ्जन्ति। श्रिया वा एतद्रूपं यत्पत्नयः। श्रियमेवास्मिंस्तद्धति। तै० ब्रा० ३।८।४

४. चतस्रो जायाः उपक्लृप्ताः भवन्ति; महिषी, वाताता, परिवृक्ता, पालागली। श० ब्रा० १३।४।१।८

५. होताध्वर्युस्तथोद्गाता हयेन समयोजन्।
महिष्या, परिवृक्त्या च वावातामपरां तथा॥ रामायण १।१४।३५

६. वा० सं० २३।२४।२६।२८

चारों ओर से आक्रान्त व्यक्ति की उपमा उस पुरुष से दी गयी है जो अपनी परस्पर डाह करने वाली स्त्रियों से दुःखी हो[१]। इन सब उद्धरणों से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में भी वहु-विवाह की प्रथा प्रचुर परिमाण में प्रचलित थी। सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् तथा ऋषि याज्ञवल्क्य ने भी स्वयं दो विवाह किया था। इनकी स्त्रियों का नाम कात्यायनी और मैत्रेयी था जिसका उल्लेख वृहदारण्यक उपनिषद् में (४।५।१–२) पाया जाता है।

गृह्यसूत्रों, स्मृतियों, महाभारत तथा रामायण में उल्लेख—गृह्यसूत्रों के समय में भी वहु विवाह की प्रथा प्रचलित थी। स्मृतियों में तो बहु विवाह का वर्णन प्रचुर परिमाण में पाया जाता है। कौटिल्य ने भो कुछ शर्तों के साथ वहु-विवाह करने की आज्ञा दो है। उन्होंने लिखा है कि "यदि स्त्री पुत्रहीन हो, वन्ध्या हो या प्रथम प्रसव के बाद कोई सन्तान न पैदा करे तो पुरुष को आठ वर्ष तक प्रतीक्षा करनी चाहिये। यदि जन्म होते हो पुत्र मर जाय तो दस वर्ष तक और यदि केवल लड़की ही पैदा हो तो बारह वर्ष तक प्रतीक्षा करनी चाहिये। इसके बाद यदि पति पुत्र की कामना करता है तो उसे अपना दूसरा विवाह कर लेना चाहिये"। यदि वह इस नियम का पालन नहीं करता तो उसे क्षति-पूर्ति के रूप में स्त्री को धन देना चाहिये और दण्ड के रूप में राजा को २४ पण प्रदान करना चाहिये[२]। बौधायन धर्म-सूत्र में पुरुष वचन बोलने वाली स्त्री का सद्यः परित्याग कर विवाह कर लेने को लिखा है[३]। मनु ने भी इस मत का समर्थन किया है[४]। किम्बहुना मनु ने एक स्थान पर प्रथम स्त्री की दाहक्रिया करने के ठीक बाद ही दूसरी

---

१. सं मा तपन्ति अभितः सपत्नीरिव पर्शवः। ऋ० वे० १।१०५।८

२. अ० शा० ३।२

३. सद्यस्त्वप्रियवादिनीम्। बौ० ध० सू० २।२।४।६

४. म० स्मृ० ९।८१

स्त्री से विवाह करने की अनुमति दी है१। देवल ने लिखा है कि शूद्र एक स्त्री रख सकता है, वैश्य दो, क्षत्रिय तीन, ब्राह्मण चार परन्तु राजा जितनी चाहे उतनी स्त्रियों से विवाह करने का अधिकारी है२। महाभारत में पुरुष के द्वारा अनेक स्त्रियों से विवाह करने में कोई अधर्म नहीं माना गया है परन्तु स्त्री के लिये अनेक पतियों से विवाह करना निषिद्ध है३। इसी ग्रंथ से यह भी पता चलता है कि वासुदेव (कृष्ण) की सोलह हजार स्त्रियाँ थी४। धृष्टद्युम्न ने एक स्थान पर कहा कि एक पुरुष की बहुत सी स्त्रियाँ हो सकती हैं५। राजा शान्तनु ने धीवर की कन्या से अपना दूसरा विवाह किया था यह तो प्रसिद्ध ही है। रामायण में ही बहुविवाह का उल्लेख मिलता है। राजा दशरथ की तीन रानियाँ थी इसको कौन नहीं जानता? सूर्पणखा ने राम से 'भार्या रूपेण पश्य माम्' जो कहा है उससे भी इसी कथन की पुष्टि होती है। संस्कृत नाटकों तथा काव्यों में बहु - विवाह के हजारों उदाहरण भरे पड़े हैं। अभिज्ञान शाकुन्तल से राजा दुष्यन्त की

---

१. भार्यायै पूर्वमारिण्यै, दत्वाग्निं विधिपूर्वकम्।
पुनर्दारक्रियां कुर्यात् पुनराधानमेव च॥ म० स्मृ० ५।१६८

२. एका शूद्रस्य, वैश्यस्य द्वे, तिस्त्रः क्षत्रियस्य च।
चतस्त्रो ब्राह्मणस्य स्युर्भार्या राज्ञो यथेच्छतः॥
गृहस्थ - रत्नाकर में देवल का वचन (पृ० ८५)

३. च चाप्यधर्मः कल्याणो बहुपत्नीकता नृणाम्।
स्त्रीणामधर्मः सुमहान्भर्तुः पूर्वस्य लंघने॥ महाभारत १।१६०।३६

४. षोडशस्त्री सहस्त्राणि वासुदेवपरिग्रहः।
तासामासीन्महानादो, दृष्ट्वैवार्जुनमागतम्॥ म०भा० (मौ० प०) ५।६

५. एकस्य बह्व्यो विहिताः महिष्यः कुरुनन्दनम्। म० भा० १।१९५।२७

अनेक स्त्रियों का पता चलता है[१]। श्रीहर्ष की रत्नावली नाटिका में भी इसका उल्लेख उपलब्ध होता है।

बहु - विवाह के कुछ ऐतिहासिक प्रमाण—भारतीय इतिहास के अनुशीलन से पता चलता है कि राजाओं की अनेक स्त्रियों का होना एक साधारण घटना थी। इतिहास में प्रियदर्शी अशोक की कम से कम दो रानियों का उल्लेख मिलता है[२]। परम पराक्रमी महाराजा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की कुवेरनागा तथा ध्रुव देवी इन दो रानियों का पता लगता है[३]। चेदीवंश के राजा गङ्गेयदेव उपनाम 'विक्रमादित्य' ने अपनी १५० (डेढ़ सौ) स्त्रियों के साथ प्रयाग में मुक्ति प्राप्त की थी—यह बात ऐतिहासिकों से छिपी नहीं है[४]।

राजपूताने (राजस्थान) के इतिहास में बहु - विवाह के अनेक प्रमाण पाये जाते हैं। डा० गौरी शंकर हीरा चन्द ओझा ने लिखा है कि राजपूतों के पतन तथा नाश में इस बहु - विवाह का सबसे अधिक हाथ था[५]। मारवाड़ के राजा अजीत सिंह की मृत्यु जब १७२४ ई० में हुई तब उनकी ६४ (चौसठ) स्त्रियाँ उनके साथ ही जल कर सती हो गयीं। बूँदी के राजा बुध सिंह जब पानी में डूब गये थे तब उनकी ८४ (चौरासी)

---

१. (क) शुश्रूषस्व गुरून्, कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने।
शकुन्तला अंक ४ श्लोक १८

(ख) राजानः बहुपत्नीकाः श्रूयन्ते। वही

२. डा. डी० आर० भण्डारकर - अशोक (तृतीय संस्करण) पृ० ११

३. डा. वासुदेव उपाध्याय—गुप्त साम्राज्य का इतिहास भाग १
(प्रथम संस्करण) पृ० ८७–८८

४. प्राप्ते प्रयागवटमूलनिवेशबन्धौ,
सार्धं शतेन गृहिणीभिरमुत्र मुक्तिम्। ए० इ० भाग २ पृ०, ४

५. डा० ओझा—राजपूताने का इतिहास, भाग १।

स्त्रियाँ आग में जल कर सती हो गई। महाराज खड्ग सिंह की ३, वसन्त सिंह की ५, किशोरी सिंह की ११, हीरा सिंह की २४ तथा सुचेत सिंह की ३१० स्त्रियों के होने का वर्णन मिलता है१। इतिहास से और अधिक उदाहरण देकर इस विषय को अधिक विस्तृत करना उचित नहीं है। इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि आजकल भी भारतीय भूतपूर्व नरेश गण इस प्राचीन परम्परा को अक्षुण रीति से पालन कर रहे हैं।

गृह्य-सूत्रों तथा स्मृतियों में इस प्रथा की निन्दा—यद्यपि बहु - विवाह की प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है परन्तु यह कभी आदर्श रूप में स्वीकार नहीं की गयी। एक-पत्नी-व्रत ही सदा से हिन्दू - समाज का आदर्श था और आज भी बना हुआ है। इसीलिये समय - समय पर गृह्यसूत्रों तथा स्मृतियों ने बहु - विवाह की इस दूषित प्रथा की कठोर शब्दों में निन्दा की है तथा पहिली पत्नी को छोड़कर दूसरी से विवाह करने वाले पुरुष को पापी ठहराया है। आपस्तम्ब धर्म सूत्र में लिखा है कि धर्म तथा पुत्र से सम्पन्न पुरुष को चाहिये कि वह दूसरा विवाह कदापि न करे। परन्तु उसकी स्त्री यदि धर्म अथवा पुत्र में से किसी एक से रहित हो तभी वह दूसरा विवाह कर सकता है२। इसी ग्रन्थ से यह भी ज्ञात होता है कि "दोष रहित स्त्री का परित्याग करने वाले पुरुष को चाहिये कि वह गदहे के चमड़े को, जिसके बाल बाहरी तरफ हों, पहने और छः महीने तक सात घरों से भिक्षा माँगा करे३।" नारद का आदेश है कि राजा को चाहिये

---

२. डा० अल्टेकर—पोजीशन आफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन पृ० ११५

१. धर्मप्रजासम्पन्ने दारे, नान्यां कुर्वीत। अन्यतराभावे कार्या प्रागग्न्याधेयात्। आप० ध० सू० २।५।११।१२–१३

२. खराजिनं बहिर्लोम परिधायदारव्यतिक्रमेण भिक्षामिति सप्तागाराणि चरेत्। सा वृत्तिः षण्मासान्॥

आप० ध० सू० १।१०।२८।१६

कि वह अनुकूल, प्रिय बोलने वाली, चतुर, पुत्रवती तथा साध्वी स्त्री का परित्याग करने वाले पुरुष को कठिन दण्ड देकर उसे ठीक रास्ते पर लावे[१]। कौटिल्य ने कई शर्तों के बाद ही पुरुष को पुनर्विवाह की आज्ञा प्रदान की है तथा बिना कारण स्त्री को छोड़ने वाले पति की निन्दा की है। मनु ने लिखा है कि स्त्री के बन्ध्या होने पर आठ वर्ष तक, सन्तान के बार-बार मर जाने पर दश वर्ष तक, तथा केवल कन्या ही उत्पन्न होने पर एगारह वर्षों तक प्रतीक्षा करने के बाद ही पुरुष को दूसरा विवाह करना चाहिए। याज्ञवल्क्य ने पहिली स्त्री का परित्याग करने वाले व्यक्ति के द्वारा स्त्री के लिये आधिवेदनिक (भरण का मूल्य) देने का विधान किया है[२]।

वर्तमान अवस्था—यद्यपि गृह्य-सूत्रकारों तथा स्मृतिकारों ने बहु-विवाह की बड़ी निन्दा की और साध्वी स्त्री को छोड़ने वाले पति को दण्ड देने का भी विधान बतलाया परन्तु ये सब नियम पोथियां के पन्नों में ही लिखे पड़े रहे। हिन्दू समाज ने इन नियमों को पालन करने की कभी भी चिन्ता नहीं की। पुनर्विवाह करने का जो नियम केवल विशेष अवस्थाओं में बतलाया गया था वह बाद में साधारण नियम सा हो गया और पुरुषों ने पहिली स्त्री के जीवित रहते हुये भी पुनःविवाह करना अपना अधिकार सा समझ लिया। परन्तु दुःख तो इस बात का है कि हिन्दू समाज के नेता तथा पथप्रदर्शक धर्मशास्त्रकारों ने भी उन कठोर शब्दों में इस प्रथा का विरोध नहीं किया जिस कठोरता के साथ उन्होंने विधवा-विवाह का अथवा रजोदर्शन के पश्चात् कन्या के विवाह का किया है। ऐसा ज्ञात होता है बहु - विवाह की चर्चा करते समय उनकी बुद्धि कुण्ठित और वाणी मूक हो जाती थी और उनका वह उत्साह तथा जोश भी नष्ट हो जाता था जिस जोश और खरोश के साथ वे विधवा - विवाह की निन्दा तथा भर्त्सना किया

---

१. अनुकूलामवाग्दुष्टां, दक्षां, साध्वीं, प्रजावतीम्।
त्यजन् भार्यामवस्थाप्यो राज्ञा दण्डेन भूयसा ॥ नारद—स्त्री पुंस० ९५.

२. या० स्मृ० २।१४८।

करते थे। अतः पुरुषों को बहु-विवाह का अधिकार (लाइसेन्स) मिल गया और उन्होंने स्मृतियों की आज्ञा का उल्लंघन करना अपना धर्म समझ लिया। वृहत्-संहिता से पता चलता है कि नियम के विरुद्ध बहु-विवाह करने पर पुरुषों के लिये जो प्रायश्चित बतलाया गया था उसका पालन वे कभी भी नहीं करते थे१। इसका परिणाम यह हुआ कि समाज में उच्छृङ्खलता बढ़ती गयी और अनेक दोष इसमें प्रवेश कर गये।

आजकल साधारणतया हिन्दू-समाज में बहु-विवाह की प्रथा का विशेष प्रचार नहीं हैं। पुरुष अपनी पहिली स्त्री के मर जाने अथवा उसके बन्ध्या होने पर ही पुनः दूसरा विवाह करते हैं। उच्च कुलों में यद्यपि यह प्रथा अभी भी किसी अंश में वर्तमान है, परन्तु इसका धीरे-धीरे ह्रास हो रहा है। इतना होने पर भी कुछ लोग बिना किसी कारण से दूसरा विवाह कर अपनी प्रथम स्त्री का जीवन नारकीय बना देते हैं। वे छोटी-छोटी बातों के लिये क्रुद्ध होकर स्त्री का परित्याग कर देते हैं, उसको तरह-तरह की यन्त्रणायें देते हैं और उसके चरित्र को दूषित ठहराकर उसे घर से निकाल देते हैं। प्राचीन आचार्यों ने साध्वी स्त्री के परित्याग करने पर दण्ड का विधान बतलाया है, पर उस दण्ड का भय भी इन्हें कुमार्ग से विचलित नहीं कर पाता हैं। याज्ञवल्क्य ने जो 'आधिवेदनिक' देने की आज्ञा दी है, उसकी पर्वाह ही कौन करता है? प्रथम स्त्री को व्यभिचारिणी बतलाकर उसके भरण पोषण का प्रबन्ध भी नहीं किया जाता। इस प्रकार आज कल आर्थिक तथा सामाजिक दोनों दृष्टियों से स्त्रियों की दशा अत्यन्त दयनीय है।

बहु-विवाह की बुराइयाँ—बहु-विवाह के कारण हिन्दू समाज में अनेक बुराइयों का प्रवेश हो गया। इस दूषित प्रथा के कारण पुरुषों को एक स्त्री के जीवित रहते हुए भी अनेक स्त्रियों से विवाह करने की छूट

१. वृहत्संहिता

मिल गई । उन्हें वह "लाइसेन्स" प्राप्त हो गया जिसके द्वारा वह अनेक स्त्रियों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने में वे स्वतन्त्र हो गये। पुरुषों को न तो समाज का भय था और न धर्मशास्त्रकारों के आदेशों की चिन्ता। अतएव वे स्वतन्त्रता पूर्वक शास्त्रकारों की आज्ञाओं का उल्लंघन करने लगे। स्मृति के प्रणेता, दार्शनिकों के अग्रणी तथा समाज के प्रतिष्ठापक स्वयं याज्ञवल्क्य ऋषि ने दो स्त्रियों का पाणि-ग्रहण किया था।

इस प्रकार समाज में प्रचलित बहु - विवाह की प्रथा का यह दूषित परिणाम होने लगा कि पुरुषों की स्वेच्छाचारिता बढ़ती गयी। इस कारण उनके सदाचार का क्रमशः ह्रास हो गया। स्मृतिकारों ने आचार सदाचार, चरित्र की शुद्धता पर बल अवश्य दिया परन्तु उनका आदेश, उनका सामाजिक विधान उनकी पोथियों के पृष्ठों तक ही सीमित रहा। समाज के संभ्रान्त पुरुषों ने भी इन विधानों के पालन करने की आवश्यकता ही नहीं समझी और इन आज्ञाओं का स्पष्ट तथा स्वतन्त्र रूप से अनादर एवं उल्लंघन किया। इसके फल स्वरूप महाभारत के युग में ही हमारा नैतिक पतन होने लगा था। मनु ने अपनी स्मृति में ऐसी अनेक अनुलोम तथा प्रतिलोम वर्ण-संकरो सृष्टि का वर्णन किया है जिसके अध्ययन से समाज के नैतिक जीवन के ह्रास का पता चलता है। राजनीति के क्षेत्र में भी बहु - विवाह की प्रथा ने भयंकर अनर्थ की सृष्टि की। राजपूतों के शासन काल में अनेक युद्ध किसी सुन्दरी युवती से विवाह करने के लिए ही किये जाते थे। सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक डा० गौरीशंकर ओझा ने ठीक ही लिखा है कि हिन्दुओं के पतन का सबसे बड़ा कारण यही बहु - विवाह की प्रथा थी।

इस प्रथा का सबसे भयंकर दुष्परिणाम यह हुआ कि इसके कारण समाज में स्त्रियों की प्रतिष्ठा का पतन हो गया। वे एक सामान्य वस्तु (Comodity) के रूप में समझी जाने लगीं जिसे कभी भी, किसी भी अधिक संख्या में प्राप्त किया जा सकता था। भगवान् रामचन्द्र के

"एक पत्नी व्रतो रामः 'नोपयेमे यदन्यां' तथा "रामः, परदारांस्तु चक्षुर्म्यामपि न पश्यति" आदर्श को भुला दिया गया और पुरुषों ने बहु - विवाह को अपना अधिकार समझ लिया। इसके फल स्वरूप सपत्नी द्वेष के कारण स्त्रियों का जीवन दुःखी रहने लगा। वे अपने पति की 'हृदयेश्वरी' तथा "धर्मपत्नी" न बन कर "काम पत्नी" बन गयी तथा पुरुषों के विलास की सामग्री समझी जाने लगीं। चिन्ता और दुःख उनके हृदय में निवास करने लगा। मनु ने लिखा है कि "नार्यो यत्र शोचन्ति, विनशत्याशु तत् कुलम्"। इस कारण कुल में, जाति में ह्रास के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। यह शुभ लक्षण है कि बहु - विवाह की यह दूषित प्रथा अब अतीत की वस्तु बनती जा रही है और वर्तमान कांग्रेसी केन्द्रीय सरकार ने इस प्रथा को समूल नष्ट करने के लिए अनेक कानून तथा प्रतिबन्धों का निर्माण किया है।

(२) बहु–पति–विवाह

प्राचीन भारत में इसका अभाव—प्राचीन भारत में इसका बहु - विवाह[१] की प्रथा का नितान्त अभाव था। वेदों में इस प्रथा का उल्लेख कहीं भी नहीं पाया जाता। इसके विपरीत तैत्तरीय संहिता में एक पत्नी का अनेक पतियों से विवाह करने का निषेध अवश्य मिलता है[२]। ऐतरेय ब्राह्मण ने

१. एक स्त्री जब अनेक पुरुषों से एक ही साथ विवाह करती है तब इसे अंग्रेजी में पालिएन्ड्री (Polyandry) कहते हैं। हिन्दी में इसके लिये कोई उपयुक्त शब्द नहीं हैं। अतः यहाँ Polyandry के लिये 'बहु - पति - विवाह' शब्द का प्रयोग किया गया है।

२. यन्नैकां रशनां द्वयोर्यूपयोः परिव्ययति तस्मान्नैका द्वौ पती विन्दते। तै० सं० ६।६।४।३

भी इस प्रथा का स्पष्ट शब्दों में विरोध किया है१। परन्तु धर्मशास्त्रों से इस प्रथा के अस्तित्व का पता चलता है। आपस्तम्ब धर्म सूत्र में लिखा है कि "अपनी स्त्री को किसी अपरिचित व्यक्ति को नियोग के लिये नहीं देना चाहिये बल्कि सगोत्र को ही देना चाहिये क्योंकि शास्त्र का कथन है कि कन्या परिवार को दी जाती है, न कि केवल एक व्यक्ति को२"। इसी प्रकार से वृहस्पति ने राजा को अपने देश में प्रचलित कुप्रथाओं को नष्ट करने का आदेश देते हुये उल्लेख यह किया है कि "किसी देश में मृत भाई की स्त्री से विवाह करने की तथा समस्त परिवार को कन्या प्रदान करने की (किसी एक भाई को नहीं) कुप्रथा विद्यमान है एवं पारसीक लोगों में माता से भी विवाह करने की प्रथा प्रचलित है३।" इससे पता चलता है कि वृहस्पति के समय में बहु-विवाह की प्रथा अवश्य प्रचलित थी। डा० जोली के मत से यह उल्लेख दाक्षिणात्यों में इस प्रथा के होने का प्रमाण है। परन्तु उनकी यह धारणा निर्मूल है। वृहस्पति ने दाक्षिणात्यों में केवल मामा की लड़की से विवाह करने का ही उल्लेख किया है न कि बहु-पति-विवाह का। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट ही लिखा है कि "देशेष्वन्येषु दृश्यते"। परन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वृहस्पति को इस प्रथा की जानकारी अवश्य थी।

---

१. 'तस्मादेको बह्वीर्जाया विन्दते' तस्मादेकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति नैकस्यै बहवः सहपतयः। ऐ० ब्रा० १२।११

२. आप० ध० सू० २।१०।२७।२-४

३. विरुद्धाः प्रतिदृश्यन्ते दाक्षिणात्येषु सम्प्रति।
स्वमातुलसुतोद्वाहो मातृबन्धुत्वदूषितः॥
अभर्तृकभ्रातृभार्याग्रहणं चातिदूषितम्।
कुले कन्याप्रदानं च, देशेष्वन्येषु दृश्यते॥
तथा मातृविवाहोपि पारसीकेषु दृश्यते।
स्मृ० च० (१।१०) में वृहस्पति का उद्धृत वचन।

महाभारत में इसका उल्लेख—वहु - पति - विवाह का सबसे प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक वर्णन महाभारत में मिलता है। यह तो प्रसिद्ध हो है कि द्रौपदी के पाँच पति थे। सम्भवतः यह घटना इतनी प्रसिद्ध थी कि महाभारतकार को इसका उल्लेख करना ही पड़ा। परन्तु उस अतीत काल में भी यह प्रथा निन्दित समझी जाती थी। जब कुन्ती को यह मालूम हुआ कि उसने अपने पुत्रों को जो यह आज्ञा दी थी कि "प्राप्त सामग्री का बराबर - बराबर विभाग कर उसे आपस में बाँट लो तो इससे अर्थ का अनर्थ हो गया, तब उसे बड़ा ही दुःख हुआ१।" पाँचों पाण्डवों के द्वारा द्रौपदी से एक साथ विवाह करने के प्रस्ताव को युधिष्ठिर से सुनकर धृष्टद्युम्न आश्चर्य से चकित हो गये और धर्मराज को इस कार्य से विरत करते हुये उन्होंने कहा कि यह प्रथा लोक तथा धर्म दोनों के विरुद्ध है; तुम्हारी ऐसी बुद्धि क्यों हो गयी ? अतः इस अधर्म के कार्य को मत करो२। परन्तु युधिष्ठिर इसका कुछ भी उत्तर न दे सके और 'यह प्राचीन परम्परा है इसीलिए हम इसका पालन करते हैं' यह कर उन्होंने अपने पक्ष का समर्थन किया३। युधिष्ठिर ने इस प्राचीन परम्परा का उल्लेख करते हुये जटिला गौतमी—जिसके सात पति थे—और वार्क्षी का उदाहरण दिया है जिसके दस प्राचेतस पति थे

---

१. कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रान् प्रोवाच भुंक्तेति समेत्य सर्वे।
पश्चाच्च कुन्ती प्रसमीक्ष्य कृष्णां, कष्टं मया भाषितमित्युवाच॥
म० भा० १।२०६।२

२. एकस्य बह्व्यो विहिताः महिष्यः कुरुनन्दन।
नैकस्याः बहवः पुंसः श्रूयन्ते पतयः क्वचित्॥
लोकवेदविरुद्धं त्वं नाधर्मं धर्मविच्छुचिः।
कर्तुमर्हसि कौन्तेय, कस्मात्ते बुद्धिरीदृशी॥ १।१९५।२७–२९

३. सूक्ष्मो धर्मो महाराज ! नास्य विद्मो वयं गतिम्।
पूर्वेषामानुपूर्व्येण यातं वर्त्मानुयामहे॥ म० भा० १।१९६।

जो आपस में भाई - भाई थे। अतः महाभारत के समय में भी इस प्रथा की सत्ता विद्यमान थी। परवर्ती धर्म-शास्त्रकारों ने द्रौपदी के बहु - पति - विवाह को घृणित समझ कर उसको आलंकारिक रीति से समझाने का बड़ा प्रयत्न किया है। कुमारिल भट्ट ने इस समस्या का समाधान तीन प्रकार से करने का प्रयास किया है (१) द्रौपदी अनेक थीं परन्तु उनका रूप, आकार, प्रकार बिल्कुल एक था अतः ग्रन्थकर्ता ने आलंकारिक रीति से केवल एक द्रौपदी का ही वर्णन किया है[1]। (२) वास्तव में पाँच द्रौपदी थी जिनका विवाह पृथक् - पृथक् पाँचों भाइयों से हुआ था। (३) द्रौपदी वास्तव में राजलक्ष्मी है और उनका पांचों पाण्डवों से विवाह का अर्थ है पाँचों भाइयों से उपभोग किया जाना। इस कथन का आशय केवल इतना ही है कि पीछे के धर्म शास्त्रकार बहु - पति - विवाह को अत्यन्त घृणित समझते थे अतः उन्होंने द्रौपदी के चरित्र को निष्कलंक सिद्ध करने का प्रयास किया है।

यह प्रथा मालाबार प्रान्त के नायर लोगों में कभी प्रचलित थी। आज भी यू० पी० के कुमायूँ तथा गढ़वाल जिलों तथा आसाम के पर्वतीय जिलों में यह प्रथा प्रचलित है। पं० भगवान् लाल इन्द्र जी के मतानुसार यह प्रथा कुमायूँ में तमसा (टोन्स) और जमुना नदी के बीच कलसी नामक स्थान के आस - पास ब्राह्मण, राजपूत तथा शूद्रों में पायी जाती है और इस विवाह से उत्पन्न बालक सबसे बड़े भाई का समझा जाता है[2]। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख यहाँ कुछ अनुचित न होगा कि यू० पी० के देहरादून जिले के जौनसार भावर में निवास करने वाली जाति के लोग अपने को पाण्डवों का वंशज बतलाते हैं। उनमें आज भी बहु - पति - विवाह की प्रथा प्रचलित है। इस प्रथा के अनुसार एक परिवार के सभी भाई एक ही स्त्री से

---

१. डा० जोली—Recht und Sitte (अंग्रेजी अनुवाद पृ० १०३)

२. इ० ए० भाग ८, पृ० ८८

विवाह करते है। वह स्त्री बड़े भाई की पत्नी समझी जाती है परन्तु उससे सन्तानोत्पत्ति करने का सभी भाइयों का समान अधिकार माना जाता है। इस जाति के लोग प्राय: खेती करते हैं और बड़े सुख से अपना पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हैं१।

(३) अन्तर्जातीय - विवाह

प्राचीन काल में अपनी ही जाति अथवा वर्ण में विवाह करना प्रशस्त समझा जाता था। आपस्तम्ब ने लिखा है कि मनुष्य को चाहिये कि अपने ही वर्ण की कुमारी कन्या से विवाह करे और इस संयोग से उत्पन्न पुत्र ही पिता के व्यवसाय का अधिकारी हो सकता है। वर्णान्तर में विवाह करने में दोष लगता है२। मनु ने भी असवर्ण विवाह की निन्दा की है३। परन्तु यह नियम होने पर भी अन्तर्जातीय विवाह का बहुत प्रचार था। यह प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आती है। इसका उल्लेख वेदों में भी पाया जाता है।

---

१. टिप्पणी—मेरे एक मित्र ने–जो गढ़वाल ज़िले के श्रीनगर नामक स्थान में १९३४ ई० में एक राजकीय कर्मचारी थे—मुझे बतलाया कि वहाँ के पुलिस स्टेशन में एक स्त्री ने उनकी उपस्थिति में पुलिस सब्–इन्सपेक्टर के सामने यह बयान दिया था कि "मेरे चार पति अभी जीवित हैं और यह (प्रार्थी) मेरा पाँचवा पति है।"

२. सवर्णा पूर्वशास्त्रविहितायां यथर्तु गच्छतः पुत्रास्तेषां कर्मभिः संबंधः। पूर्ववत्यामसंस्कृतायां वर्णान्तरे च मैथुने दोषः।
आप० ध० सू० २।६।१३।१, ३—४

३. सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि। म० स्मृ० ३।१२

वेदों में इस प्रथा का उल्लेख—शतपथ ब्राह्मण में एक कथा मिलती है जिससे यह पता चलता है कि भृगु के वंश में उत्पन्न होने वाले बूढ़े च्यवन ने मनु के वंशज शर्याति राजा की कन्या सुकन्या से विवाह किया था१। इसी ग्रन्थ में वा० सं० का एक उद्धरण मिलता है जिसमें लिखा है कि 'अतः उसने वैश्या स्त्री के पुत्र का राजा के रूप में अभिषेक नहीं किया२।' इससे ज्ञात होता है कि क्षत्रिय राजा वैश्य की कन्या से विवाह कर सकता था परन्तु उससे उत्पन्न पुत्र का अभिषेक वैदिक मन्त्रों से नहीं हो सकता था। बृहत् देवता (५।५०) ने ऋग्वेद (५।६१।१७-१६) के मन्त्रों के आधार पर ब्राह्मण ऋषि श्यावाश्व का क्षत्रिय राजा रथवीती दार्भ्य की कन्या से विवाह का उल्लेख किया है। ऐतरेय ब्राह्मण (८।१) में एक कथा आती है जिसमें कवश ऐलूश नामक व्यक्ति को यज्ञ से यह कह कर निकालने का वर्णन मिलता है कि 'ए दासी के पुत्र ! तुम दुष्ट हो, ब्राह्मण नहीं हो। तुमने हम लोगों के समान दीक्षा कैसे ग्रहण की ?" इस मन्त्र में 'दास्याः पुत्रः' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ दासी स्त्री से उत्पन्न पुत्र है। इससे ज्ञात होता है कि वैदिक काल में भी असवर्ण विवाह की प्रथा प्रचलित थी।

गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों, स्मृतियों तथा महाभारत आदि में उल्लेख—यद्यपि आपस्तम्ब तथा मानव गृह्यसूत्र में इस प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता परन्तु गौतम को इस प्रथा का पता अवश्य था। उन्होंने अन्तर्जातीय विवाह से उत्पन्न होने वाले बहुत सी छोटी - छोटी जातियों का नामोल्लेख किया है। गौतम ने यह भी लिखा है कि वह ब्राह्मण—जो शूद्रा स्त्री का पति है—

---

१. शत० ब्रा० ४।१।५

२. शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायतीति तस्माद्वैशी पुत्रं नाभिषिञ्चति। शत० ब्रा० १३।२।९।८

श्राद्ध के समय नहीं बुलाया जाना चाहिये१। पारस्कर (१।४) तथा वशिष्ठ धर्मसूत्र से पता चलता है कि कुछ आचार्यों ने द्विज को शूद्रा स्त्री से विवाह करने की आज्ञा दी है परन्तु वह विवाह वैदिक मन्त्रों के साथ नहीं होना चाहिये२। परन्तु वशिष्ठ ने ही इसकी निन्दा करते हुये लिखा है कि 'ऐसा नहीं करना चाहिये क्योंकि इससे कुल का नाश हो जाता है।" स्मृतिकार विष्णु ने भी ब्राह्मण को शूद्रा से विवाह करने की अनुमति प्रदान की है३। परन्तु उन्होंने इस विवाह की निन्दा करते हुये लिखा है कि इस संयोग से कोई धार्मिक लाभ कदापि नहीं हो सकता। यह विवाह वासना से पीड़ित होकर ही किया जाता है तथा इस प्रकार समस्त वंश शूद्रता को प्राप्त हो जाता है। बौधायन ने नाना वर्णों को स्त्रियों से उत्पन्न पुत्रों के दायाधिकार का उल्लेख किया है४। उन्होंने यह भी लिखा है अनेक वर्णों की स्त्रियों में से यदि किसी की मृत्यु हो जाय तो किसी के लिये कितने दिनों तक अशौच मानना चाहिये५। नारद के मत से मनुष्य के लिये अपनी ही जाति की कन्या से विवाह करना श्रेयस्कर है। इसे "पूर्वकल्प" अर्थात् सबसे उत्तम मार्ग कहते हैं। परन्तु कुछ आचार्यों ने

---

१. गौ० ध० सू० ४।१४–१७

२. तिस्रो ब्राह्मणस्य भार्या वर्णानुपूर्व्येण, द्वे राजन्यस्य, एकैका वैश्यशूद्रयोः। शूद्रामप्येके मन्त्रवर्जं तद्वत्। तथा न कुर्यात्। अतो हि ध्रुवो कुलापकर्षः प्रेत्य चास्वर्गः। वशिष्ठ धर्म-सूत्र १।२४-२७

३. वि० ध० सू० २६।५–६

४. नानावर्णस्त्रीसमवाये दायं दशांशान्कृत्वा चतुरस्त्रीन् द्वावेकमिति यथाक्रमं विभजेत्। बौ० ध० सू० २।२।१६

५. ब्राह्मणस्य क्षत्रियविट्शूद्रेषु सपिण्डेषु षड्रात्रत्रिरात्रैकरात्रैः।
बौ० ध० सू०

'अनुकल्प' का भी विधान किया है। अर्थात् ब्राह्मण तीन जाति की स्त्रियों से, क्षत्रिय दो, वैश्य एक और शूद्र एक स्त्री से ही विवाह कर सकता है१। मनु ने लिखा है कि शूद्र को केवल अपने वर्ण में ही विवाह करने का अधिकार है। वैश्य को दो से, क्षत्रिय को तीन से तथा ब्राह्मण चारों वर्णों की कन्याओं से विवाह कर सकता है२। याज्ञवल्क्य (१।५७) के मत से ब्राह्मण या क्षत्रिय अपने से नीच वर्ण वाली कन्याओं से विवाह कर सकता है परन्तु शूद्रा से उसे कभी भी विवाह नहीं करना चाहिये। उन्होंने आगे चलकर यह भी कहा है कि यदि विभिन्न वर्णों की स्त्रियों से उत्पन्न ब्राह्मण के चार पुत्र हो तों ब्राह्मणी स्त्री से उत्पन्न पुत्र का, दस भागों में सम्पत्ति को बाँट कर, चार भाग उसे देना चाहिये, तीन भाग क्षत्रिया स्त्री के पुत्र को, दो भाग वैश्या के पुत्र को और एक भाग शूद्रा स्त्री के लड़के को देना चाहिये३। याज्ञवल्क्य ने शूद्रा स्त्री से उत्पन्न ब्राह्मण के पुत्र को 'पारशव' कहा है४। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि धर्मशास्त्रकारों ने अनुलोम विवाह (उच्च वर्ण का पति और उससे नीच वर्ण की स्त्री) की आज्ञा

---

१. ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परिग्रहे।
स जातिः श्रेयसी भार्या सजातिश्च पतिःस्त्रियाः।
ब्राह्मणस्यानुलोम्येन स्त्रियोऽन्यास्तिस्त्र एव तु॥
नारद स्त्री पुं० स० ४—५

२. शूद्रैव भार्या शूद्रस्य, सा च स्वाच विशः स्मृते।
ते च स्वाचैव राज्ञस्य ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥ म०स्मृ० ३।१३

३. या० स्मृ० २।१२५

४. या० स्मृ० १।९१—९२

दी है परन्तु प्रतिलोम विवाह (उच्च वर्ण की कन्या तथा नीच वर्ण का पति) की सदा निन्दा की है।

मनुस्मृति में उल्लेख—ऐसा ज्ञात होता है कि मनु के समय में अन्तर्जातीय विवाह की प्रथा अत्यन्त दृढ़मूल हो गयी थी। इसीलिये वे इसके उल्लेख की अपेक्षा नहीं कर सके। मनुस्मृति के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय में अनुलोम तथा प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाहों का प्रचुर-प्रचार था। मनु ने अनुलोम विवाह की बात तो दूर रही, प्रतिलोम विवाह से भी उत्पन्न—जिसकी उन्होंने स्वयं निन्दा की है—सन्तान का नामकरण करके दाय में उसके अधिकार का वर्णन किया है। उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि को अपने से नीच वर्ण की कन्याओं से विवाह करने का आदेश दिया है परन्तु शूद्रा स्त्री से विवाह की बड़े कठोर शब्दों में निन्दा की है[1] तथा कुल के नाश हो जाने का उल्लेख किया है[2]।

मनुस्मृति में अनुलोम तथा प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाह तथा इनसे उत्पन्न सन्तान का नाम और इनका पेशा बड़े विस्तार से दिया गया है तथा उनके दायाधिकार का भी वर्णन है। पाठकों की सुविधा के लिये इस वर्णन को निम्नांकित तालिका के रूप में उपस्थित किया जाता है। क्रम प्राप्त पहिले अनुलोम इसके पश्चात् प्रतिलोम विवाह की तालिका प्रस्तुत की जाती है।

---

१. न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः।
कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते॥ म० स्मृ० ३।१४

२. हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससंतानानि शूद्रताम्॥ म० स्मृ० ३।१५

		१. पति की जाति	२. स्त्री की जाति	३. दोनों के संयोग से उत्पन्न संतान का नाम
(क) अनुलोम	(१)	ब्राह्मण	वैश्य	अम्वष्ठ
विवाह	(२)	ब्राह्मण	शूद्र	निषाद या पारशव
,,	(३)	क्षत्रिय	शूद्र	उग्र
(ख) प्रतिलोम	(४)	शूद्र	वैश्य	आयोगव
विवाह	(५)	शूद्र	क्षत्रिय	क्षत्ता
,,	(६)	शूद्र	ब्राह्मण	चाण्डाल
,,	(७)	वैश्य	ब्राह्मण	वैदेहक
,,	(८)	वैश्य	क्षत्रिय	मागध
,,	(९)	क्षत्रिय	ब्राह्मण	सूत
(ग) डबल	(१०)	ब्राह्मण	उग्रकन्या	आवृत्त
वर्ण–	(११)	ब्राह्मण	अम्वष्ठ कन्या	आभीर
संकरी	(१२)	ब्राह्मण	आयोगव कन्या	धिग्वण
सृष्टि	(१३)	निषाद	शूद्रकन्या	पुक्कस
,,	(१४)	शूद्र	निषाद कन्या	कुक्कुटक
,,	(१५)	क्षत्रिय	उग्रकन्या	श्वपाक
,,	(१६)	वैदेहक	अम्वष्ठ कन्या	वेण
,,	(१७)	व्रात्य ब्राह्मण	ब्राह्मण	भूर्जकण्टक
,,	(१८)	व्रात्य क्षत्रिय	क्षत्रिय	झल्ल या मल्ल
,,	(१९)	व्रात्य वैश्य	वैश्य	सुधन्वाचार्य

ऊपर जो वर्णन दिया गया है उसमें पहिले अनुलोम, फिर प्रतिलोम तथा बाद में ऐसे वर्ण संकर विवाहों का उल्लेख हैं जो इनसे उत्पन्न सन्तानों के सम्बन्ध से हुये हैं। मनु के समय में समाज में अन्तर्जातीय विवाह कितने प्रकार के होते थे इसका स्पष्ट पता इस तालिका से चलता है[१]।

इसके कुछ ऐतिहासिक प्रमाण—भारतीय इतिहास में अन्तर्जातीय विवाह के सैकड़ों उदाहरण भरे पड़े है। अनेक राजा अपनी शक्ति को बढ़ाने के के लिये अथवा अन्य किसी राजनैतिक कारण से दूसरी जाति की कन्याओं से विवाह करने में कभी संकोच नहीं करते थे। इतिहास से पता चलता है कि शुङ्ग वंश के ब्राह्मण राजा अग्निमित्र (लगभग १५० ई० पू०) ने मालविका नामक क्षत्रिय राजकुमारी से विवाह किया था। प्रभावती गुप्ता के पूना प्लेट से पता चलता है कि वह गुप्त वंश के सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३८०—४१२ ई०) की पुत्री थी और उसका विवाह वाकाटक वंश के राजा रुद्रसेन द्वितीय—जो ब्राह्मण था—से हुआ था[२]। अनेक विद्वानों का मत है कि गुप्त राजा वैश्य थे। इस प्रकार से उपर्युक्त विवाह प्रतिलोम था जिसकी स्मृतियों ने बड़ी निन्दा की है। इसी समय के एक शिलालेख से पता चलता है कि उच्च ब्राह्मण कुल में उत्पन्न सोम नामक व्यक्ति ने श्रुति और स्मृति के नियमों के अनुसार क्षत्रिय जाति की स्त्री से विवाह किया था[३]। प्रतिहार वंश के संस्थापक राजा हरिश्चन्द्र (लगभग ५५० ई०) की ब्राह्मण तथा क्षत्रिय जाति की

१. उपर्युक्त विवरण के लिये देखिये। म० स्मृ० १०।८—६३

२. डा० वासुदेव उपाध्याय—गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० ८७

३. सोमस्ततो सोम इवापरोऽभूत्, स ब्राह्मणः क्षत्रियवंशजासु।
श्रुतिस्मृतिभ्यां विहितार्थकारी, द्वयीसु भार्यासु मनो दधार॥
आ० स० वे० इ०, भाग ४, पृ० १४०

दो स्त्रियाँ थी[१]। कदम्ब राजा ककुस्थवर्मन् के तालगुण्ड स्तम्भ लेख से पता चलता है[२] कि उस वंश का संस्थापक मयूरशर्मन् था जो ब्राह्मण था। परन्तु काञ्ची के पल्लव राजाओं से तंग आकर उसने क्षात्र-धर्म को स्वीकार कर लिया था। इसके वंशजों का उपनाम तब से वर्मन् पड़ गया। इस शिलालेख से ज्ञात होता है कि राजा ककुस्थवर्मन् ने—जो मयूर शर्मन् की चौथी पीढ़ी में वर्तमान था—गुप्त राजाओं से अपनी कन्या का विवाह किया था। लोकनाथ के तिपेरा ताम्र-पत्र से पता चलता है कि उसके पूर्वज भारद्वाज गोत्र के थे परन्तु उसका नाना—जिसका नाम केशव था—पारशव (ब्राह्मण पति तथा शूद्र कन्या से उत्पन्न सन्तान को पारशव कहते हैं) था। लोकनाथ (६५० ई०) का पिता वीर स्वयं ब्राह्मण था[३]। विजयनगर के राजा बुक्क प्रथम (१२६८—१२९८ ई०) की लड़की विरूपादेवी का विवाह ब्रह्म नामक एक ब्राह्मण से हुआ था जो एक प्रान्त का गवर्नर था[४]। शक्ति कुमार (९७७ ई०) के आटपुर शिलालेख में लिखा है कि गुहिल वंश का संस्थापक कोई गुहदत्त नामक ब्राह्मण था जिसके वंशज भर्तृपट्ट ने राष्ट्रकूट वंश की क्षत्रिय राजकुमारी से विवाह किया था।

<u>संस्कृत साहित्य में अन्तर-जातीय विवाह का उल्लेख</u>—संस्कृत साहित्य में असवर्ण विवाह के अनेकों उदाहरण प्राप्त होते हैं। बाण ने हर्ष-चरित

१. तेन श्रीहरिचन्द्रेण परिणीता द्विजात्मजा।
द्वितीया क्षत्रिया भद्रा महाकुलगुणान्विता॥ ए० इ० भाग १८ पृ० ८७

२. ए० इ०, भाग ८, पृ० २४।

३. ए० इ० भाग १५, पृ० ३०१

४. ए० इ० भाग १५, पृ० १२

(उच्छ्वास १) में लिखा है कि मेरे भ्रमण के साथियों में मेरे निजी दो भाई चन्द्रसेन और मातृसेन थे जो पारशव (बाण के पिता से उसकी शूद्रा स्त्री में उत्पन्न) थे। कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल (८६० ई०) के गुरु राजशेखर की 'कर्पूर-मंजरी' से पता चलता है कि उनकी स्त्री का नाम 'अवन्ति सुन्दरी' था जो चौहान वंश की क्षत्रिय कन्या थी[1]। कथा-सरित्-सागर के कर्ता ने ब्राह्मण अशोकदत्त के द्वारा एक क्षत्रिय कन्या से विवाह का समर्थन किया है[2]। इन प्रमाणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि हिन्दू समाज में अनुलोम तथा प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाह प्रचलित थे।

अन्तर्जातीय विवाह की अवनति का कारण—दसवीं शताब्दी तक अन्तर्जातीय विवाह का प्रचलन था परन्तु इसके बाद धीरे - धीरे इस प्रथा का ह्रास होने लगा। दशवीं शताब्दी के पूर्व द्विजातियों की सांस्कृतिक एकता समान थी। सभी द्विजाति उपनयन संस्कार करते थे, सन्ध्या - पूजन करते थे तथा शास्त्र- विहित विविध - विधानों को मानते थे। द्विजाति के सदस्य वेद का पठन - पाठन करते हुए अपने जीवन को धर्म के अनुसार व्यतीत करते थे। परन्तु इसके पश्चात् समय में महान् परिवर्तन हुआ। समाज में अत्यधिक पवित्रता, शुद्धता तथा कट्टरता के भावों का प्रवेश होने लगा। ब्राह्मणों ने यज्ञ यागादि को छोड़ने के साथ ही पशु - हिंसा का भी परित्याग कर दिया। द्विकाल सन्ध्या के स्थान में अब त्रिकाल सन्ध्या तथा स्नान करने का विधान हो गया। नवीन व्रतों तथा उपवासों को करने पर विशेष बल दिया जाने लगा। इस प्रकार ब्राह्मण - समाज ने

---

१. चावहाणकुलमौलिमालिया; राजशेखरकवीन्द्रगेहिनी। कर्पूर-मञ्जरी १।२

२. तयोस्तु सोऽभूत् राजेन्द्रपुत्री विप्रेन्द्रपुत्रयोः।
संगमोऽन्योन्यशोभायै; विद्या विनययोरिव॥ २५।१७१

त्याग तपस्या तथा पवित्रता के नये आदर्श को यथा सम्भव अपनाया । परन्तु अन्य जातियां इन नियमों का पालन करने में असमर्थ थीं। वीर-प्रकृति, संग्राम-प्रिय क्षत्रिय लोग पशु-हिंसा का परित्याग भला कैसे कर सकते थे? वैश्यों के लिये वेद-पठन तथा व्रतादि का पालन कठिन मालूम होने लगा। अलवेरुनी के यात्रा विवरण से ज्ञात होता है कि वैश्यों ने दसवीं शताब्दी के पहिले से ही वेदों का अध्ययन करना छोड़ दिया था। यद्यपि क्षत्रियों में से कुछ लोग वेद का अध्ययन अभी भी करते थे परन्तु उनका विवाह, वैदिक मन्त्रों से न होकर पौराणिक विधि-विधान तथा नियमों के अनुसार होने लगा था। ब्राह्मणों ने पवित्रता के विचार से आमिष भोजन छोड़ दिया था परन्तु क्षत्रियों तथा वैश्यों में यह प्रथा प्रचलित थी। इस प्रकार द्विजातियों में महान् सांस्कृतिक अन्तर पड़ने लगा था। ऐसी दशा में एक जाति का दूसरी जाति में विवाह होना संभव नहीं था। धीरे-धीरे ब्राह्मणों ने अपनी सांस्कृतिक उच्चता के कारण अब्राह्मणों से विवाह करना बन्द कर दिया। बाद में इस नियम का पालन अन्य जातियाँ भी करने लगीं और कुछ समय के अनन्तर अनुलोम विवाह—जो शास्त्रानुमोदित थे—की भी प्रथा नष्ट हो गयी।

<u>वर्तमान अवस्था</u>—आधुनिक काल में भी अन्तर्जातीय विवाह—प्रधानतया प्रतिलोम विवाह—समाज में बुरी दृष्टि से देखा जाता है। साधारणतया लोग ऐसा विवाह करने में लोक-लज्जा से डरते हैं। परन्तु लोगों के विचारों में अब शनैः-शनैः परिवर्तन हो रहा है और देश के राजनैतिक नेता इसका मार्ग व्यावहारिक रूप में दिखला रहे हैं। पाश्चात्य सभ्यता में दीक्षित कुछ लोग अनुलोम तथा प्रतिलोम दोनों प्रकार का विवाह करने लगे हैं। 'स्पेशल मैरेज एक्ट' (१८७२)—जिसमें १९२३ के एक्ट ३० के अनुसार संशोधन हुआ है—के अनुसार अनुलोम तथा प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाह कानून से वैध (जायज़) हैं। परन्तु

इस एक्ट के नियमानुसार ऐसे विवाहों की रजिष्ट्री करानी आवश्यक होती है। यदि रजिष्ट्री नहीं कराई जाती और हिन्दू-कानून के अनुसार विवाह होता है तो प्रतिलोम विवाह समस्त भारत में अवैध (नाजायज़) समझा जाता है। अनुलोम विवाह को अनेक हाई-कोर्ट जायज़ मानते हैं परन्तु इलाहाबाद हाई-कोर्ट अनुलोम विवाह को भी अवैध (नाजायज़) मानता है।

असवर्ण विवाह का औचित्य ?—प्राचीन परम्परा के अभिमानी धार्मिक दृष्टि से असवर्ण विवाह को दूषित बतलाते हैं तथा इसका निषेध करते हैं परन्तु धार्मिक दृष्टि को दूर रख कर यदि वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो असवर्ण-विवाह करने में कोई हानि नहीं दिखाई देती। प्राणि विज्ञान के विद्वानों का मत है कि मनुष्य के रुधिर में जो कीटाणु रहते हैं यदि उनका संयोग उसी जाति के कीटाणुओं से होता है तो उससे उत्पन्न सन्तान बलशाली नहीं होती। परन्तु विभिन्न जाति के कीटाणुओं के सम्बन्ध से उत्पन्न सन्तति परम शक्तिशाली होती है। इसलिये वैज्ञानिक दृष्टि से असवर्ण विवाह को निन्दित तथा हेय नहीं समझना चाहिये। यदि वर और कन्या दोनों पक्ष वालों की सांस्कृतिक एकता समान हो तो विभिन्न वर्ण का होने पर भी उनके विवाह में कुछ हानि नहीं है। ऐसे विवाहों को शास्त्र-सम्मत स्वीकार करना चाहिये। गृह्य-सूत्रकारों तथा स्मृतिकारों ने असवर्ण विवाह की जो आज्ञा प्रदान की थी उसका भी अभिप्राय यही था। आजकल जो असवर्ण विवाह हो रहे हैं उनको कोई भी विचारवान् पुरुष बुरा नहीं कह सकता। परन्तु ऐसा विवाह तभी करना चाहिये जब अपनी जाति में समान संस्कृति वाला कुलीन वर या कन्या उपलब्ध न हो।

—:※:—

(४) वृद्ध–विवाह

वृद्ध - विवाह की प्रथा—प्राचीन भारत में वृद्ध - विवाह की प्रथा का एक दो अपवादों को छोड़कर—प्रायः अभाव पाया जाता है। शतपथ ब्राह्मण (४।१।५) में एक कथा मिलती है जिसे पता चलता है कि अत्यन्त जीर्ण, शीर्ण तथा बूढ़े च्यवन ऋषि ने शर्याति राजा की लड़की सुकन्या से विवाह किया था। सम्भवतः ये वही ऋषि हैं जिनको जवान बनाने के लिये वैद्यों ने 'च्यवनप्राश' नामक औषधि का आविष्कार किया था। यह औषधि आज भी उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है। राजा शान्तनु ने जब धीवर की कन्या से विवाह किया तब उनकी भी अवस्था सम्भवतः वृद्ध हो चली थी क्योंकि भीष्म—जो उनके लड़के थे—प्रौढ़ थे। इनके अतिरिक्त वृद्ध - विवाह की प्रथा का कहीं पता नहीं चलता। सम्भवतः गृहस्थाश्रम समाप्त हो जाने के बाद लोग विवाह करना उचित नहीं समझते थे। यदि इस प्रथा का कुछ भी प्रचार होता तो स्मृतिकारों ने इसका कट्टर विरोध अवश्य किया होता।

इस समय हिन्दू समाज में वृद्ध विवाह की प्रथा अवश्य विद्यमान है परन्तु इसका प्रचार बहुत कम है। फिर भी विवाह के 'सीजन' में कोई न कोई "गलित नखदन्त" वृद्ध बाबा अपना पोपला सा मुँह लिये, माथे पर मौर बाँधे, किसी दुधमुँही बच्ची से विवाह करने के लिये जाते हुये, पालकी में बैठे दिखाई पड़ ही जाते हैं। इस प्रथा का समाज पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ रहा है। इससे बाल - विधवाओं की संख्या बढ़ती जा रही है। इसके फल स्वरूप समाज के सदाचार में क्रमशः अवनति हो रही है। यदि इस विषय में हमारा समाज अपने प्राचीन आदर्श का अनुसरण करें कितना अच्छा हो।

—o—

८—सती-प्रथा

सती प्रथा के आविर्भाव का कारण—प्राचीन काल में अनेक देशों में यह विश्वास बद्धमूल था कि मृत व्यक्ति को दूसरे लोक में भी उन सभी वस्तुओं की वैसी ही आवश्यकता पड़ती है जैसी इस लोक में। इसलिये मृतात्मा के निकट सम्बन्धी या प्रियजन यह अपना परम कर्तव्य समझते थे कि प्रेत आत्मा की उसके सुख के लिये समस्त सामग्री प्रदान की जाय। अतः उसके भोजन करने के लिये अन्न, पहिनने के लिये कपड़ा और आभूषण, चढ़ने के लिपे सवारी, सेवा करने के लिये नौकर आदि उसके साथ भेजना आवश्यक समझा जाता था। पुरुष की सभी वस्तुओं में उसकी स्त्री अत्यन्त प्रिय समझी जाती थी। अतः मृत आत्मा की काम-वासना की तृप्ति के लिये तथा उसे सुख-शान्ति प्रदान करने के लिये उसकी प्रियतमा पत्नी का उसके साथ अनुगमन करना स्वाभाविक ही था। इसलिये इसी विश्वास के अनुसार अतीत एवं प्राचीन काल में अन्य वस्तुओं के साथ ही उसकी स्त्री भी पति की चिता पर जला दी जाती थी अथवा उसके साथ ही जमीन में जीवित गाड़ दी जाती थी। इस प्रकार सम्भवतः सती की प्रथा का आविर्भाव हुआ।

हिन्दू-समाज में आज भी यह धारणा दृढ़ रूप से बद्धमूल है कि पितरों को परलोक में अन्न तथा जल की आवश्यकता पड़ती है। इसीलिये पितृ-पक्ष में उनकी तृप्ति के लिये "पितरः तृप्यन्ताम्" कह कर उन्हें जलांजलि दी जाती है तथा उनकी मृत्यु की तिथि के दिन ब्राह्मण भोजन कराया जाता है। परन्तु उपर्युक्त धारणा के कारण ही हिन्दू-समाज में सती की प्रथा का प्रचलन हुआ यह कहना कठिन है। लेखक के विचार

के अनुसार हमारी उच्च धार्मिक - भावना तथा पति - पत्नी की आध्यात्मिक एकता को ध्यान में रखकर ही इस प्रथा का प्रारम्भ हुआ होगा। भारतीय समाज में वैधव्य एक अभिशाप समझा जाता है। अतः उसकी समाप्ति वाञ्छनीय समझी जाती थी। स्त्रियों को पति के साथ सती होने के अतिरिक्त अन्य पवित्र अवसर कब मिल सकता था? हिन्दू विधवा पति के अभाव में अपने अपमानित तथा घृणित जीवन को व्यतीत करने की अपेक्षा प्राणत्याग करना अधिक श्रेयस्कर समझती थी। अपने प्रियतम के वियोग में शेष जीवन को बिताने में अपने को असमर्थ पाकर वह पति के साथ चिता में जल जाती थी। इन्हीं सब उपर्युक्त कारणों से हिन्दू-समाज में सती की प्रथा का प्रचलित होना ज्ञात होता है।

युद्ध - प्रिय तथा लड़ाकू जातियों में इस प्रथा के प्रचार का अनुमान सहज ही में लगाया जा सकता है। ये जातियाँ अपनी स्त्रियों की मान-रक्षा का बड़ा ध्यान रखती थी। पति की मृत्यु के बाद उसकी स्त्री स्वैरिणी बन कर व्यभिचार करें इसकी अपेक्षा वे उन्हें मार डालना ही अच्छा समझती थीं। दूसरा कारण यह भी था—कि उन्हें यह विश्वास था कि मृतात्मा को परलोक में समस्त वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है। यदि उसकी प्रिय वस्तुओं को प्रदान न किया जायेगा तो मृत की प्रेतात्मा सदा कष्ट को प्राप्त करेगी। अतः यह उचित समझा जाता था कि मृत-व्यक्ति की समस्त प्रिय वस्तुओं के साथ उसकी स्त्री भी उसके साथ जला दी जाय।

<u>यूरोपीय देशों में सती की प्रथा</u>—भारत के समान ही यूरोप के अन्य देशों में भी सती की प्रथा विद्यमान थी। यह प्रथा गाल्स, गाथ्स,

नारवेजियन, केल्ट, स्लाव तथा थ्रेशियन लोगों में अत्यन्त प्रचलित थी। सोदियन लोगों में भी इसका प्रचुर प्रचार था। चीन देश में यदि कोई स्त्री अपने पति के साथ स्वर्ग जाने के लिये अपना प्राण-त्याग कर देती थी तो उसका शव सन्मानार्थ जलूस में निकाला जाता था[१]। इससे ज्ञात होता है कि यह प्रथा केवल भारत में ही सीमित नहीं थी बल्कि इसकी सत्ता अन्य देशों में भी विद्यमान थी[२]।

वेदों में सती प्रथा का अभाव—सम्भवतः इण्डो-यूरोपियन काल में सती प्रथा का प्रचार था। परन्तु जब आर्य लोग भारत में आये उस समय इस प्रथा का नितान्त अभाव था। अवेस्ता में इस प्रथा का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। वेदों के अध्ययन से भी कहीं इस प्रथा का पता नहीं चलता। ऋग्वेद के मृत्यु-सूक्त (Funeral hymns) में भी इसका वर्णन प्राप्त नहीं होता। यदि यह प्रथा ऋग्वेद के समय में प्रचलित होती तो इस सूक्त में अवश्य ही इसका उल्लेख हुआ होता। लार्ड विलियम बैंण्टिङ् के समय में जब सती प्रथा के निरोध के लिये बड़ा वाद-विवाद चल रहा था उस समय कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद के एक सूक्त में सती-प्रथा के उल्लेख का वर्णन करते हुये इसे वैदिक कालीन

---

१. टानी—कथा सरित्सागर भाग ४।

२. पाश्चात्यों में इस प्रथा के विशेष विवरण के लिये देखिये—

(क) डा० विन्टरनित्स - दि फ्राऊ, पृष्ठ ५६, ८२—८३।

(ख) डा० वेस्टरमार्क—ओरिजिन एण्ड डेभेलपमेण्ट आफ मारल आइडिआज—पृष्ठ ४७२—७६।

प्रथा सिद्ध करने का प्रयत्न किया था१। परन्तु उनका यह अभिमत अर्थं तभी सिद्ध हो सकता है जब इस मन्त्र के अन्तिम शब्द 'अग्रे' के स्थान पर 'अग्ने' कर दिया जाय। परन्तु इस मन्त्र के अर्थ के ऊपर विचार करने से पता चलता है कि इस मन्त्र में उन स्त्रियों का उल्लेख मिलता है जो अपने पति के शव को सुगन्धित द्रव्यों से सुशोभित करने के लिये (चिता जलाने के पूर्व) आती थीं। इस मन्त्र में पति की चिता पर उसकी स्त्री के द्वारा जल कर मरने का कहीं भी उल्लेख नहीं पाया जाता।

अथर्ववेद के एक मन्त्र२ से पता चलता है कि उस समय में इण्डो-यूरोपियन काल में, प्रचलित सती प्रथा का अवशेष विद्यमान था। तत्कालीन प्रचलित प्रथा के अनुसार पति की चिता पर उसकी स्त्री को चढ़ना पड़ता था। फिर वहाँ से उतर आने के लिये उससे कहा जाता था और इसके बाद यह प्रार्थना की जाती थी कि वह अपने पुत्रों तथा धन धान्य

---

१. ऋग्वेद के सूक्त का मन्त्र यह है।

इमा नारीरविधवाः सपत्नी रांजनेन सर्पिषा संविशन्तु।
अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्नाः आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे॥

राजा राधाकान्त देव ने तैत्तिरीय संहिता की औख्य शाखा के निम्नांकित दो मन्त्रों के आधार पर सती को वैदिक प्रथा बतलाया था। परन्तु यह कहना व्यर्थ ही है कि इन मन्त्रों की प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं है।

"अग्ने व्रतानां व्रतपतिरसि पत्यानुगमव्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इह त्वा अग्ने नमसा विधेम सुवर्गस्य लोकस्य समेत्यै। जुषाणो अद्य हविषा जातवेदो विशानि त्वा सत्वतो नय मा पत्युरग्रे"।

२. इयं नारी पतिर्लोकं वृणाना, निपद्यते उप त्वा मर्त्य प्रेतम्।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धत्त॥ १८।३।१

से युक्त रहती हुयी आनन्द से जीवन बितावे। इससे ज्ञात होता है वैदिक काल में सती प्रथा का ह्रास होने लगा था१।

गृह्यसूत्रों में अभाव—गृह्यसूत्रों (६०० ई० पू० से ३०० ई० पू०) में भी सती-प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता। धर्म सूत्रों तथा गृह्य सूत्रों में विभिन्न प्रकार के अनेक संस्कारों तथा विधि-विधानों का वर्णन पाया है। गृह्यसूत्रों में विवाह, मरण, श्राद्ध आदि संस्कारों का बड़े विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है परन्तु उनमें कहीं भी पति की मृत्यु के पश्चात् स्त्री को उसकी चिता पर सती होने का विधान नहीं पाया जाता। धर्म सूत्रों में विधवा स्त्री के अनेक कठोर कर्तव्य का वर्णन मिलता है परन्तु सती होने का उल्लेख कहीं भी नहीं प्राप्त होता। आश्वलायन ने लिखा है कि पति की मृत्यु के बाद उसकी चिता से उसकी पत्नी को मृत व्यक्ति का छोटा भाई या उसका शिष्य अथवा पुराना विश्वस्त नौकर उसे घर लौटा लावे२। यदि गृह्यसूत्रों के समय में यह प्रथा होती तो मृत्यु संस्कार के सम्बन्ध में वे इसका उल्लेख अवश्य करते।

बौद्धग्रन्थ भी सती प्रथा से अपरिचित जान पड़ते हैं। यदि बुद्ध के समय में यह प्रथा प्रचलित होती तो पशुओं की हिंसा के विरुद्ध आन्दोलन करने वाले शाक्यमुनि इस स्त्री-हिंसा के विरुद्ध भी अवश्य ही प्रचण्ड विद्रोह करते। मैगस्थनीज़ तथा कौटिल्य ने भी इस प्रथा का कहीं

---

१. तैत्तरीय आरंण्यक से पता चलता है कि पति की चिता से उसकी स्त्री उसके हाथ से धनुष, सोना, रत्न आदि लेकर घर लौट आती थी तथा उस विधवा के लिए सुख पूर्वक रहने की प्रार्थना की जाती थी।

"धनुर्हस्तादाददाना मृतस्य, श्रियै ब्रह्मणे तेजसे बलाय।
अत्रैव त्वमिह वयं सुशेवा विश्वाः स्पृधोऽभिजातीर्जयेम॥ ६।४

२. तामुत्थापयेद्देवरः, पतिस्थानीयोऽन्तेवासी, जरद्दासो वा 'उदीर्ष्व नारि अभिजीवलोकम्' इति—आ० गृ० सू० ४।२।१८

उल्लेख नहीं किया है। मनु तथा याज्ञवल्क्य ने जहां विधवा के अन्य कर्तव्यों का उल्लेख किया है वहाँ उसके सती होने का वर्णन नहीं पाया जाता। इन सब प्रमाणों से ज्ञात होता है कि ईसा के जन्म के पूर्व तक भारत में सती प्रथा अज्ञात थी तथा इसका प्रचार नहीं था।

महाभारत में सती प्रथा का उल्लेख—स्मृतिकार विष्णु के अपवाद के अतिरिक्त किसी भी धर्म या गृह्यसूत्र में सती प्रथा का उल्लेख नहीं पाया जाता। विष्णु - धर्म - सूत्र में लिखा है कि पति की मृत्यु के पश्चात् स्त्री को चाहिये कि वह सदाचार पूर्वक रहें अथवा उसके साथ चिता पर जल मरें१। महाभारत में सती होने का उल्लेख कई स्थानों में मिलता है जिससे पता चलता है कि उस समय में यह प्रथा प्रचलित हो चली थी। इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि जब पाण्डु की स्त्री माद्री अपने पति की मृत्यु के पश्चात् उसके शव के साथ सती होने को तैयार थी तब अनेक ऋषियों ने उसे इस कार्य को करने से निषेध किया परन्तु वह अपने पूर्व निश्चय से विचलित नहीं हुई। उसने कहा कि मैं सती धर्म का अवश्य पालन करूँगी क्योंकि मैं अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रख सकती तथा पुत्रों के प्रति समान व्यवहार भी नहीं कर सकती२।

---

१. भर्तरि प्रेते ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा। वि० ध० सू० २५।१४
या० स्मृ० १।८६ की मिताक्षरा टीका में उद्धृत।

२. (क) अहमेवानुयास्यामि भर्तारमपलायिनम्।
न हि तृप्ताऽस्मि कामानां ज्येष्ठा मामनुमन्यताम्॥
वर्तेयं न समां वृत्ति, जात्वहं न सुतेषु ते। म० भा० १।१३८।७१—२

(ख) तत्रैनं चिताग्निस्थं माद्री समन्वारुरोह। वही १।९५।६५

(ग) राज्ञः शरीरेण समं ममापीदं कलेवरम्।
दग्धव्यं सुप्रतिच्छन्नमेतदार्ये प्रियं कुरु॥ वही १।१२५

यह ध्यान में रखना चाहिये कि माद्री ने सती होने का जो हेतु बतलाया है उसमें कोई धार्मिक कारण नहीं दिखाई पड़ता। उसने यह कभी नहीं कहा कि मैं पति के साथ इसलिये सती हो रही हूं क्योंकि धर्मशास्त्रों ने ऐसा ही आदेश दिया है। इससे ज्ञात होता है उस समय में भी इस प्रथा के लिये कोई धार्मिक विधान नहीं था जैसा कि पीछे की स्मृतियों में पाया जाता है। महाभारत के विराट पर्व में सैरन्ध्री का कीचक के साथ सती होने का उल्लेख मिलता है१। मौसल पर्व से पता चलता है कि वासुदेव की चार स्त्रियाँ—देवकी, भद्रा, रोहिणी और मदिरा—उनके साथ ही जल मरी२ तथा कृष्ण की रुक्मिणी, गान्धारी, शैव्या, हैमवती तथा जाम्ववती आदि स्त्रियाँ उनके साथ ही चिता पर भस्म हो गयी और सत्यभामा आदि अन्य स्त्रियाँ जंगल में तपस्या करने के लिये चली गयी३। शान्ति पर्व से एक कपोती (कबूतर की स्त्री) का अपने पति की मृत्यु पर आग में प्रवेश करने का वर्णन मिलता

---

१. सैरन्ध्र्याः सूतपुत्रेण सह दाहं विशां पतिः।
म० भा० (वि० प०) २३।८

२. प्रकीर्णमूर्धजाः सर्वाः विमुक्ताभरणस्रजः।
उरांसि पाणिभिघ्नन्त्यो व्यलपन् करुणं स्त्रियः॥
तं देवकी च भद्रा च; रोहिणी, मदिरा तथा।
अन्वारोहन्त च तदा भर्तारं योषितां वराः॥
म० भा० (मौ० प०) ७।१७—१८

३. रुक्मिणी त्वथ गान्धारी; शैव्या, हैमवतीत्यपि।
देवी जाम्ववती चैव विविशुर्जातवेदसम्॥
सत्यभामा तथैवान्याः देव्यः कृष्णस्य संमताः।
वनं प्रविविशे राजंस्तापस्ये कृतनिश्चयाः॥ म० भा० ७।७३—७४

है१। विष्णु पुराण में लिखा है कि कृष्ण की मृत्यु के पश्चात् उनको आठ स्त्रियों में रुक्मिणी आदि जल कर सती हो गयी२। इससे पता चलता है यह प्रथा केवल क्षत्रियों में ही विशेष रूप से प्रचलित थी क्योंकि महाभारत में राजकुलों में ही इसका उल्लेख मिलता है।

संस्कृत ग्रंथों में उल्लेख—महाभारत के अतिरिक्त संस्कृत के नाटकों तथा काव्यों में भी इस प्रथा का उल्लेख पाया जाता है। वात्स्यायन, भास, कालिदास, शूद्रक तथा बाणभट्ट इस प्रथा से परिचित थे। वात्स्यायन ने लिखा है कि वेश्यायें अपने प्रेमी पुरुषों के सामने यह शपथ लेकर कि मैं तुम्हारे मरने पर सती हो जाऊँगी, इनके ऊपर अपना अधिकार जमा लेती हैं३। भास के 'उरुभंग' तथा 'दूतघटोत्कच' नामक नाटकों से ज्ञात होता है कि महाकवि भास महाभारत के इस कथन से सहमत नहीं थे कि उत्तरा, दु:शला और पौरवी अपने पतियों की चिता पर उनके साथ सती हो गयीं। कालिदास ने कुमारसंभव के चौथे सर्ग में शिव के द्वारा काम के भस्म कर दिये जाने पर रति के द्वारा सती होने के निश्चय का उल्लेख किया है४। परन्तु अन्त में आकाशवाणी होने से वह अपने विचार से

---

१. पतिव्रता संप्रदीप्तं प्रविवेश हुताशनम्।
ततश्चित्राङ्गदधरं भर्तारं सान्वपश्यत।
ततः स्वर्गं गतः पक्षी भार्यया सह संगतः॥
म० भा० (शा० प०) १४८।१०, १२

२. अष्टौ महिष्यः कथिताः रुक्मिणीप्रमुखास्तु याः।
उपगुह्य हरेर्देहं विविशुस्ता हुताशनम्॥ वि० पु० ५।३८।२

३. काम सूत्र ६।२।५३

४. परलोकनवप्रवासिनः, प्रतिपत्स्ये पदवीमहं तव।
विधिना जन एष वंचितस्त्वदधीनं खलु देहिनां सुखम्॥
कुमारसंभव, सर्ग ४।१०

विरत हो जाती है। शूद्रक के मृच्छकटिक में चारुदत्त की स्त्री धूता का अपने पति के प्राणदण्ड का समाचार सुनने के पूर्व ही सती होने का वर्णन पाया जाता है१। कल्हण ने दुष्टा तथा व्यभिचारिणी रानी जयमती के सती होने पर आश्चर्य प्रकट किया है२। काश्मीर में यह प्रथा इतनी दृढ़ मूल हो गयी थी कि मृत राजाओं की परिणीता स्त्रियों के साथ ही उनकी रक्षिता स्त्रियाँ भी सती हो जाती थीं।

ब्राह्मणी के सती होने का निषेध—सती प्रथा का प्रचार सर्व प्रथम सम्भवतः क्षत्रियों में ही हुआ। शास्त्रों में ब्राह्मणी विधवा के सती होने का निषेध पाया जाता है। अपरार्क ने पैठीनसी, अङ्गिरा तथा व्याघ्रपात् आदि आचार्यों के वाक्यों का उद्धरण देकर यह स्पष्ट बतलाया है कि ब्राह्मणी विधवा को सती नहीं होना चाहिये। पैठीनसी ने तार स्वर से यह घोषित किया है कि ब्राह्मणी के लिये अपने पति की मृत्यु के पश्चात् सती होना उचित नहीं है। यह केवल इतर वर्णों की स्त्रियों का परम धर्म है, परन्तु ब्राह्मणी का नहीं३। अङ्गिरा का वचन है कि ब्राह्मण जाति की जो स्त्री अपने मृत पति का अनुगमन करती है वह अपनी आत्महत्या से स्वयं तथा अपने पति के स्वर्ग की प्राप्ति में बाधक होती है४। व्याघ्रपात्

---

१. मृच्छकटिक अंक १०

२. दौश्शील्यमप्याचरन्त्यो, घातयन्त्योऽपि वल्लभान् ।
हेलया प्रविशन्त्यग्नि न स्त्रीषु प्रत्ययः क्वचित् ॥ राज तरङ्गिणी ८।३६६ ।

३. मृतानुगमनं नास्ति, ब्राह्मण्याः ब्रह्मशासनात् ।
इतरेषां तु वर्णानां, स्त्रीधर्मोऽयं परः स्मृतः ॥ पैठीनसिः

४. या स्त्री ब्राह्मणजातीया मृतं पतिमनुव्रजेत् ।
सा स्वर्गमात्मघातेन नात्मानं न पतिं नयेत् ॥ अङ्गिराः

का कहना है कि शोक से मोहित ब्राह्मणी को पति के साथ सती नहीं होना चाहिये। इस प्रकार आत्मघात करने वाली स्त्री प्रव्रज्या गति को प्राप्त करती है१। परन्तु निबन्धकारों ने लिखा है कि ब्राह्मणी के सती होने का निषेध पति की चिता से अन्यत्र स्थान पर ही लागू होता है। अर्थात् यदि किसी ब्राह्मणी का पति विदेश में मर जाय तो उसको चाहिये कि वह पति की मृत्यु का समाचार सुनकर सती न हो। सम्भवतः इन निबन्धकारों का यह स्पष्टीकरण उशनस् के इस कथन के ऊपर आश्रित है जिसमें उन्होंने यह कहा है कि ब्राह्मणी को अपने पति की चिता से पृथक् चिता बना कर सती नहीं होना चाहिये२।

महाभारत से पता चलता है कि कौरवों के ब्राह्मण सेनापति द्रोण की स्त्री कृपी उनकी मृत्यु के पश्चात् विलुलित केशों से युक्त होकर आयी परन्तु उसके सती होने का उल्लेख नहीं मिलता३। वेदव्यास स्मृति में लिखा है कि ब्राह्मणी विधवा को चाहिये कि मृत पति के शव को लेकर अग्नि में प्रवेश कर जाय। परन्तु यदि वह ऐसा न कर सके तो अपने

---

१. न म्रियेत समं भर्त्रा ब्राह्मणी शोकमोहिता।
प्रव्रज्यागतिमाप्नोति मरणादात्मघातिनी॥ व्याघ्रपात्
ये तीनों श्लोक अपरार्क पृ० ११२ में उद्धृत हैं।

२. पृथक् चितिं समारुह्य न विप्रा गन्तुमर्हति।
अन्यासां चैव नारीणां स्त्रीधर्मोऽयं परः स्मृतः॥
या० स्मृ० १।८६ को मिताक्षरा टीका में उद्धृत।

३. तां पश्य रुदतीमार्तां मुक्तकेशीमधोमुखीम्।
हतं पतिमुपासन्तीं द्रोणं शस्त्रभृतां वरम्॥
बाणैर्भिन्नतनुत्राणं धृष्टद्युम्नेन केशव।
उपास्ते वै मृधे द्रोणं जटिला ब्रह्मचारिणी॥ म० भा० (स्त्री पर्व) ३२

बालों को मुड़वा कर तपस्या से शरीर को सुखा दे[१]। रामायण में एक ब्रह्मर्षि को स्त्री तथा वेदवती की माता के सती होने की चर्चा पाई जाती है[२]। डा० अल्टेकर का मत है कि यह अंश रामायण में प्रक्षिप्त है तथा इसमें ऐतिहासिक तथ्य का अभाव है।

ब्राह्मण जाति श्रेष्ठ तथा सदा से धर्म रक्षक समझी जाती रही है तथा आज भी है। धर्म की रक्षा ही इस जाति का प्राण है। ब्राह्मणी विधवा के सती होने में निषेध करने का कारण सम्भवतः यही जान पड़ता है कि शास्त्रकारों को विश्वास था कि ब्राह्मणी तपस्या पूर्वक अपने जीवन को बितायेगी। इस प्रकार वह अपने अत्यन्त पवित्र जीवन तथा अलौकिक सदाचार के द्वारा अन्य स्त्रियों के लिये आदर्श उपस्थित करेगी।

सहमरण तथा अनुमरण—प्राचीन काल में सती होने के दो प्रकार थे। पहिले का नाम सहमरण था तथा दूसरे का अनुमरण। जब कोई स्त्री पति की मृत्यु के पश्चात् उसके शव के साथ ही जल मरती थी उसे 'सहमरण' (पति के साथ मरना) कहते थे। इसकी दूसरी संज्ञा 'सहगमन' भी थी। पति की चिता पर चढ़ कर मरने के कारण इसे 'अन्वारोहण' भी कहते थे। परन्तु पति के परदेश में मर जाने पर, उसकी

---

१. मृतं भर्तारमादाय ब्राह्मणीमग्निमाविशेत्।
जीवन्ती चेत्त्यक्तकेशा तपसा शोषयेत् वपुः ॥ वे० व्या० स्मृ० २।५३

२. ततो मे जननी दीना तच्छरीरं पितुर्मम।
परिष्वज्य महाभागा! प्रविष्टा हव्यवाहनम् ॥
रामायण (उ० का०) १७।१४

अपरार्क ने (पृ० ११२) रामायण की इस घटना का उल्लेख करते हुये लिखा है कि "अतएव रामायणादौ ब्राह्मण्यादीनां स्वभर्तृशरीरालिङ्गनपूर्वकं स्वशरीरदहनमुपाख्यायते" ॥

मृत्यु का समाचार सुनकर, जब उसकी स्त्री उसकी अस्थि अथवा पादुका के साथ अथवा पति के चिन्हों के अभाव में स्वयं ही सती हो जाती थी उसे 'अनुमरण' (अनु = पश्चात्, मरण = मर जाना) कहते थे। इन दोनों प्रकार के सती होने का उल्लेख संस्कृत ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। महाभारत में माद्री का सती होना 'सहमरण' का उदाहरण है तथा कालिदास के कुमारसम्भव में शिव के द्वारा काम के भस्म कर दिये जाने पर रति का सती होने का निश्चय 'अनुमरण' का दृष्टान्त है। ब्रह्मपुराण में लिखा है कि देशान्तर में यदि पति की मृत्यु हो जाय तो उसकी साध्वी स्त्री को चाहिये कि पति की पादुका को अपनी छाती पर रखकर अग्नि में प्रवेश कर जाँय१। गाथा सप्तशती में 'अनुमरण' के लिये सुसज्जित किसी स्त्री का उल्लेख पाया जाता है२। कामसूत्र (६।३।५३) से 'अनुमरण' का पता चलता है। हर्ष-चरित में कुमुदिनी का वर्णन करते हुये बाण ने लिखा है कि वह इतनी सुन्दर तथा प्रसन्न जान पड़ती थी जैसे अनुमरण के लिये उद्यत, अलंकृत तथा फूलों की माला से सुसज्जित स्त्री३। इस प्रकार 'सहमरण' का पार्थक्य स्पष्ट है।

सती प्रथा के कुछ ऐतिहासिक उदाहरण—जिस प्रकार महाभारत, स्मृतियों तथा संस्कृत काव्यों और नाटकों में सती प्रथा का वर्णन मिलता है उसी प्रकार से अनेक शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों से सती प्रथा के ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। सती प्रथा का सम्भवतः सबसे पहला

---

१. देशान्तरमृते तस्मिन्साध्वी तत्पादुकाद्वयम्।
निधायोरसि संशुद्धा प्रविशेज्जातवेदसम्॥
अपरार्क पृ० १११ में उद्धृत।

२. हाल—गाथा सप्तशती ७।३३

३. "दन्तामलपत्रप्रसाधितकर्णिकासु, केसरमालाकल्पितमुण्डमालिकासु, अनुमर्तुमिवोद्यतासु, प्रहसितमुखीषु, कुमुदलक्ष्मीषु। ह० च०, उच्छ्वास ४.

उल्लेख गुप्त सम्वत् १६१ (५१० ई०) के एक शिलालेख में पाया जाता है[१]। गोपराज के एरण के स्तम्भ - लेख से पता चलता है कि रणक्षेत्र में उसकी मृत्यु होने के पश्चात् उसकी स्त्री चिता में जल कर भस्म हो गयी[२]। चेदि वंश के सुप्रसिद्ध राजा गांगेय देव के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि प्रयाग में उसने वटवृक्ष के नीचे अपनी डेढ़ सौ स्त्रियों के साथ मुक्ति को प्राप्त किया[३]। धर्मदेव की विधवा स्त्री राज्यवती अपने पुत्र महादेव से कहती है कि अब तुम राज्य भार को धारण करो क्योंकि अब मैं अपने पति का अनुगमन करूँगी[४]। राजेन्द्रदेव चोल के बेलातुरु शिलालेख में यह उल्लेख मिलता है कि देकब्ब नामक एक शूद्रा स्त्री अपने पति की मृत्यु का समाचार सुनकर, माता तथा पिता के मना करने पर भी सती हो गयी। उन लोगों ने उसकी स्मृति के रक्षा के लिये एक पाषाण की प्रतिमा खड़ी कर दी[५]। वेशिराज की दो सती स्त्रियों की प्रार्थना पर महामण्डलेश्वर राचमल्ल ने एक मंदिर को कुछ भूमि - दान दिया था[६]।

चेदि सम्वत् ६१६ के एक शिलालेख में तीन रानियों के सती होने का उल्लेख पाया जाता है[७]। शक् सम्वत् १२४६ के तेमर द्वार शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि राजा हरिश्चन्द्र के अमात्य पद पर प्रतिष्ठित

---

१. डा० फ्लीट—गुप्त इन्सक्रिप्शन्स, पृ० ९१।

२. इ० ए० भाग ९, पृ० १६४

३. प्राप्ते प्रयागवटमूलनिवेशबन्धौ;
साधं शतेन गृहिणीभिरमुत्र मुक्तिम्। ए० इ० भाग १२, पृ० २११

४. नेपाल शिलालेख (७०५ ई०)।

५. ए० इ० भाग ६, पृ० २१३।

६. ए० इ० भाग १४, पृ० २६५ ; २६७।

. ए० इ० भाग २०, पृ० १६८।

'आमन' नामक अपने पति की मृत्यु हो जाने पर माणिक्य देवी ने अपने शरीर को उसकी चिता पर जला दिया१। जोधपुर के देवली नामक स्थान में प्राप्त एक शिला लेख में गोहिल राणा की दो स्त्रियों के सती होने का वर्णन मिलता है२। इन उल्लेखों के अतिरिक्त राजस्थान (राजपूताना) में सहस्त्रों सतियों के बुर्ज तथा सती - स्मारक - पाषाण बिखरे हुये उपलब्ध होते हैं जिनके देखने से ज्ञात होता है कि इस देश में सती की प्रथा का कितना अधिक प्रचार था३। जोधपुर के ओसिया तथा गटियल नामक स्थानों में प्राप्त सती - स्मारक - पाषाणों से पता चलता है कि यह प्रथा ९ वीं शताब्दी के पहिले प्रचलित नहीं थी। राजस्थान (राजपूताना) सती प्रथा का केन्द्र था। उत्तरी भारत में सम्भवतः १००० ई० तक इस प्रथा का विशेष प्रचार नहीं था। 'एपिग्राफिका कर्नाटिका' में प्रकाशित कर्नाटक शिलालेखों से ज्ञात होता है कि १००० ई० से १४०० ई० तक अर्थात् इन चार सौ वर्षों में केवल ११ स्त्रियाँ ही सती हुई। इनमें से अधिकांश स्त्रियाँ नायक तथा गौड़ जाति की थीं जो दक्षिण भारत की प्रधान युद्ध-प्रिय तथा वीर जाती है।

राजपूतों में सती की प्रथा—जैसा की पहिले उल्लेख किया जा चुका है संसार के युद्ध - प्रिय तथा लड़ाकू जातियों में ही सती - प्रथा का प्रचार अधिक था। भारत में राजपूत जाति अपनी अलौकिक वीरता तथा प्रबल पराक्रम के कारण सदा प्रसिद्ध रही है। अतः इस जाति में इस

---

१. ए० इ० भाग १०, पृ० ३९। २. ए० इ० भाग २०, पृ० ५८।

३. इस विषय के विस्तृत विवरण के लिये देखिये—
ज० बि० ओ० रि० सो० (भाग २३, पृ० ४३५) की पत्रिका में 'मेमोरियल स्टोन्स' नामक लेख।

का विशेष प्रचार होना स्वाभाविक ही था। १५ वीं तथा १६ वीं शताब्दी तक यह प्रथा राजस्थान (राजपूताना) में दृढ़मूल हो गयी थी। प्रायः सभी क्षत्राणियाँ सती हो होने के अवसर का स्वागत करती थीं। कभी-कभी बन्दी - जन, मन्त्री तथा सम्बन्धी लोग उन्हें इस कार्य से विरत करने के लिये प्रयास भी करते थे परन्तु उन्हें इसमें सफलता नहीं मिलती थी। जब कोई राजा या सरदार मृत्यु को प्राप्त हो जाता था तब उसकी स्त्रियाँ—जो गर्भवती नहीं होती थीं तथा जो राज्यभार को सँभालने के अयोग्य थीं—उसकी शव के साथ ही सती हो जाती थीं। कभी कभी ऐसी सतियों की संख्या इतनी अधिक होती थी जिसे सुनकर अत्यन्त आश्चर्य होता है। सन् १७२४ ई० में जब मारवाड़ के राजा अजित सिंह का निधन हुआ था तब उनकी ६४ स्त्रियाँ उनकी चिता पर चढ़ कर जल मरी थी! जब बूँदी के राजा बुध सिंह डूब कर मर गये थे तब उनकी ८४ स्त्रियाँ सती हो गयी थी[१]!! राजपूतों की इस प्रथा का अनुकरण दक्षिण भारत के मदुरा के नायक राजाओं ने भी किया। जब सन् १६११ ई० तथा १६२० ई० में इस वंश के दो राजाओं की मृत्यु हुई थी तब उनकी क्रमशः ४०० तथा ७०० स्त्रियों ने चिता में अपने शरीर को जला कर भस्म कर दिया था!!! किम्बहुना, सन् १८२९ ई० में सती प्रथा के बन्द हो जाने पर भी राजपूतों में यह प्रथा प्रचलित रही तथा राजपूत - स्त्रियाँ बड़ी प्रसन्नता से अपने पति की चिता पर चढ़ कर सती हो जाती थी।

सन् १८३८ ई० में उदयपुर के महाराणा जीवन सिंह की मृत्यु पर तथा सन् १८४३ ई० में जोधपुर के राजा मान सिंह के निधन पर उनकी अनेक स्त्रियों के सती होने का वर्णन मिलता है। सम्भवतः सती का

---

१. टाड—एनाल्स एण्ड एन्टीक्विटीज आफ राजस्थान, भाग २, पृष्ठ ८३७।

सबसे अन्तिम तथा ऐतिहासिक उदाहरण सन् १८६१ ई० में उपलब्ध होता है जब महाराणा स्वरूप सिंह की मृत्यु पर उनकी एक रानी सती हो गयी थी। परन्तु इस समय इस प्रथा के विरुद्ध वायुमण्डल प्रतिकूल हो चला था। इस राजा की अन्य रानियों ने सती होने से स्पष्ट इन्कार कर दिया था। परन्तु सिसोदिया कुल की प्रतिष्ठा को बचाने के लिये मृत राजा के मन्त्रियों ने किसो प्रकार एक रानी से प्रार्थना करके उसे सती होने के लिये तैयार कर लिया। तब से आज तक कुछ अपवादों को छोड़कर सती होने का कोई प्रसिद्ध ऐतिहासिक उदाहरण नहीं मिलता।

सिक्खों तथा मराठों में सती की प्रथा—सिक्ख तथा मराठे दोनों ही अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध हैं। अतः इनमें इस प्रथा का प्रचार स्वाभाविक ही था। सिक्खों के तीसरे गुरु अमरदास (१५५२—१५७४ ई०) ने सती-प्रथा का तीव्र शब्दों में विरोध किया था। इसलिये सिक्खों ने इस कुत्सित प्रथा का पालन बहुत दिनों तक नहीं किया। परन्तु इस विषय में वे राजपूतों से पीछे कब हटने वाले थे? गुरु के द्वारा निषेध करने पर भी इनमें इस प्रथा का शनैः-शनैः प्रचार होने लगा। जब महाराजा रणजीत सिंह की मृत्यु हुई थी तब उनकी चार रानियाँ और सात रक्षिता स्त्रियाँ जल कर सती हो गयी थीं। उनकी मृत्यु के पश्चात् राजनैतिक अशान्ति तथा अव्यवस्था के कारण अनेक राजा तथा सेनापति लड़ाई में सुरधाम को सिधारे। इन सब राजाओं के साथ इनकी स्त्रियाँ तथा रक्षितायें भी सती हुई थीं। महाराज खड्ग सिंह के साथ तीन स्त्रियाँ, बसन्त सिंह के साथ पाँच स्त्रियाँ, किशोरी सिंह के साथ एगारह स्त्रियाँ, होरासिंह के साथ चौबीस स्त्रियाँ तथा सुचेत सिंह के साथ तीन सौ दस (३१०) स्त्रियाँ जल कर भस्म हो गयी थीं। इस प्रकार राजपूतों का अनुसरण कर सिक्खों में भी यह प्रथा प्रचलित थी[१]।

---

१. डा० ए० एस० अल्टेकर—पोजीशन आफ विमेन।

मराठे राजा अपने को राजपूतों के वंशज समझते थे। अतः वे भला इस प्रभाव से कैसे बंचित रह सकते थे ? परन्तु उनमें सती को प्रथा का उतना अधिक प्रचार नहीं था जितना राजपूतों में पाया जाता था। जब छत्रपति शिवाजी को मृत्यु हुई तब उनकी अनेक रानियों में से केवल एक ही रानी सती हुयी थी। राजाराम के सम्बन्ध में भी ऐसी ही बात पायी जाती है। साहु की मृत्यु के उपरान्त उसकी स्त्री को अपनी सास तारा बाई के द्वारा किये गये राजनैतिक षडयन्त्रों के कारण बलात्कार अग्नि में समाधि लेनी पड़ी थी। मराठों के अन्य राजवंशों में सती प्रथा का बहुत कम उल्लेख पाया जाता है। इससे पता चलता है कि इनमें इस प्रथा का विशेष प्रचार नहीं था। सम्भवतः मराठा राजाओं में सती होने का अन्तिम तथा प्रसिद्ध उदाहरण रमा बाई का है, जो पेशवा माधवराव प्रथम का स्त्री थी तथा जो सन् १७७२ ई० में चिता में जल कर सती हो गयी।

यह प्रथा केवल हिन्दुओं में ही सीमित नहीं थी। इसका प्रभाव क्रमशः जैनियों पर भी पड़ने लगा था। सती प्रथा का धीरे-धीरे इतना अधिक प्रचार हो गया कि जैनी लोग भी इस विषय में हिन्दुओं से पीछे रहना अपना अपमान समझते थे। दक्षिण के एक शिलालेख से पता चलता है कि दो जैन स्त्रियाँ अपने पति को मृत्यु पर सती हो गयी थी[१]। बौद्धों में इस प्रथा का प्रचार नहीं था। सम्भवतः जब यह प्रथा अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई थी उस समय बौद्ध धर्म का इस देश में ह्रास हो गया था। इसीलिये बौद्ध ग्रन्थों में इसका कहीं उल्लेख नहीं पाया जाता।

<u>१६ वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में सतियों के कुछ आँकड़े</u>—सती प्रथा जब राजस्थान, बंगाल तथा अन्य स्थानों में वृद्धि को चरम सीमा पर पहुंची हुयी थी तब सतियों की संख्या का प्रतिशत क्या था यह कहना

---

१. एपिग्रेफिका कर्नाटिका भाग ८

अत्यन्त कठिन है। उस काल के न तो कोई सरकारी आँकड़े ही मिलते हैं और न जनता के द्वारा ही उस संख्या का कहीं उल्लेख पाया जाता है। राजस्थान तथा अन्य स्थानों में सती - स्मारक - पाषाण अवश्य पाये जाते हैं परन्तु उनसे सतियों की प्रतिशत संख्या निकालना नितान्त असम्भव है। केवल उन्हीं सतियों की स्मृति में पाषाण स्थापित किये जाते थे जो धनी परिवार या राज - घराने की होती थीं। परन्तु ऐसी कितनी ही अभागिनी सती स्त्रियाँ होंगी जिनकी स्मृति में पाषाण स्थापित करना तो दूर रहा उन्हें कोई जानता भी नहीं। डा० अल्टेकर ने १३०० ई० से १८०० ई० तक इन ५०० वर्षों में राजस्थान में—जहाँ सती की प्रथा अत्यधिक थी—सतियों की संख्या २५ प्रतिशत निर्धारित की है[१]। परन्तु उनका यह मत केवल अनुमान - गम्य तथा कल्पना प्रसूत है। जब तक कोई ठीक - ठीक आँकड़े हमारे सामने उपस्थित न हों तब तक कोई मत निश्चित रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सौभाग्य से १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के कुछ वर्षों के लिए सरकारी आँकड़े उपलब्ध होते हैं जिनसे सतियों की संख्या का कुछ अनुमान किया जा सकता है। बम्बई तथा मद्रास प्रेसिडेन्सी के १६ वीं सदी के प्रथम २५ वर्षों के सती - सम्बन्धी सरकारी आंकड़ों से पता चलता है कि इन दोनों राज्यों (प्रान्तों) में सतियों की वार्षिक संख्या ५० से अधिक नहीं थी। सन् १८०० ई० से १८१२ ई० तक के पेशवा के पूना दफ्तर के आँकड़ों के अनुसार सतियों की वार्षिक संख्या १२ थी।

---

१. डा० अल्टेकर—दि पोज़ीशन आफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइज़ेशन पृष्ठ १६२।

दक्षिण भारत का तञ्जौर जिला सती प्रथा का केन्द्र समझा जाता था। वहाँ पर सन् १८१७ ई० के पहिले ड़ेढ वर्षों में केवल २४ स्त्रियों के सती होने का पता चलता है, अर्थात् एक वर्ष में १६ स्त्रियाँ सती हुयी थी। इसी समय में मध्य-भारत में साल भर में केवल तीन या चार स्त्रियों के सती होने का प्रमाण मिलता है। यह सम्भव है कि ये आँकड़े अपूर्ण हों क्योंकि जितनी स्त्रियाँ वास्तव में सती होती होंगी उन सबका सरकारी दफ्तरों में अंकित होना संभव नहीं है। फिर भी यदि इस उपर्युक्त संख्या को दुगुनी अथवा तिगुनी भी कर लें तो भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि भारत की विशाल जन संख्या में केवल बहुत थोड़ी स्त्रियाँ ही सती होती थीं।

बङ्गाल प्रान्त की सतियों के कुछ आँकड़े—बङ्गाल प्रान्त में सती प्रथा का प्रचुर प्रचार था। सम्भवतः राजस्थान के पश्चात् बङ्गाल में ही सतियों की संख्या अधिक थी। सौभाग्यवश भूतपूर्व ब्रिटिश सरकार ने सतियों के कुछ आँकड़ों को सुरक्षित कर रक्खा है जिससे उस समय की सतियों की संख्या का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। यहाँ कुछ आँकड़े दिये जाते हैं[१]।

कमिश्नरी (डिविज़न) का नाम	सन् १८२५ ई० से लेकर १८२८ ई० तक की सतियों की संख्या
१—कलकत्ता डिविज़न (हिन्दुओं की प्रधानता)	५०९९
२—ढ़ाका डिविज़न (मुसलिमों की प्रधानता)	६१०
३—मुर्शिदाबाद डिविजन ,, ,,	२६०
४—पटना डिविज़न (हिन्दुओं की प्रधानता)	७०९
५—बरेली डिविज़न ,, ,,	१९३
६—बनारस डिविज़न (सनातनी हिन्दुओं की प्रधानता)	११६५

१. ये सभी आंकड़े एडवर्ड टामसन की 'सती' (लण्डन १९२८) नामक पुस्तक से लिये गये हैं जिसके लिये लेखक अत्यन्त कृतज्ञहै।

ऊपर के इन आँकड़ों पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि बङ्गाल में प्राप्त सतियों की संख्या बम्बई तथा मद्रास प्रान्त में प्राप्त सतियों की संख्या की अपेक्षा बहुत ही अधिक है। यह बात और भी आश्चर्य जनक है कि बनारस डिवीज़न में—जो सदा से सनातन हिन्दू धर्म का केन्द्र रहा है तथा अभी भी है—सतियों की संख्या कलकत्ता डिविज़न की सतियों की संख्या की अपेक्षा अत्यन्त स्वल्प है। बङ्गाल में सती प्रथा के अत्यधिक प्रचार का कारण यह जान पड़ता है कि 'दायभाग' के नियमों के अनुसार पुत्रहीन विधवा स्त्री को भी अपने मृत पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होने का अधिकार प्राप्त है। अतः किसी पुरुष के मर जाने पर उसके निकट सम्बन्धी सदा यही चाहते थे कि उसकी विधवा स्त्री अपनी इच्छा अथवा अनिच्छा से किसी प्रकार भी सती हो जाय जिससे उसकी सम्पत्ति उसके कुटुम्बियों को मिल जाय। इसीलिये बङ्गाल में सती होने के लिये स्त्रियों पर अत्याचार किया जाता था। कलकत्ता डिविज़न में सतियों की वार्षिक संख्या लगभग ३७० थी। उस समय यह डिविज़न जन संख्या में बम्बई प्रान्त के बराबर था। इससे ज्ञात होता है कि सतियों की संख्या बङ्गाल में बम्बई प्रान्त की अपेक्षा लगभग दुगुनी थी। बङ्गाल में सतियों में ब्राह्मण स्त्रियाँ ही अधिक थी। अतः धर्म-शास्त्रकारों के द्वारा ब्राह्मणो के सती होने का निषेध करने पर भी, यह प्रथा इस प्रान्त में जारी रही। यहाँ बङ्गाल प्रान्त की (जिसमें आसाम, बिहार, उड़ीसा तथा यू० पी० का पूर्वी भाग भी सम्मिलित था) सतियों की संख्या के कुछ वार्षिक आँकड़े दिये जाते हैं जिससे पता चलता है किस प्रकार इस प्रथा का धीरे-धीरे ह्रास हो चला था तथा जनता ने इस प्रथा का किस प्रकार परित्याग करना प्रारम्भ कर दिया था। जहाँ बङ्गाल में सन् १८२५ ई० में ६३९ स्त्रियाँ सती हुई थी वहाँ १८२८ ई० में यह संख्या घट कर केवल ४६३ हो गयी थी।

बङ्गाल प्रान्त में प्राप्त सतियों के कुछ आँकड़े नीचे दिये जाते हैं१ ।

वर्ष	सतियों की संख्या	वर्ष	सतियों की संख्या
१८१५	३७८	१८२३	५७५
१८१६	४४२	१८२४	५७२
१८१७	७०७	१८२५	६३९
१८१८	८३९	१८२६	५१८
१८१९	६५०	१८२७	५१७
१८२०	५९८	१८२८	४६३
१८२१	६५४	१८२२	५८३

इस तालिका से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि सती - निषेध के कानून के पास होने के पूर्व सती - प्रथा की अवनति हो चली थी तथा लोग इसे 'लोक विद्विष्ट' समझने लगे थे ।

वर्तमान अवस्था—आजकल सती - प्रथा का समूल नाश हो गया है । हजारों आदमी रोज ही मरते हैं परन्तु उनकी विधवा स्त्रियों के सती होने का समाचार सुनने को नहीं मिलता । आजकल स्त्रियाँ अपने दिवंगत पति के आदर्शों का पालन करना, उसके अपूर्ण कार्यों को पूरा करना तथा सदाचार पूर्वक सात्विक जीवन व्यतीत करना, पति के साथ आग में जल मरने से अच्छा समझती हैं । पति के साथ आग में कूद पड़ना ही पति प्रेम का परिचायक नहीं है बल्कि उसके अपूर्ण तथा अभीष्ट कार्यों की पूर्ति करना ही सच्चा पति - प्रेम हैं । आजकल शिक्षित हिन्दू - समाज इस प्रथा को बुरी दृष्टि से देखने लगा है । सती प्रथा कानून से अपराध घोषित कर दी गयी है । अतः स्त्रियाँ कुछ कानून के डर से, कुछ समाज के भय से तथा कुछ उच्च आदर्शों से प्रेरित होकर अब सती होना उचित नहीं समझती । शास्त्रों में वर्णित सती की महती प्रशंसा अब उनके लिये विशेष महत्व नहीं रखती तथा वे इस दूषित प्रथा के परित्याग में ही अपना गौरव मानती है ।

१. मिल और विलसन–हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इण्डिया अध्याय ९, पृ० ३७१

स्मृतियों में सतियों की विपुल प्रशंसा—महाभारत के समय के पश्चात् हिन्दू समाज में सती-प्रथा का विशेष रूप से प्रचार पाया जाता है। स्मृतिकारों ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है तथा सती को अत्यन्त अधिक पुण्य और महत्व प्रदान किया है। शंख और अङ्गिरा ने लिखा है कि जो स्त्री पति के साथ सती हो जाती हैं वह उतने वर्षों तक स्वर्ग में निवास करती है जितने मनुष्य के शरीर में बाल हैं अर्थात् साढ़े तीन करोड़ वर्ष तक स्वर्ग का सुख भोगती है१। जिस प्रकार से सँपेरा अपने जादू से बिल में घुसे हुये सर्प को बल पूर्वक बिल से निकाल लाता है उसी प्रकार सती स्त्री अपने पति का उद्धार करके उसके साथ प्रसन्नता पूर्वक रहती है। सुख पूर्वक पति की सेवा में लगी हुयी उस स्त्री की प्रशंसा अप्सरायें भी करती हैं और वह तब तक पति के साथ आनन्द से क्रीड़ा करती है जब तक चौदह इन्द्र शासन करते रहते हैं२। पराशर ने भी सती स्त्री की प्रशंसा इन्हीं उपर्युक्त शब्दों में की है३। पति ब्राह्मण की हत्या करने वाला, मित्र - घातक तथा कृतघ्नी ही क्यों न हो, परन्तु यदि स्त्री उसको लेकर सती हो जाती है तो वह उसके समस्त पापों को दूर कर देती है। जो स्त्री पति के मर जाने पर आग में प्रवेश करती है वह अरुन्धती

---

१. तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानुषे ।
तावत्कालं वसेत् स्वर्गं भर्तारं याऽनुगच्छति ॥

२. कालग्राही यथा सर्पं बलादुद्धरते बिलात् ।
तद्वदुद्धृत्य सा नारी सह तेनैव मोदते ॥
तत्र सा भर्तृपरमा स्तूयमानाऽप्सरो गणैः ।
क्रीडते पतिना सार्धं यावदिन्द्राश्चतुर्दश ॥

३. पराशर स्मृति ४।३२—३३ ।

के समान पवित्र चरित्र वाली है तथा उसकी प्रशंसा, इस मर्त्य-लोक की कौन कहे, स्वर्ग-लोक में भी होती है१।

पति के मर जाने पर जब तक स्त्री उसके साथ जलकर सती नहीं हो जाती तब तक वह स्त्री शरीर से छुटकारा नहीं पाती अर्थात् आगे के जन्मों में भी वह स्त्री योनि को ही प्राप्त करती है२। हारीत ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि जो स्त्री पति की चिता पर जल मरती है वह अपनी माता, अपने पिता तथा पति इन तीनों के कुलों को पवित्र कर देती है३। पतिव्रता स्त्री वही कहलाती है जो पति के मर जाने पर स्वयं भी सती हो जाय४। अग्नि पुराण में लिखा है कि जो स्त्री पति के साथ अग्नि में प्रवेश करती है वह स्वर्ग लोक को प्राप्त करती है५। अङ्गिरा का मत है कि पति के मर जाने पर स्त्री के लिये सती हो जाना ही केवल एक मात्र धर्म है६। किम्बहुना, सती की प्रशंसा करते हुये स्मृतियों ने यहाँ तक

---

१. ब्रह्मघ्नो वा कृतघ्नो वा मित्रघ्नो वा भवेत् पतिः।
पुनात्यविधवा नारी तमादाय मृता तु या॥
मृते भर्तरि या नारी, समारोहेत् हुताशनम्।
सारुन्धतीसमाचारा स्वर्गे लोके महीयते॥

२. यावच्चाग्नौ मृते पत्यौ, स्त्री नात्मानं प्रदाहयेत्।
तावन्न मुच्यते सा हि, स्त्रीशरीरात् कथञ्चन॥

३. मातृकं, पितृकं चापि यत्र चैव प्रदीयते।
कुल त्रयं पुनात्येषा भर्तारं यानुगच्छति॥

४. मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता।
इन उपर्युक्त श्लोकों के उद्धरण के लिये या० स्मृ० १।८६ पर 'मिताक्षरा' टीका देखिये।

५. भर्त्राग्नि या विशेत् नारी सापि स्वर्गमवाप्नुयात्। अ० पु० २२१।२३

६. साध्वीनामिह नारीणामग्निप्रतपनादृते।
नान्यो धर्मोऽस्ति विज्ञेयो मृते भर्तरि कुत्रचित्॥ या० स्मृ० १।८७ में अपरार्क द्वारा उद्धृत वचन।

लिख दिया है कि जो स्त्री दुष्ट चित्त से पति का पहिले अनादर करती है और सदा उसके प्रतिकूल चलती है परन्तु ऐसी स्त्री भी पति को मृत्यु के समय काम से, क्रोध से, भय से, मोह से, इच्छा से अथवा अनिच्छा से पति के साथ आग में जल कर सबको पवित्र कर देती है तथा स्वर्ग लोक में निवास करती है१। इस प्रकार से स्मृतियों तथा पुराणों ने मुक्त कण्ठ से सती की प्रशंसा की है और विधवा स्त्री के लिये यही एक मात्र धर्म बतलाया है।

<u>विशेष अवस्था में सती होने का निषेध</u>—यद्यपि साधारणतया स्त्रियाँ पति की मृत्यु के बाद उसके साथ चिता में बैठकर जल मरती थीं परन्तु ऐसी कुछ विशेष अवस्थायें भी थी जिनमें स्त्री को सती होने का निषेध किया गया है। नारदीय पुराण में लिखा है कि वह स्त्री जिसका बच्चा अभी अत्यन्त छोटा है, जो गर्भवती है, जो रजो दर्शन की अवस्था को प्राप्त नहीं हुयी है तथा जो रजस्वला है उसे अपने पति की चिता पर जलने के लिये उद्यत नही होना चाहिये२। बृहस्पति ने भी इसी उपर्युक्त मत का समर्थन करते हुये लिखा है कि गर्भिणी स्त्री को चाहिये कि वह अपने गर्भ की रक्षा करे३। सम्भवतः छोटे पुत्र वाली स्त्री को सती होने

---

१. अवमत्य तु याः पूर्वं पतिं दुष्टेन चेतसा।
वर्तन्ते याश्च सततं भर्तृणां प्रतिकूलतः॥
भर्त्रानुमरणं काले याः कुर्वन्ति तथा विधाः।
कामात् क्रोधात्भयात्मोहात्सर्वाः पूताः भवन्ति ह॥
पराशर ४।३३ की टीका में माधव द्वारा उद्धृत वचन।

२. बालापत्याश्च गर्भिण्यो अदृष्टऋतवस्तथा।
रजस्वला, राजसुते, नारोहन्ति चितां शुभे॥
पराशर-माधव (२, भाग १, पृ० ५८) द्वारा उद्धत ना० पु० का वचन

३. बालसंवर्धनं त्यक्त्वा; बालापत्या न गच्छति।
रजस्वला, सूतिका च; रक्षेद् गर्भं च गर्भिणी॥
पराशर-माधव द्वारा उद्धत बृहस्पति का वचन।

को इसलिये आज्ञा नहीं दी जाती थी कि उसके मर जाने पर उस बाल शिशु की देख - रेख करने वाला कोई न रह जायेगा और वह अनाथ होकर मारा मारा फिरेगा। गर्भिणी स्त्री के सहगमन के निषेध का कारण स्पष्ट ही है। गर्भ की दशा में ऐसी स्त्री का सती होना भ्रूण हत्या के पातक के समान निन्दित समझा जाता था। रजस्वला को सम्भवतः अशुद्ध समझ कर सती होने का निषेध किया गया है परन्तु साथ ही यह भी लिखा है कि चौथे दिन स्नान करके वह सती हो सकती है। रजोदर्शन को अप्राप्त स्त्री को सती न होने का कारण स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। संभवतः उसकी अल्प आयु के कारण ही उसे यह 'कन्सेशन' मिला हो।

सती होने की शास्त्रीय विधि—मृत पति के साथ सती हो जाना अत्यन्त पवित्र तथा धार्मिक कृत्य समझा जाता था। हमारे यहाँ प्रत्येक धार्मिक कार्यों को शास्त्रीय विधि के अनुसार करना पड़ता था। अतः सती होने के समय भी स्त्री को अनेक विधि - विधानों का पालन करना आवश्यक था। यह समझना अत्यन्त भूल होगी कि पति की मृत्यु पर उसकी स्त्री रोती, कलपती, चिल्लाती तथा हृदय - विदारक करुण क्रन्दन करती हुई पति की चिता पर चढ़ कर जल जाती थी। प्रत्युत उसकी दशा इसके ठीक विपरीत होती थी। पद्म पुराण में लिखा है कि सती होने वाली स्त्री को चाहिये कि स्नान करके अपने शरीर में सुगन्धित द्रव्यों का सेवन कर आभूषण, (आखों में) अंजन, गन्ध, पुष्प, धूप, हरिद्रा, अक्षत तथा मंगल सूत्र को धारण करें। उसे अपने माँग में सिन्दूर और पैरों में आलक्तक (महावर) लगाना चाहिये। शक्ति पूर्वक दान करना चाहिये, मीठा वचन बोलना चाहिये तथा प्रसन्न मुख रहना चाहिये। भावार्थ यह है कि सौभाग्यवती स्त्री के जितने चिह्न हैं उन सभी को उसे धारण करना

चाहिये। उसे नाना प्रकार के मंगल वाद्यों तथा गीतों को सुनना चाहिये[१]। इस प्रकार से आभूषणों तथा सुगन्धित पदार्थों से युक्त स्त्री को एक लम्बे जलूस (शोभा यात्रा) में मंगल वाद्यों के साथ नगर से होते हुये श्मशान भूमि पर ले जाते थे। कभी-कभी वह स्त्री अपने गहनों तथा अन्य वस्तुओं को स्मृति-चिह्न के रूप में रखने के लिये अपने सम्बन्धियों को दे देती थी। चिता पर चढ़ने के पहिले वह अपने सम्बन्धियों से अन्तिम विदाई लेती थी। विदेशी यात्रियों ने लिखा है कि कुछ लोग अपने दिवंगत सम्बन्धियों के पास पहुँचाने के लिये सन्देश भी उसको देते थे।

'शुद्धि तत्व' में सती होने की विधि का उल्लेख करते हुये लिखा है कि सती होने वाली स्त्री स्नान करके, दो सफेद वस्त्रों को धारण करके, अपने हाथों में कुश ले करके, पूर्व या उत्तर मुख होकर आचमन करती थी। जब पुरोहित या ब्राह्मण 'ओम् तत् सत्' कहता था तब वह नारायण का ध्यान करके मास, पक्ष तथा तिथि का नाम लेकर सती होने का संकल्प कर आठ लोकपालों, सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि का आवाहन करके अपने कार्य के साक्षी होने के लिये उनसे प्रार्थना करती थी। इसके बाद उसके लिये चिता की तीन बार प्रदक्षिणा करना आवश्यक था। पुरोहित निम्नांकित वैदिक मंत्र का उच्चारण करता था[२]—

---

१. स्नानं, मंगलसंस्कारो भूषणाञ्जनधारणम्।
गन्धपुष्पं तथा दीपं हरिद्राक्षतधारणम्॥
मंगलं च तथा सूत्रं पादालक्तकमेव च।
शक्त्या दानं प्रियोक्तिश्च प्रसन्नास्यत्वमेव च॥
नानामंगलवाद्यानां श्रवणं गीतकस्य च।
कुर्यादथ स्वकां भूषां विप्राय प्रतिपादयेत्॥

पद्म पुराण—पाताल खण्ड १०२।६७-६९।

२. ऋ० वे० १०।१८।७।

"इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा संविशन्तु ।
अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्ने ॥

तत्पश्चात् स्त्री 'नमोनमः' कहती थी और इसके वाद वड़ी वीरता और साहस के साथ पति की चिता पर चढ़ जाती थी। इसके वाद चिता में आग लगा दी जाती थी और वह पति के साथ भस्म होकर दिव्य धाम को प्राप्त कर लेती थी१।

साधारणतया सहमरण की ही प्रथा प्रचलित थी अर्थात् स्त्री उसी चिता पर बैठकर भस्म होती थी जो उसके पति के लिये तैयार की जाती थी। परन्तु जहाँ एक पति की अनेक पत्नियाँ होती थी वहाँ दूसरा ही नियम था। कभी-कभी पति की सबसे अधिक प्यारी पत्नी सहमरण के सम्मान के लिये चुनी जाती थी तथा अन्य पत्नियों के लिये दूसरी चिता बना कर उस पर उनको जला देते थे। परन्तु कभी-सभी पत्नियों को एक ही चिता पर रख कर जलाया जाता था और इस प्रकार उनका 'सौतिया डाह' क्षण भर के लिये उनके जीवन की अन्तिम घड़ियों में नष्ट हो जाता था। सती स्त्रियाँ अपने साथ कुंकुम, कंघी, दर्पण, पान इत्यादि—जो सौभाग्यवती स्त्रियों के लक्षण है—को लेकर तथा पति के सिर को अपनी गोदी में रख कर जल मरती थी।

यदि पति परदेस अथवा दूर स्थित किसी रणक्षेत्र में मृत्यु को प्राप्त करता था तब उसको स्त्रियों के लिये सहमरण असंभव था। ऐसी दशा में वे अपने पति की पगड़ी, पादुका अथवा अन्य किसी स्मृति चिन्ह को

---

१. शुद्धि तत्व।
इस विषय में विस्तृत विवरण के लिये देखिये—
कमलाकर भट्ट—निर्णय सिन्धु ३, उत्तरार्ध पृ० ६२३ तथा
धर्म-सिन्धु पृ० ४८३–४८४।

लेकर चिता में बैठ जाती थीं और अग्नि की दहकती हुई लपटों में अपनी काञ्चन काया को जलाकर भस्म कर देती थी। इस प्रकार सती होने को "अनुमरण" कहते थे।

सचमुच ही सती होने का यह अलौकिक दृश्य देवताओं के लिये भी दुर्लभ होता होगा। यदि देवता भी ऐसे स्वर्गीय दृश्य को देखने के लिये भारत भूमि में आना चाहते हों तो इसमें क्या आश्चर्य है? दहकती हुयी आग की लपटों के बीच में हँसते हुये, प्रसन्न चित्त होकर, बैठना कोई हँसी खेल की बात नहीं थी। विवाह का साथी, प्रेम का पवित्र निकेतन, जीवन नैया का एकमात्र कर्णधार, सौभाग्य का आश्रय और प्राणों का अवलम्ब, प्राण-प्रिय पति की मृत्यु पर, मुख पर शोक का चिन्ह न दिखाकर, हँसते-हँसते अग्नि के गर्भ में प्रवेश कर जाना यह अलौकिक साहस का कार्य, केवल भारतीय ललनाओं का ही था। संसार के इतिहास में ऐसा अपूर्व त्याग, बलिदान, सहनशीलता तथा साहस का मिलना दुर्लभ है।

अनेक प्रान्तों में विभिन्न प्रथायें—परन्तु सभी स्त्रियों में साहस तथा बलिदान की भावना समान नहीं होती थीं। पति की मृत्यु के पश्चात् जल मरने के लिये वे चिता पर बैठती थी परन्तु दहकती हुयी आग की प्रचण्ड लपटों को उनका कोमल कलेवर सहन नहीं कर सकता था और वे चिता से कूद कर भाग खड़ी होती थी। इसलिये सती होने के लिये चिता का प्रबन्ध ऐसा किया जाता था जहाँ से कोई स्त्री भाग न सके। इसी कारण चिता एक गहरे गड्ढे में बनायी जाती थी जिसको फाँदना स्त्रियों के लिये असम्भव था। मैसूर में प्राप्त एक शिलालेख में सती होने के लिये जाने वाली स्त्री का वर्णन अग्नि-कुण्ड में जाकर मरने वाली स्त्री के समान किया गया है। बारबोसा ने सती होने के एक दृश्य का बड़ा सजीव उल्लेख किया है। गुजरात तथा यू० पी० में सती होने के लिये १२ वर्ग

फ़ोट लम्बा - चौड़ा लकड़ी का एक घर वनाया जाता था। विधवा स्त्री को इसी घर के एक स्तम्भ में रस्सियों से बाँध दिया जाता था जिससे वह कहीं भाग न सके। इसके बाद उस घर में आग लगा दी जाती थी। बंगाल में विधवा के पैरों को जमीन में गाड़े गये एक खम्भे में बांध देते थे और उस स्त्री से तीन बार पूछा जाता था कि क्या वह वास्तव में स्वर्ग जाना चाहती है? इसके पश्चात् चिता में आग लगा देते थे। जिन प्रान्तों में शव को ज़मीन में गाड़ने की प्रथा थी वहाँ पर पति के साथ स्त्री को भी भू गर्भ में समाधिस्थ कर दिया जाता था। यह प्रथा विशेष कर १६ वीं शताब्दो में आन्ध्र - प्रदेश में प्रचलित थी। इस प्रकार से भिन्न भिन्न राज्यों में सतो होने को विभिन्न प्रथायें प्रचलित थीं। सती होने के पहिले प्रारम्भ में संकल्प आदि धार्मिक विधि - विधानों को करना पड़ता था परन्तु कालान्तर में इस प्रथा का धार्मिक अंश नष्ट हो गया और सतियों की चिताओं में बिना किसी धार्मिक विधान को सम्पादित किये ही अग्नि प्रज्वलित कर दो जाती थी।

सती होने के लिये बल का प्रयोग—यह विचार करना आवश्यक है कि स्त्रियाँ क्या सदा स्वेच्छा से सतो होती थो अथवा इसके लिये बल का भो प्रयोग किया जाता था। इसमें सन्देह नहीं कि अनन्य पति - प्रेम तथा धार्मिक भावना के कारण अधिकांश स्त्रियाँ स्वेच्छा से ही सती होती थीं परन्तु राजतरंगिणी से तथा विदेशो यात्रियों के उल्लेखों से पता चलता है कि कुछ सतियों के सम्बन्ध में बल का भी प्रयोग किया जाता था। कल्हण ने काश्मीर की दो रानियों का उल्लेख किया है जिन्होंने अपने मन्त्रियों को इसलिये घूस दिया था कि वे श्मशान भूमि में आकर उनको सतो होने से रोकें। काश्मीर को दिद्दा नामक प्रसिद्ध रानी ने इसी युक्ति का आश्रय लिया था और नरवाहन नामक उसके मन्त्री ने इस प्रकार उसको सतो होने से बचा लिया था[1]। रानो जयमतो का गर्ग

१. कल्हण—राजतरंगिणो ६।१९५।

नामक मन्त्री बड़ा ही दुष्ट था। उसने रानी को सती होने से बचाने के लिये घूस तो ले लिया परन्तु उचित अवसर पर श्मशान भूमि में जाने में विलम्ब कर दिया जिससे बिचारी रानी को अपनी इच्छा के प्रतिकूल पति के साथ जल कर मर जाना पड़ा१। इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि कल्हण के समय में ही (११०० ई०) अनेक रानियाँ अपनी स्वतन्त्र इच्छा से सती नहीं होती थी बल्कि लोक - लज्जा के भय से उन्हें ऐसा करना पड़ता था। भारत में आने वाले अनेक विदेशी यात्रियों ने सती होने के लिये विधवाओं के साथ बल - प्रयोग करने का वर्णन किया है। उनके द्वारा उल्लिखित घटनायें आँखों देखी होने के कारण असत्य नहीं मानी जा सकतीं। मनूची (Manucci) नामक यात्री ने लिखा है कि क्षत्रिय स्त्रियाँ अपनी इच्छा के विरुद्ध आग में जलकर मरने के लिये विवश की जाती थी२।

मनुची ने स्वयं एक स्त्री की सती होने से प्राण रक्षा की थी जिसका विवाह उसके एक यूरोपियन मित्र से बाद में कर दिया गया। निकोलो कोन्टी कहता है कि सती न होने वाली स्त्रियों को आर्थिक संकट देने की भी धमकी दी जाती थी और उनसे कहा जाता था कि जीवित रहने पर उनको "स्त्री - धन" नहीं मिलेगा३। बर्नियर ने लाहौर में १२ वर्ष की एक बाल - विधवा को उसकी इच्छा के विरुद्ध आग में जला देने का उल्लेख किया है४। जयमल—जो अकबर के राज्य में एक अधिकारी था—की मृत्यु पर उसके पुत्र ने अपनी माता को बलात्कार सती होने के लिए बाधित किया परन्तु स्वयं अकबर के हस्तक्षेप करने पर उसकी जान किसी प्रकार से बचाई जा सकी५। जो स्त्रियाँ पति की

---

१. कल्हण—राजतरंगिणी ८।३६३। २. मनुची—यात्रा—विवरण ३,पृ०६५।
३. ज० ए० सो० ब० १६३५ पृ० २५६। ४. यात्रा—विवरण—पृ० ३६३-६४
५. अकबर नामा

चिता पर से अग्नि की दाहकता के कारण उठकर भाग जाती थीं वे अछूत समझी जाती थीं और पुनः उस जाति में उनका ग्रहण नहीं होता था। ऐसी स्त्रियों को कभी कभी नीच जाति के लोग अपने घर ले जाते थे और कभी विदेशी व्यापारी उनको इस विषम आपत्ति से बचाकर उनसे विवाह कर लेते थे।

यद्यपि कुछ ऐसे भी उदाहरण उपलब्ध होते हैं जिनमें स्त्रियों ने स्वेच्छा से आत्म - बलिदान किया तथा हँसते - हँसते चिता पर चढ़ गयी वरन्तु इससे सतियों के साथ बलात्कार करने के पाप का मार्जन नहीं हो सकता। जहाँ सतियों के अदम्य उत्साह तथा उनकी अलौकिक वीरता की प्रशंसा करनी पड़ती हैं वहाँ उनके साथ किये गये बलात्कार की तीव्र शब्दों में निन्दा किये बिना नहीं रहा जा सकता।

सती प्रथा की निन्दा तथा इसका विरोध—यद्यपि सती की प्रथा का समाज में प्रचुर प्रचार हो गया था परन्तु विचारशील धर्मशास्त्रकारों ने इस अमानुषिक प्रथा के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाई और इसका विरोध करना प्रारम्भ किया। मनु स्मृति के सुप्रसिद्ध भाष्यकार मेधातिथि ने इस प्रथा को अशास्त्रीय बतलाते हुये इसकी तुलना 'श्येनयाग' से की है जिसको मनुष्य अपने शत्रुओं को मारने के लिये किया करता था। वे कहते हैं कि यद्यपि अङ्गिरा ने 'अनुगमन' का विधान किया है परन्तु वास्तव में यह आत्महत्या है और स्त्रियों के लिये नितान्त निषिद्ध है। जिस प्रकार से वेद ने 'श्येनेनाभिचरणं यजेत्' कहा है परन्तु फिर भी 'श्येनयाग धर्म की अपेचा अधर्म ही समझा जाता है, उसी प्रकार से यद्यपि अङ्गिरा ने इसका विधान किया है फिर भी यह अधर्म ही है। पति के साथ स्वर्ग में सुख भोगने को इच्छा करने वाली स्त्री भले ही अङ्गिरा की आज्ञानुसार आग में जल मरे परन्तु उसका यह कार्य 'अशास्त्रीय' ही कहा जायेगा। इसके अतिरिक्त 'अन्वारोहण' श्रुति वचनों के सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि वेदों में लिखा है कि "मनुष्य को चाहिये कि

अपनी सम्पूर्ण आयु को बिना बिताये इस संसार का परित्याग न करें१ ।'' ऐसे समय में जब सती की प्रथा वृद्धि को प्राप्त हो रही थी तथा इसका प्रचार तीव्र गति से हो रहा था, मेधातिथि जैसे महान् धर्मशास्त्री के द्वारा इस प्रथा को 'अशास्त्रीय' बतलाना बड़ा महत्वपूर्ण है। इससे यह पता चलता है कि मेधातिथि जैसा महान् धर्मशास्त्री भी इस प्रथा को बुरा समझते थे तथा इसे 'वेद - विरुद्ध' बतलाते थे। स्मृति चन्द्रिका में स्पष्ट ही लिखा है कि यद्यपि स्मृतिकार विष्णु और अङ्गिरा ने 'अन्वारोहण' की आज्ञा दी है परन्तु यह ब्रह्मचर्य से न्यून है क्योंकि 'अन्वारोहण' से प्राप्त पुण्य ब्रह्मचर्य रखने के पुण्य से बहुत ही कम है२। अपरार्क ने बड़े ही ज़ोरदार शब्दों में इस प्रथा का विरोध किया है। उन्होंने यह दिखलाया है कि विधवा अपने प्राणों को धारण करती हुयी श्राद्ध के अवसर पर पिण्ड आदि देकर अपने पति की भलाई कर सकती है। परन्तु यदि वह सती हो जाती है तो उसे आत्महत्या का पातक लगता है। अतः उनकी स्पष्ट आज्ञा है कि विधवा को मृत पति के साथ सती नहीं

---

१. पुवत्स्त्रीणामपि प्रतिषिद्ध आत्मत्यागो यदप्याङ्गिरसे पतिमनु-म्रियेरन्नित्युक्तं, तदपि नित्यवदवश्यं कर्तव्यम् । फलस्तुतिस्तत्रापि फलकामायाश्चाधिकारे श्येनतुल्यता। तथैव श्येनेन हिंस्याद्भू-तानीत्यधिकारस्यातिप्रवृद्धतरद्वेषान्धतया सत्यामपि प्रवृत्तौ न धर्मत्वम्; एवमिहापि अतिप्रवृद्धफलाभिलाषायाः सत्यपि प्रतिषेधे, तदति-क्रमेण मरणे प्रवृत्युपपत्तेर्न शास्त्रीयत्वमतोस्त्येव पतिमनुमरणेऽपि स्त्रियाः प्रतिषेधः। किं च 'तस्मादुह न परायुषः प्रेयात्' इति प्रत्यक्षश्रुतिविरोधोऽयम् । मनु ५।१५६ पर मेधातिथि का भाष्य ।

२. यत्तु विष्णुना धर्मान्तरमुक्तं 'मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा' ... ... तदेतद्धर्मान्तरमपि ब्रह्मचर्यधर्माज्जघन्यम् । निकृष्ट-फलत्वात् । स्मृ० च०, व्यवहार पृ० २५४ ।

होना चाहिये१। दक्षिण भारत में १२ वीं शताब्दी में उत्पन्न होने वाले देवणभट्ट नामक विद्वान् का मत है कि सती होना अत्यन्त निकृष्ट कार्य है।

परन्तु इस प्रथा के प्रचण्ड विरोध करने का श्रेय महाकवि बाणभट्ट को प्राप्त है जिन्होंने अपनी कादम्बरी में इसके विरुद्ध बड़े ही सुन्दर तथा तर्कयुक्त प्रमाण उपस्थित किये हैं तथा इसे अत्यन्त निष्फल बतलाया है। बाण का कथन है कि "प्रियतम के पीछे मरना (अनुमरण) अत्यन्त निष्फल है। यह मूर्ख लोगों का मार्ग है। यह मोह के द्वारा की गयी बहुत बड़ी गलती है। यह अत्यन्त शीघ्रता में किया गया दूषित कार्य है। क्योंकि सती हो जाने से मृत पुरुष का कुछ भी उपकार नहीं होता। इससे उसको स्वर्ग प्राप्ति में सहायता नहीं मिलती। इससे मृत्यु के बाद पति से पुनर्मिलन का निश्चय भी नहीं हो सकता। मृत व्यक्ति अपने कर्मों के द्वारा निश्चित स्थान को प्राप्त करता है परन्तु जो चिता में उसके साथ जल मरता है वह आत्महत्या का पातकी बन कर नरक में निवास करता है। इसके विपरीत जीवन को धारण करके उस पत्नी के द्वारा मृत व्यक्ति के लिये जलाञ्जलि देकर उसका बहुत बड़ा उपकार किया जा सकता है। परन्तु पति के साथ मर जाने से किसी को भी लाभ नहीं पहुँच सकता२।" इस प्रकार बाण ने अकाट्य तर्कों के द्वारा से इस प्रथा की

---

१. अनुवर्तेत जीवन्तं, न तु यायान्मृतं पतिम्।
जीवद्भर्तृहितं कुर्यान्मरणादात्मघातिनी॥
या० स्मृ० १।८७ की टीका में अपरार्क द्वारा उद्धृत।

२. यदेतदनुमरणं नाम, तदतिनिष्फलम्। अविद्वज्जनाचरितः एषः मार्गः। मोहविलसितमेतदतिरभसा चरितमिदं यदुपरते पितरि, भर्तरि, भ्रातरि वा प्राणाः परित्यज्यन्ते। स्वयं चेन्न जहति, न परित्याज्याः। उपरतस्य न कमपि गुणमावहति। न तावत्तस्यायं शुभलोकोपार्जन-हेतुः, न निरयपातप्रतिकारः, न परस्परसमागमनिमित्तम्। अन्यामेव स्वकर्मफलपाकोपचितामसौ अवशो नीयते भूमिम्। असावपि आत्मघातिनः केवलमेनसा संयुज्यते। जीवतस्तु जलाञ्जलिदानादिना बहूपकरोत्युपर-तस्यात्मनश्च, मृतस्तु नोभयस्यापि। कादम्बरी, पूर्वार्द्ध पृ० ३०८।

निःसारता दिखाई है और इसको निष्फल व्यापार सिद्ध किया है। सम्भवतः कालिदास को भी यह प्रथा अभिमत नहीं थी। क्योंकि कुमारसम्भव में कामदेव के जल जाने पर उसकी स्त्री रति को उन्होंने आकाशवाणी की योजना कर सती होने से बचा लिया है। इन्दुमती के मर जाने पर उसके साथ जलने के लिये तैयार राजा अज को यह कह कर उन्होंने समझाया है कि कर्म के अनुसार प्राणियों की गति भिन्न भिन्न हुआ करती है। अतः तुम्हारे मर जाने पर भी स्वर्ग में स्त्री की प्राप्ति कठिन है१। यद्यपि विचारशील तथा विद्वान् पुरुषों ने इस प्रथा का तीव्र शब्दों में विरोध किया था परन्तु समाज में उनका विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और सती प्रथा की परम्परा तीव्र रूप में प्रचलित रही।

मुसलमानी काल में इसे कम करने का प्रयत्न—मुसलमान बादशाहों ने इस प्रथा को रोकने के लिये बहुत उपयोग किया। हुमायूँ बूढ़ी स्त्रियों के लिये इस प्रथा को बन्द कर देना चाहता था। परन्तु उसने इस विषय में कुछ विशेष प्रयास नहीं किया। अकबर ने अपने राज्यकाल के २२ वें वर्ष में इसको रोकने के लिये अनेक निरीक्षकों (इन्सपेक्टर) को नियुक्ति की थी जिनका यही काम था कि वे घूम-घूम कर यह देखें कि सती होने के लिये किसी भी स्त्री के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध बल का प्रयोग न किया जाय। इस उद्योग के परिणाम स्वरूप आगरा प्रदेश के आस-पास के स्थानों में सती की प्रथा कम हो गई। अनेक मुसलमान बादशाहों ने यह नियम बना दिया था कि कोई भी विधवा स्त्री स्थानीय अधिकारियों की अनुमति के बिना सती नहीं हो सकती। ट्रैवर्नियर के यात्रा विवरण से ज्ञात होता है कि उसके सामने बाइस वर्ष की एक विधवा स्त्री पटना

१. (क) परलोकयुषां स्वकर्मभिः गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम्। रघुवंश ८।८५
(ख) न चकार शरीरमग्निसात् सह देव्या न तु जीविताशया। वही० ८।७२

(विहार) के गवर्नर के पास, सती होने के लिये, उसकी आज्ञा प्राप्त करने के आशय से आयी और यह सिद्ध करने के लिये कि मैं अपनी इच्छा से सती हो रही हूँ उसने दहकती आग में अपने हाथों को जला दिया जिसको देखकर उपर्युक्त यात्री आश्चर्य चकित हो गया। आज्ञा लेकर सती होने के प्रतिबन्ध से इस प्रथा में कुछ विशेष बाधा नहीं पड़ी क्योंकि यह आज्ञा बड़ी सरलता से मिल जाया करती थी। इस प्रकार मुसलमानी काल में मुगल बादशाहों के बहुत प्रयत्न करने पर भी इस प्रथा का विशेष ह्रास नहीं हुआ।

अंग्रेजी राज्य में सती प्रथा का कानूनी निषेध—इसमें सन्देह नहीं कि ब्रिटिश शासन काल में भी सती प्रथा बड़े ज़ोरों से प्रचलित थी। १६ वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में इसका जितना अधिक प्रचार था उतना सम्भवतः हिन्दू तथा मुसलमानी काल में भी नहीं था। गत पृष्ठों में जो आंकड़े दिये गये हैं उनसे यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाती है। परन्तु अब हिन्दू-समाज में यह प्रथा बड़ी गर्हित दृष्टि से देखी जाने लगी थी। लोग इस निर्दय तथा अमानुषिक प्रथा से ऊब गये थे परन्तु किसी में इतना साहस नहीं होता था कि खुले आम इसके विरुद्ध प्रचार करें। फिर भी व्यक्तिगत रूप से इसका निषेध जारी था। सती होने वाली स्त्री को उसके संबंधी मना करते थे तथा कभी कभी वह उनकी बातों को मान भी जाती थीं। जब नारायण राव पेशवा के ससुर की मृत्यु हुई थी तब उसकी स्त्री ने सती होने की इच्छा प्रकट की। परन्तु सगे-सम्बन्धियों के निषेध करने करने पर उसने अपना निश्चय बदल दिया। १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पूना की सरकार तथा सवन्तवाड़ी की मराठा सरकार ने इस प्रथा के विरुद्ध आज्ञायें जारी कर रक्खी थी।

सती प्रथा के इतिहास में राजा राममोहन राय का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जायेगा जिन्होंने अपने अथक परिश्रम तथा भगीरथ प्रयत्न से इस दूषित प्रथा का सदा के लिये नाश कर दिया। इनकी प्रेरणा तथा

उद्योग से सन् १८२६ ई० में लार्ड विलियम बेंटिङ्क ने एक कानून पास किया जिसके अनुसार सती प्रथा गैर कानूनी करार दे दी गयी और सती होना कानून से अपराध माना गया। इस कानून के विरुद्ध सनातनी हिन्दुओं ने बड़ा आन्दोलन किया परन्तु सब व्यर्थ सिद्ध हुआ। इस कानून को रद्द कर देने के लिये प्रिवी कौन्सिल में इन लोगों ने जो अपील की थी इसके लिये समस्त भारत से इन्हें केवल ८०० लोगों के हस्ताक्षर प्राप्त हो सके थे। इसी से यह अनुमान किया जा सकता है कि सर्व साधारण जनता इस प्रथा के कितना विरुद्ध थी। इस प्रथा का कानून द्वारा बन्द हो जाने का सब ने सहर्ष स्वागत किया। इतना ही नहीं लोगों ने इस कानून से प्रसन्न होकर गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम बेंटिंग को एक मेमोरियल भी दिया जिसमें उन्होंने उनकी भूरि भूरि प्रशंसा की थी। इस प्रकार इस दूषित प्रथा का सन् १८२६ ई० में समूल नाश हो गया।

सती होने का उद्देश्य तथा कारण—हिन्दू धर्म-शास्त्रों में पति को देवता के समान माना गया है। वह दुष्ट तथा दुराचारी भले ही हो फिर भी शास्त्रों ने उसकी सेवा करना ही स्त्री का एक मात्र धर्म बतलाया है। इसलिये हिन्दू स्त्री पति के जीवन काल में उसकी तन, मन, धन से सेवा करती थी तथा अपना जीवन उसके जीवन से पृथक् नहीं समझती थी। उसकी ऐसी धारणा थी कि साध्वी स्त्री को परलोक में वही पति प्राप्त होता है। ऐसी दशा में जब उसका प्राणों से भी प्रिय, देवता-स्वरूप पति मर जाता था तब उसके लिये उससे पुनः समागम का केवल एक ही उपाय था—और वह मार्ग था उसके शव के साथ जलकर सती हो जाना। कुछ स्त्रियाँ पति के प्रति प्रगाढ़ तथा अनन्य प्रेम के कारण, उसके वियोग को सहन करने में अपने को असमर्थ पाकर, उसके साथ जल मरती थीं। शास्त्रकारों ने यह सोचा होगा कि यदि विधवा स्त्री जीती रहेगी तो सम्भवतः अपनी इन्द्रियों को वश में न रख सकने के कारण वह व्यभिचार

करने लगेगी और इस प्रकार समाज को दूषित बना देगी। इसलिये उन्होंने यह उचित समझा कि वह अपने पति के साथ ही सती हो जाय। पति के प्रति अलौकिक प्रेम तथा परलोक में उससे मिलने की दिव्य आकांक्षा ही स्त्रियों के सती होने का प्रधान उद्देश्य जान पड़ता है।

परन्तु जिन स्त्रियों में यह प्रगाढ़ प्रेम नहीं था उनको भी कई कारणों से सती होना ही पड़ता था। छोटी आयु की अक्षत - योनि विधवायें यह समझती थीं कि अब मेरा जीवन अत्यन्त कष्टमय बन जायेगा। वे अपना पुनर्विवाह नहीं कर सकती थीं। अपने भरण पोषण के लिये भी उन्हें सम्बन्धियों पर अवलम्बित रहना पड़ता था जो विशेष दयालु तथा सहानुभूति दिखलाने वाले नहीं थे। ऐसी दशा में वे यह उचित समझती थीं कि पति के साथ ही अपनी जीवन-लीला भी समाप्त कर दें। राजा हर्ष की माता की भाँति, बूढ़ी विधवायें यह समझती थी कि अब मेरे जीवन का प्रयोजन सिद्ध हो गया। अब हमें इस संसार में करना ही क्या है? अतः क्यों न पति के साथ चिता में जलकर यश के भागी बनें? अन्य स्त्रियाँ लोक की लज्जा से, शास्त्रों की आज्ञा के उल्लंघन के डर से तथा जीवित रहने पर आर्थिक संकटों की विभीषिका से सती हो जाती थीं। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अधिकांश स्त्रियाँ स्वेच्छा से ही सती होती थीं।

सती प्रथा पर कुछ विचार—सती प्रथा की कोई भले ही निन्दा करे परन्तु हिन्दू - स्त्रियों के अपूर्व साहस की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा किये बिना कोई नहीं रह सकता। हिन्दू - ललनाओं ने इस प्रथा के द्वारा जैसा प्रगाढ़ प्रति - प्रेम, अलौकिक साहस, अपूर्व आत्म - बलिदान तथा दिव्य धैर्य दिखलाया है वैसा संसार के इतिहास में मिलना असम्भव है। स्त्री अपने पति के लिये कितना आत्म-त्याग कर सकती है भारतीय ललनाओं ने इसकी पराकाष्ठा कर दी है। बर्नियर ने एक सती की प्रशंसा करते हुये लिखा है कि "उसके निर्दय धैर्य तथा (मुख पर) भयंकर प्रसन्नता का वर्णन करना कठिन है। उसका वार्तालाप अधीरता से रहित था। उसके साहस पूर्ण

कार्य में तनिक भी घबराहट नहीं थी। यह दृश्य मुझे स्वप्न सा मालूम हुआ परन्तु वास्तव में यह नग्न सत्य था१।" डा० कारणे ने ठीक ही लिखा है कि "यदि अंग्रेजों को पृथ्वी के चतुर्थांश पर कब्जा करने वाले अपने पूर्वजों का गर्व है, यदि फ्रेन्च लोगों को, समस्त यूरोप में अशान्ति मचाने वाले नेपोलियन पर अभिमान है, तो कोई कारण नहीं है कि हम भारतवासी अपनी स्त्रियों द्वारा किये गये आत्म-त्याग की प्रशंसा न करें चाहे हम भले ही उस प्रथा की निन्दा करें जिसने इतना भयंकर कष्ट एवं बलिदान का आवाहन किया था२।"

---

१. "It is impossible to describe the brutish boldness or the ferocious gaity depicted on her countenence; her step was undaunted, her conversation was free from all perturbation; her lofty courage was void of all embarrassment. She took a torch and with her own hand lighted the fire. It appeared to be a dream, but it was a stern reality."
यात्रा विवरण पृ० ३१२—१३,

२. It English men can feel pride in their ancestors who grabbed one-fourth of the world's surface or if French men can feel pride in the deeds cf their Emperor Napoleon, who tried to enslave the whole of Europe and yet are not held to ridicule or rebuke; there is no reason why poor Indians cannot express admiration for the sacrifices which their women made in the past, though they may condemn the institutičn which demanded such terrible sacrifice and suffering."
Dr. Kane—History—Vol. II, Part I, Page 636.

९—विधवा-विवाह

'पुनर्भू' शब्द का अर्थ—भारतीय धर्म ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि प्राचीन काल में विधवा-विवाह के लिये 'पुनर्भू' शब्द का प्रयोग मिलता है जिसका अर्थ है 'वह विधवा जिसने पुनर्विवाह किया हो।' नारद ने लिखा है कि स्त्रियाँ सात प्रकार की होती हैं जिनमें 'पुनर्भू' ती तरह की होती हैं—(१) वह स्त्री जिसका विवाह तो हो गया हो परन्तु जिसने अभी तक पति से प्रसंग न किया हो। (२) वह स्त्री जो पहिले पति को छोड़ कर दूसरे से विवाह कर लेती है परन्तु पुनः प्रथम पति के पास लौट आती है। (३) वह स्त्री जो प्रथम पति के मरने पर उसके किसी सपिण्ड सम्बन्धी को विवाह में दे दी जाती है[१]। मनु ने अक्षत-योनि बाल विधवा तथा प्रथम पति को छोड़कर द्वितीय पति से विवाह करने वाली 'पुनर्भू' के संस्कार का विधान किया है[२]। कश्यप ने सात प्रकार की 'पुनर्भू' का उल्लेख किया है जिससे पता चलता है कि अक्षत-योनि विधवा के अतिरिक्त पुत्रवती विधवा स्त्री का भी उस समय विवाह होता था[३]। बौधायन ने

---

१. नारद स्मृति। स्त्री पुंस—५।४५

२. सा चेदक्षतयोनिः स्यात् गतप्रत्यागतापि वा।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति॥ म० स्मृ० ९।१७६

३. वाचा दत्ता, मनोदत्ता, कृतकौतुकमङ्गला।
उदकस्पर्शिता या च, या च पाणिगृहीतिका॥
अग्नि परिगता या च, पुनर्भूः प्रसवा च या।
इत्येताः कश्यपेनोक्ताः दहन्ति कुलमग्निवत्॥
स्मृ० च० में उद्धृत कश्यप का वचन।

भी सात प्रकार की पुनर्भू का वर्णन किया है। वशिष्ठ धर्मसूत्र में लिखा है कि "पौनर्भव" उस स्त्री के पुत्र को कहते हैं जो स्त्री अपने प्रथम पति को छोड़कर दूसरे से विवाह कर लेती है परन्तु फिर उसी के घर लौट आती है। अथवा जो अपने नपुंसक, जाति भ्रष्ट या पागल पति को सदा के लिये छोड़कर दूसरे से विवाह कर लेती है[1]। अतः 'पुनर्भू' शब्द के अर्थ से पता चलता है कि प्राचीनकाल में विधवा - विवाह होता था।

वेदों में विधवा - विवाह का उल्लेख—वेदों में भी विधवा - विवाह का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध मन्त्र में लिखा है कि 'ए स्त्री! तुम उठो तथा मर्त्यलोक में प्रवेश करो। तुम मृत मनुष्य के पास सोयी हुई हो। मैं तुम्हारा प्रेमी हूँ। मैंने तुम्हारा पाणि ग्रहण किया है अतः आज से तुम पत्नी के पद को प्राप्त करो[2]।' इससे ऋग्वेद के समय में विधवा-विवाह की प्रथा का पता चलता है। कुछ विद्वान् उपर्युक्त अर्थ को स्वीकार नहीं करते परन्तु उनकी यह भ्रान्ति है। सायण ने भी उपर्युक्त अर्थ का ही प्रतिपादन किया है तथा इसी मत की पुष्टि की है[3]। अथर्व वेद ने एक

---

१. या कौमारं भर्तारमुत्सृज्यान्यैः सह चरित्वा तस्यैव कुटुम्बमाश्रयति सा पुनर्भूर्भवति। या च क्लीवं, पतितमुन्मत्तं वा भर्तारमुत्सृज्यान्यं पतिं विन्दते मृते वा सा 'पुनर्भूर्भवति ॥

वशिष्ठ ध० सू० १७।१८—२०

२. उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसंबभूथ ॥ ऋ. वे. १०।१८।८

३. त्वं हस्तग्राभस्य पाणिग्राहवतो दिधिषोः पुनर्विवाहेच्छोः पत्युरतज्जनित्वं जायात्वमभिसंवभूथ सम्यक् प्राप्नुहि। तै० आर० (६।१) पर सायण का भाष्य।

स्थान पर एक स्त्री के द्वारा दो बार विवाह करने का उल्लेख किया है१। इसी वेद से ज्ञात होता है कि पति - पत्नी दोनों को समान लोक की प्राप्ति होती है। अतः यह स्पष्ट है कि इस मन्त्र के द्रष्टा ऋषि की सम्मति में विधवा-विवाह अनुचित नहीं था। यदि ऐसा न होता तो वे कदापि विधवा का उसके द्वितीय पति से स्वर्ग में समागम का विधान नहीं बतलाते। अथर्व वेद के एक दूसरे मन्त्र में लिखा है "किसी स्त्री के दस पति भले ही हों परन्तु यदि ब्राह्मण उसका पाणि ग्रहण करता है तो वही उसका वास्तविक पति है क्षत्रिय या वैश्य नहीं। इसी तथ्य की घोषणा करता हुआ सूर्य प्रदक्षिणा करता है२। तैत्तिरीय संहिता (३।२।४।४) में 'दैधिषव्य'—जिसका अर्थ विधवा का पुत्र है—शब्द का उल्लेख मिलता है। ऋग्विधान में लिखा है कि देवर अपने मृत भाई की स्त्री को पुत्रोत्पत्ति के लिये बुलावे३। इन सब उद्धरणों से स्पष्ट रीति से प्रमाणित होता है कि वैदिक काल में विधवा - विवाह की प्रथा प्रचलित थी।

<u>गृह्य - सूत्रों में इसका उल्लेख</u>—गृह्य - सूत्रों में भी विधवा विवाह का उल्लेख पाया जाता है। वशिष्ठ ने लिखा है कि यदि पति परदेस चला जाय तो ब्राह्मण की स्त्री को चाहिये कि उसके लिये पाँच वर्ष तक प्रतीक्षा करे।

---

१. या पूर्वं पतिं वित्वा अथान्यं विन्दते पतिम्।
पञ्चौदनं च तौ अजं ददातो न वियोजतः॥
समानलोको भवति पुनर्भुवा अपरः पतिः।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणा ज्योतिषं ददाति॥ अ० वे० ९।५।२९

२. उत्यत् पतयो दशस्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः। ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा। ब्राह्मण एव पति न राजन्यो न वैश्यः। तत्सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः॥ अ० वे० ५।१७।८—९

३. भ्रातुर्भार्यामपुत्रस्य सन्तानार्थं मृते पतौ।
देवरोऽन्वारुरुक्षन्तीमुदीर्ष्वेति निवर्तयेत्॥ ऋ० वि० ३।८।४

उसके घर लौटने पर यदि उसकी पत्नी उसके पास नहीं जाना चाहती तो उसे किसी निकट के संबंधी से विवाह कर लेना चाहिये। यदि कुटुम्ब के भीतर ही कोई उपयुक्त व्यक्ति मिल जाय तो उसके बाहर विवाह नहीं करना चाहिये१। वशिष्ठ ने यहाँ पर पुनर्विवाह का वर्णन किया है न कि नियोग का, क्योंकि उन्होंने सन्तानवती स्त्री के लिये भी विवाह करने की आज्ञा दी है। बौधायन धर्म सूत्र (२।२।३१) से पता चलता है कि 'पौनर्भव' (पुनर्भू—विवाहिता विधवा का पुत्र) उस स्त्री के पुत्र को कहते थे जो अपने नपुंसक, जातिभ्रष्ट अथवा पागल पति को छोड़कर या प्रथम पति के मर जाने के बाद पुनः विवाह कर लेती थी। वशिष्ठ धर्मसूत्र (१७।१४) में 'पौनर्भव" संस्कार का वर्णन मिलता है। परन्तु गृह्य-सूत्रों में इनका विशेष उल्लेख न होने के कारण ऐसा ज्ञात होता है कि इस प्रथा का धीरे धीरे ह्रास होने लगा था।

स्मृतियों में तथा अन्य ग्रन्थों में उल्लेख—स्मृतियों में इस प्रथा का प्रचुर उल्लेख पाया जाता है। परन्तु स्मृतिकारों ने इसकी तीव्र निन्दा की है जिससे पता चलता है कि यह प्रथा समाज में दृढ़ मूल हो गयी थी। मनु ने स्वयं अक्षतयोनि बाल विधवा के पुनर्विवाह का उल्लेख किया है२। याज्ञवल्क्य ने पौनर्भव (पुनर्भू के पुत्र) को श्राद्ध के अवसर पर बुलाने

---

१. प्रोषितपत्नी पञ्च वर्षाण्युदीक्षेत। ऊर्ध्वं पञ्चभ्यो वर्षेभ्यो भर्तृसकाशं गच्छेत्। यदि धर्मार्थाभ्यां प्रवासं प्रति अननुकामा स्यात् यथा प्रेते एवं वर्तितव्यं स्यात्। एवं ब्राह्मणी पञ्च प्रजाता अप्रजाता चत्वारि। अत ऊर्ध्वं समानोदकपिण्डर्षिगोत्राणां पूर्वः पूर्वः गरीयान्। न तु खलु कुलीने विद्यमाने परगामिनी स्यात्। व० ध० सू० १७।६७।

२. सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागतापि वा।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा, पुनः संस्कारमर्हति॥ म० स्मृ० ९।१७६

का निषेध किया है१। अपरार्क ने बाल - विधवा के तथा ऐसी स्त्री—जो बलात्कार चुरा ली गई हो,—के पुनर्विवाह संस्कार का उल्लेख किया है२। नारद ने लिखा है कि "यदि पति परदेस चला जाय तो ब्राह्मण स्त्री को आठ वर्ष तक, परन्तु यदि पुत्र उत्पन्न न हो तो चार वर्ष तक प्रतीक्षा करनी चाहिये। इसके पश्चात् दूसरे पति से विवाह कर लेना उचित है। यदि प्रोषितपतिका स्त्री का पति जीवित हो तो प्रतीक्षा - काल की अवधि पूर्वोक्त से दूनी होनी चाहिये। यह प्रजापति की आज्ञा है। जब पति का कुछ भी पता न चले तो किसी दूसरे पति से विवाह कर लेना चाहिये३। मनु ने लिखा है कि धर्म कार्य के लिये परदेस गये हुए पति के लिये आठ वर्ष तक विद्या एवं यश के लिये जाने पर छः वर्ष, तथा दूसरी स्त्री से विवाह कर लेने पर तीन वर्ष तक प्रथम स्त्री को प्रतीक्षा करनी चाहिये४। कौटिल्य ने लिखा है कि प्रव्रजित, प्रवासी, तथा मृत पुरुष की

---

१. रोगी हीनातिरिक्ताङ्गः, काणः पौनर्भवस्तथा।
अवकीर्णी कुण्डगोलौ कुनखीश्यावदन्तकः॥ या० स्मृ० १।२२२

२. यदि सा बालविधवा, बलात् त्यक्ताथवा क्वचित्।
तदाभूयस्तु संस्कार्या, ग्रहीता येन केन चित्॥
अपरार्क (पृ० ९७) में ब्र० पु० का उद्धृत वचन।

३. अष्टौ वर्षाण्युदीक्षेत, ब्राह्मणी प्रोषितं पतिम्।
अप्रसूता च चत्वारि, परतोऽन्यं समाश्रयेत्॥
जीवति श्रूयमाणे तु, स्यादेषः द्विगुणोऽवधिः॥
अप्रवृत्तौ च भूतानां दृष्टिरेषा प्रजापते।
अतोन्यगमने स्त्रीणामेष दोषो न विद्यते॥
नारद (स्त्री पुंस० ९४।१०१)।

४. प्रोषितो धर्मकार्यार्थं, प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः।
विद्यार्थं षट्, यशोऽर्थं वा, कामार्थं त्रींस्तुवत्सरान्॥ म० स्मृ० ९।७६

स्त्री को सात ऋतुकाल तक प्रतीक्षा करना आवश्यक है। यदि उसे सन्तान हो तो एक वर्ष तक, परन्तु इसके पश्चात् उसे अपने पति के छोटे भाई से विवाह कर लेना उचित है। यदि कोई देवर न हो तो सपिण्ड के साथ अथवा उसी जाति के किसी भी दूसरे पुरुष से विवाह कर लेवे१। दमयन्ती की कथा से ज्ञात होता है कि जब अनेक वर्षों तक अपने पति का पता न चले तो वह स्त्री अपना पुनर्विवाह कर सकती है। ऐसी प्रसिद्धि है कि दमयन्ती ने ऋतुपर्ण के पास यह सन्देश भिजवाया था कि "चूंकि नल का बहुत वर्षों से पता नहीं चलता अतः दमयन्ती अपना स्वयम्वर पुनः करेगी।" इस सन्देश को पाकर ऋतुपर्ण ने सम्भवतः इसे एक साधारण घटना समझ कर कुछ आश्चर्य नहीं किया२।

पराशर ने निम्नांकित पांच अवस्थाओं में स्त्रियों को पुनर्विवाह करने का आदेश दिया है३। (१) यदि पति किसी कारण से नष्ट हो जाय। (२) मर जाय। (३) नपुंसक हो। (४) संन्यासी हो जाय तथा (५) पतित हो जाय। इस श्लोक के अर्थ के सम्बन्ध में पण्डितों में बड़ा वाद - विवाद है। वशिष्ठ ने लिखा है कि यदि वैवाहिक विधि हो गई हो परन्तु स्त्री अक्षतयोनि हो तो उसका पुनः विवाह - संस्कार हो सकता है४।

---

१. कौटिल्य—अर्थ शास्त्र ३।४

२. आस्थास्यति पुनर्भैमी दमयन्ती स्वयम्वरम्।
तत्र गच्छन्ति राजानो राजपुत्राश्च सर्वशः॥
तथा च गणितः कालः श्वोभूते संभविष्यति।
यदि संभावनीयं ते गच्छ शीघ्रमरिंदम॥ म० भा०, वनपर्व ७०।२४

३. नष्टे, मृते, प्रव्रजिते, क्लीवे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥ प० स्मृ० ४।३०

४. पाणिग्राहे मृते बाला; केवलं मन्त्रसंस्कृता।
साचेदक्षतयोनिः स्यात् पुनः संस्कारमर्हति॥ व० स्मृ० १७।६६

लघु शातातप का भी यही मत है कि ऐसी स्त्री वास्तव में कुमारी ही है और उसे पुनर्विवाह कर लेना चाहिये१। नारद ने ऐसी स्त्री को एक प्रकार की विलासिनी बतलाया है जो अपने प्रथम पति के मर जाने पर देवरों को छोड़कर भाग की लिप्सा से दूसरे पुरुष से विवाह कर लेती है२। इस विषय में महाभारत स्पष्ट घोषणा करता है कि यदि बाल-विधवा अपना पुनर्विवाह कर लेती है तो उसे कुछ भी दोष नहीं लगता और उससे उत्पन्न पुत्र देवताओं तथा पितरों-दोनों-को हव्य तथा कव्य देने का अधिकारी है३। इन सब प्रमाणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैदिक काल से लेकर स्मृतियों के समय तक विधवा विवाह की प्रथा प्रचलित थी।

जातकों में उल्लेख—बौद्ध ग्रन्थों में भी विधवा विवाह का उल्लेख पाया जाता है। उच्छङ्ग जातक में एक कहानी मिलती है जिसमें किसी स्त्री से पति, पुत्र तथा भाई इन तीनों में से किसी एक को पसन्द करने के लिए कहा गया है। उस स्त्री ने यह कर भाई ही को चुना कि पति तो राह चलते हुए भी अनेक मिल सकते हैं परन्तु भाई नहीं मिल सकता४। नन्द जातक में एक ऐसे पति का वर्णन मिलता है जो यह सोचकर कि मेरी मृत्यु के बाद मेरी स्त्री अपना दूसरा विवाह कर लेगी और मेरे पुत्र को कुछ भी धन न देगी, कांप उठता है५। इसी प्रकार अन्य बौद्ध ग्रन्थों में भी विधवा-विवाह का उल्लेख मिलता है।

१. उद्वाहिता च या कन्या; न संप्राप्ता च मैथुनम्।
भर्तारं पुनरभ्येति यथा कन्या तथैव सा॥ ल० शा० स्मृ० ५।४४

२. मृते भर्तरि सम्प्राप्तं देवरादीनपास्य या।
उपागच्छेत् परं कामात् सा द्वितीया प्रकीर्तिता॥ ना० स्मृ० १२।५०

३. पुनर्भूरपि सा कन्या सपुत्रा हव्यकव्यदा। म० भा० १३।५५।७

४. उच्छङ्गे देव मे पुत्तो पथे धावन्तिया पति।
तञ्च देसं न पस्सामि यतो सोदरियमानये॥ पालि जातकावली पृ० ७३

५. नन्द जातक, संख्या ३९।

ऐतिहासिक उल्लेख—इतिहास के विद्वानों से यह तथ्य छिपा हुआ नहीं है कि गुप्त वंश के सुप्रसिद्ध सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३७५–४१४ ई०) ने अपनी बड़े भाई की विधवा स्त्री ध्रुवदेवी से विवाह किया था तथा इस सम्बन्ध से उत्पन्न पुत्र का नाम कुमारगुप्त था जो बाद में गुप्त साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ१। विधवा-विवाह के उदाहरणों से भारतीय इतिहास भरा पड़ा है जिनका यहाँ उल्लेख करना सम्भव नहीं है।

कालान्तर में स्मृतिकारों द्वारा इस प्रथा का प्रचण्ड विरोध—शास्त्रों के अध्ययन से पता चलता है कि २०० ई० के बाद से विधवा-विवाह की प्रथा का धीरे धीरे ह्रास होने लगा था तथा स्मृतिकारों ने इसके विरुद्ध आवाज उठानी शुरु कर दी थी। स्मृतियों ने एक स्वर से इसका प्रचण्ड विरोध करना प्रारम्भ कर दिया था। इसके पहिले सूत्र-ग्रन्थों में भी कहीं कहीं पर इसकी निन्दा का उल्लेख मिलता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में लिखा है कि यदि कोई पुरुष कुमारी कन्या अथवा विवाहिता स्त्री से प्रसंग करता हैं तो इस कारण वह पाप का भागी है२। मनु ने विधवा-विवाह का विरोध करते हुये लिखा है कि साध्वी स्त्री के लिये दूसरे पति का विधान नहीं है। कन्या एक ही बार विवाह में दी जाती है तथा पाणि-ग्रहण वाले मन्त्र कन्याओं के ही लिये हैं३। मनु ने तो यहाँ तक लिखा

---

१. (क) डा० वासुदेव उपाध्याय—गुप्त साम्राज्य का इतिहास भाग १

(ख) चन्द्रगुप्तः भ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः...चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवी-वेषधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृतेन व्यापादितः॥ हर्ष चरित, उच्छ्वास ६

२. आप० ध० सू० २।६।१३।३-४

३. (क) न द्वितीयश्च साध्वीनां कश्चिद्भर्तोपदिश्यते। म. स्मृ. ५।१६२

(ख) सकृत् कन्या प्रदीयते। वही ९।४७

(ग) पाणिग्रहणिकाः मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः।
नाकन्यासु क्वचित् नृणां, लुप्तधर्मक्रियाः हि ताः॥ वही ८।२२६

(घ) न विवाहविधौ युक्तं विधवावेदनं पुनः। वही ९।६५

है कि विधवा स्त्री को चाहिये कि पति की मृत्यु हो जाने पर काम-वासना से प्रेरित होकर पर-पुरुष के नाम का भी उच्चारण न करे१। ब्रह्मपुराण ने कलियुग में पुनर्विवाह का निषेध किया है२। विष्णु ने विधवाओं को ब्रह्मचारिणी रहने का आदेश दिया है। नारद (१२।२८) ने विधवा के लिये केवल एक ही बार विवाह करना श्रेष्ठ बतलाया है। महाभारत युद्ध के अन्तिम दिन सन्धि कर लेने के लिये प्रार्थना करने पर दुर्योधन कहता है कि मैं अब पृथ्वी का उसी प्रकार से उपभोग नहीं करना चाहता जिस प्रकार कोई पुरुष किसी विधवा स्त्री का उपभोग करने में असमर्थ होता है३।

ईसा की ६०० ई० के बाद से तो विधवा-विवाह के प्रति समाज का विद्रोह और भी अधिक बढ़ने लगा और इसे अत्यन्त दूषित दृष्टि से देखा जाने लगा। प्राचीन स्मृतिकारों ने विधवा-विवाह की जो आज्ञा दी थी उसका समर्थन यह कह कर किया जाने लगा कि वह कलियुग को छोड़कर अन्य युगों के लिये ही उपयुक्त है क्योंकि कलियुग में इसको वर्ज्यं बतलाया गया है। आदित्य पुराण में लिखा है कि विधवा-विवाह गोबध, नियोग तथा संन्यास-ग्रहण आदि पाँच वस्तुयें कलियुग में अत्यन्त निषिद्ध हैं४। लघु आश्वलायन ने लिखा है कि प्राचीन काल में विधवा-विवाह धर्म था

---

१. कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥ म० स्मृ० ५।१५७

२. स्त्रीणां पुनर्विवाहस्तु देवरात्पुत्रसन्ततिः।
स्वातन्त्र्यं च कलियुगे कर्तव्यं न कदाचन ॥ अपरार्क पृ० ९७ में
ब्रह्म पुराण का वचन।

३. क्षीणरत्नां च पृथिवीं हतक्षत्रियपुंगवाम्।
न हि उत्सहाम्यहं भोक्तुं विधवामिव योषितम् ॥ म० भा० ९।३१।४५

४. ऊढायाः पुनरुद्वाहं; ज्येष्ठांशं, गोबधं तथा।
कलौ पञ्च न कुर्वीत भ्रातृजायां, कमण्डलुम् ॥
प० मा० (४।३०) में आ० पु० का उद्धरण

परन्तु कलि में यह निन्द्य बतलाया गया है[१]। माधवाचार्य ने पराशर स्मृति (४।३०) की टीका में लिखा है कि यह धर्म दूसरे काल के लिये है। कलियुग के लिये यह उचित नहीं है[२]। मनु तथा याज्ञवल्क्य दोनों ने विधवा - स्त्री के लड़के को श्राद्ध में बुलाने का निषेध किया है।

लगभग १००० ई० के पश्चात् हिन्दू समाज में पवित्रता तथा शुचिता पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया जाने लगा तथा बाल - विधवाओं का भी विवाह निषिद्ध कर दिया गया। देवनभट्ट (११५० ई०) ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि अक्षतयोनि विधवा के विवाह का जो विधान किया गया है वह कलियुग में उचित नहीं है[३]। धीरे - धीरे 'विधवा' शब्द के अर्थ का भी विस्तार किया जाने लगा और यहाँ तक घोषणा की गई कि शब्द से ही दी गयी नहीं, अपितु मन से भी किसी पुरुष को दी गयी कन्या को विवाहिता ही समझना चाहिये[४]।

धर्म-शास्त्रकारों ने ऐसी भी व्यवस्था देने में कोई संकोच नहीं किया है कि "यदि संयोग से किसी स्त्री का पति विवाह संस्कार होने के पहिले ही मर जाय तो उसको भी विधवा ही समझना चाहिये और उसका पुनर्विवाह नहीं हो सकता।" लघु आश्वलायन ने लिखा है कि यदि गलती से कोई ... ऐसी 'विधवा' से विवाह कर ले तो उसे इसके लिये प्रायश्चित करना

---

१. युगान्तरे स धर्मः स्यात्कलौ निन्द्यः इति स्मृतः। ल० आ० २१।१४

२. अयं च पुनरुद्वाहो युगान्तरविषयः ॥ प० स्मृ० की टीका

३. एवं च यानि संस्कारादूर्ध्वमक्षतयोन्याः पुनरुद्वाहपराणि तानि युगान्तराभिप्रायाणीति मन्तव्यम् ॥ स्मृ० च० (सं० का०) पृ० २२१

४. सप्त पौनर्भवाः कन्याः वर्जनीयाः कुलाधमाः।
वाचा दत्ता मनोदत्ता कृतकौतुकमङ्गला ॥ स्मृ० च० (पृ० २०२)

चाहिये और उस स्त्री का परित्याग कर देना चाहिये क्योंकि ऐसा विवाह निषिद्ध समझा जाता है१। महाभारत से ज्ञात होता है कि जीवन पर्यन्त स्त्री का केवल एक ही पति होता है। यदि वह उसके जीवित रहते अथवा मर जाने पर, दूसरे पति से विवाह करती है तो वह निश्चय ही पतित हो जाती है२।

इस प्रकार से स्मृति, पुराण, तथा अन्य ग्रन्थों में विधवा - विवाह का तीव्र विरोध पाया जाता है। प्राचीन गृह्यसूत्रकारों तथा स्मृतिकारों ने बाल - विधवाओं की दुर्दशा को ध्यान में रख कर उनकी दशा से सहानुभूति दिखलाते हुये उनके विवाह करने का आदेश दिया था। परन्तु पीछे के स्मृतिकारों ने अक्षतयोनि बाल - विधवाओं का भी विवाह निषिद्ध कर दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी आदेश दिया कि यदि वचन के द्वारा अथवा मन से भी कन्या को किसी पुरुष को विवाह में देने का संकल्प कर लिया गया हो तो विवाह - संस्कार न होने पर भी उस कुमारी कन्या को विवाहिता ही समझना चाहिये और उसका पुनर्विवाह कदापि नहीं करना चाहिये।

वर्तमान अवस्था—स्मृतियों के द्वारा इस प्रथा के प्रचण्ड विरोध का परिणाम यह हुआ कि समाज में विधवा - विवाह घृणित तथा कुत्सित दृष्टि से देखा जाने लगा। यह अत्यन्त हेय तथा गर्हित कर्म समझा जाने लगा। यदि कोई इसे करने का साहस भी करता था तो स्मृतियों के

---

१. अज्ञातस्तु द्विजो यस्तु विधवामुद्वहेत् यदि।
परित्यज्य च वै तां च, प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥ ल० आ० २१।६

२. एक एव पतिर्नार्याः यावज्जीवं परायणम्।
मृते जीवति वा तस्मिन्नापरं प्राप्नुयात् पतिम् ॥
अभिगम्य परं नारी, पतिष्यति न संशयः।
अपतीनां तु नारीणामद्यप्रभृति पातकम् ॥ म० भा० १।१०४।३५-३६

द्वारा पतित हो जाने की आशंका तो रहती हो थी, इसके साथ ही साथ, समाज के द्वारा भी दण्डित होने का भय बना रहता था। ऐसी दशा में कौन अपने ऊपर विपत्ति मोल लेता? अतः समाज में इस प्रथा का क्रमशः ह्रास होता गया। आजकल उच्च जातियों में विधवा-विवाह अत्यन्त निषिद्ध समझा जाता है। कोई भी उच्च कुलाभिमानी पुरुष इसे करना उचित नहीं समझता। यदि कोई विधवा - विवाह कर लेता है तो वह घृणा की दृष्टि से देखा जाता है और उसे जाति से बहिष्कृत कर देते हैं। कितने ही लोग अपनी प्राण - प्यारी पुत्रियों के शीघ्र ही विधवा होने के कारण, उनके दुःख को देखकर दिल मसोस कर रह जाते हैं परन्तु समाज के डर तथा कुल में कलंक लगने के कल्पित भय के कारण उनके पुनर्विवाह की बात भी नहीं सोच सकते। कुछ स्मृतिकारों ने बाल - विधवाओं का विवाह शास्त्र-सम्मत बतलाया था परन्तु आजकल अक्षतयोनि विधवाओं का भी विवाह गर्हित तथा निन्द्य कृत्य समझा जाता है। साठ बरस के बूढ़े बाबा अपना सातवां या आठवाँ विवाह, हिन्दू समाज को बिना कलंकित किये कर सकते हैं परन्तु दुधमुहीं बाल - विधवा का भी विवाह इस समाज को रसातल तक पहुँचाने में पर्याप्त समझा जाता है। उच्च वर्णं की जातियों में प्रचलित इस निषेधाज्ञा का प्रभाव अब तथाकथित नीच वर्णं की जातियों पर भी पड़ने लगा है और वे भी उच्च वर्णों से अपनी समता करने के लिये इस प्रथा को बुरी दृष्टि से देखने लगी हैं।

परन्तु विधवा - विवाह के निषेध की प्रथा साधारणतया उच्च जातियों में ही सीमित है। तथाकथित नीच जातियों में आज भी विधवा - विवाह का प्रचार हैं तथा उनके समाज में इसे तनिक भी दूषित नहीं समझा जाता। नीच जातियों में विधवा - विवाह एक साधारण घटना समझी जाती है। यहाँ तक कि पति के मरने के पश्चात् विधवा स्त्री अपना विवाह शीघ्र ही किसी दूसरे व्यक्ति से कर लेती है। इन जातियों में अक्षत-योनि

विधवाओं की तो बात ही क्या, सन्तानवती विधवा स्त्रियों का भी विवाह होता है। स्टील ने लिखा है कि शूद्रों तथा दूसरी नीच जातियों में विधवा - विवाह की प्रथा प्रचलित है१। इन जातियों में पुनर्विवाह पति के मर जाने पर अथवा उसकी जीवितावस्था में ही उसकी लिखित सम्मति - जिसे फर्खत कहते हैं—से किया जाता है। उत्तर प्रदेश में चमार भंगी, दुसाध, अहीर, गोड़ तथा मुसहर आदि जातियों में विधवा - विवाह की प्रथा आज भी पायी जाती है।

<u>विधवाओं की संख्या</u>—शास्त्रकारों के द्वारा निषिद्ध तथा समाज के द्वारा गर्हित एवं निन्दित विधवा - विवाह के निषेध का दुष्परिणाम यह हो रहा है कि विधवाओं की संख्या दिन पर दिन बढ़ती चली जा रही है। सन् १९३१ ई० की जनसंख्या गणना के अनुसार विधवाओं की अत्यधिक संख्या को देखकर किसे आश्चर्य नहीं होगा? इस गणना के अनुसार समस्त भारतवर्ष में १ वर्ष से कम अवस्था वाली हिन्दू विधवाओं की संख्य १५१५ थी; ५ वर्ष तक की विधवाओं की संख्या २३,६६७; ५ से १० वर्ष की ८३९२०, ११ से १५ वर्ष तक की १४५४४९ तथा १६—२० वर्ष तक की विधवाओं की संख्या ४०, ४१, ६७ थी२। ये आँकड़े केवल हिन्दू विधवाओं के ही हैं। विधवाओं की इस तालिका को देखने से पता चलता है कि हिन्दू समाज में इनकी संख्या कितनी अधिक है। इससे बाल - विवाह की कुत्सित प्रथा पर भी प्रचुर प्रकाश पड़ता है। संसार के किसी भी देश में एक वर्ष की बाल - विधवा का मिलना हास्यास्पद हो नहीं नितान्त असम्भव भी है।

---

१. स्टील (Steele)—ला एण्ड कस्टम आफ हिन्दू कास्ट्स पृ० २६

२. सेन्सस आफ इण्डिया १९३१; भा० १, पार्ट २, इम्पीरियल टेबुल्स पृ० १२०—२२।

विधवा - विवाह निषेध के दुष्परिणाम—जब से स्मृतिकारों ने विधवा-विवाह की प्रथा का निषेध किया तथा इसके फलस्वरूप ऐसे विवाह बन्द हो गये, तब से हिन्दू समाज में अनेक बुराइयाँ आ गयी हैं। प्राचीन काल में इस प्रथा के निषिद्ध हो जाने पर विधवाओं को विवश होकर सदाचार का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। युवती विधवायें जो ब्रह्मचर्य के साथ अपना शेष जीवन व्यतीत करने में अपने को असमर्थ पाती थीं, वे पति के साथ जल कर मर जाना ही उत्तम समझने लगी। पति की मृत्यु के पश्चात् तपस्या तथा साधना का जीवन व्यतीत करना उनके लिये कठिन था। इस प्रकार सती की प्रथा को प्रोत्साहन मिलने लगा। जो स्त्रियाँ इस भयंकर अग्नि काण्ड में अपने शरीर को न तो भस्मसात् करने में समर्थ थीं और न पतिव्रता के उच्च आदर्श का ही पालन कर सकती थीं तथा तपस्या का जीवन व्यतीत करने में अपने को असमर्थ पाती थीं वे दुराचार का मार्ग ग्रहण करने लगीं। ऐसी स्त्रियों को काम-वासना से प्रेरित होकर दूषित कर्म करना पड़ता था। कामशास्त्र के अध्ययन से पता चलता है उस समय में जो विधवा स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य-पूर्ण जीवन व्यतीत करने में अपने को अक्षम पाती थीं वे धनी पुरुषों के पास चली जाती थीं जो विवाह - संस्कार के बिना ही उनको स्त्री के रूप में ग्रहण कर लेते थे। यदि वे वहाँ अपना निर्वाह नहीं देखती थी तब किसी दूसरे पुरुष की रक्षिता बन जाती थी[१]। न मालूम ऐसी कितनी ही विधवायें उस समय समाज में होगी जो इस प्रकार से अनाचार का जीवन व्यतीत करती होगीं। इस प्रकार प्राचीन काल में विधवा - विवाह के निषेध से सती प्रथा की वृद्धि तथा व्यभिचार का प्रचार हुआ।

---

१. विधवा त्विन्द्रियदौर्बल्यादातुरा भोगिनं गुणसम्पन्नं विन्देत।
सौख्यार्थिनी सा किलान्यं विन्देत। का० शा० ४।२।३९, ४१

(१) जातीय शक्ति का ह्रास—राष्ट्रीय तथा सामाजिक दृष्टि से विचार करने से यह स्पष्टतया प्रतीत होता है कि विधवा - विवाह का निषेध राष्ट्र का बल तथा हिन्दू जाति की शक्ति का ह्रास करने वाला है। गत पृष्ठों में विधवाओं के जो आँकड़े दिये गये हैं उनसे यह सहज ही में अनुमान किया जा सकता है कि हमारे देश में इनकी संख्या कितनी अधिक है। यदि इन्हें पुनर्विवाह की आज्ञा दे दी जाय तो राष्ट्रीय शक्ति का कितनी वृद्धि होगी। जहाँ अन्य देशों में अधिक सन्तान उत्पन्न करने के लिये प्रोत्साहन तथा पुरस्कार दिया जाता है तथा 'बैचेलर टैक्स' लगा कर युवा पुरुषों को विवाह के लिये बाधित किया जाता है, वहाँ हिन्दू - समाज में विवाह करने के लिये इच्छुक विधवाओं को इसका निषेध किया जाता है। किम्बहुना अक्षतयोनि बाल - विधवाओं — जिन्हें कुछ स्मृतिकारों ने कन्या माना है—को विवाह की आज्ञा प्रदान न कर जातीय वृद्धि पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है।

(२) व्यभिचार की वृद्धि—विधवा - विवाह का निषेध करने से समाज में व्यभिचार की भी वृद्धि हो रही है। इस विषय में कामसूत्र का उल्लेख किया जा चुका है। आजकल जो स्त्रियाँ विधवा के आदर्श धर्म का पालन करने में असमर्थ होती हैं तथा ब्रह्मचर्य पूर्वक नहीं रह सकती वे अनाचार के मार्ग में पैर रखती हैं और भ्रूण-हत्या का पातक अपने सिर पर लेती है। जो स्त्रियाँ अधिक साहसी हैं वे घर के कष्टों से तंग आकर रूप - हाट की शरण लेती हैं और कुत्सित जीवन व्यतीत करती हुई हिन्दू - समाज को कलंकित करती है। यतीन्द्र मोहन दत्त ने माडर्न रिव्यू में कलकत्ते की कुछ वेश्याओं के आँकड़े इकट्ठे कर यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि वेश्या - वृत्ति ग्रहण करने वाली इन स्त्रियों में से ७५ प्रतिशत हिन्दू विधवायें हैं। समाज में आज कितनी ही भ्रूण हत्यायें तथा गर्भपात होते हैं इनका अनुमान करना भी कठिन है।

(३) विधवाओं की दुर्दशा—आजकल विधवा-विवाह के अभाव के कारण अनेक दुष्परिणाम हो रहे हैं। जब पति की मृत्यु हो जाती है तब उस विधवा के घर वाले उसके साथ अनेक प्रकार का अत्याचार करने लगते हैं। हिन्दू-समाज में विधवाओं का दाय में कुछ विशेष अधिकार न होने के कारण उन्हें सभी लोग उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। न तो घर में ही उनका आदर होता है और न बाहर ही। घर में उसे केवल भोजन देना ही पर्याप्त समझा जाता है। हिन्दू विधवा अमंगल की मूर्ति और अभिशाप समझी जाती है। किसी धार्मिक तथा माङ्गलिक कार्य में वह भाग नहीं ले सकती। अधिक तो क्या, शुभ अवसरों पर उसका मुख देखना भी पाप समझा जाता है। यदि विधवा स्त्री के बाल-बच्चे हुये तब तो वह अपना दिन किसी प्रकार से काट भी लेती है परन्तु बाल-विधवा के लिये अपना दिन काटने का कोई भी उपाय या अवलम्ब नहीं है। वह घर के किसी कोने में बैठी हुयी अपने दुःखी जीवन के दिनों को गिना करती है। कितनी स्त्रियाँ अपने नारकीय जीवन के कष्टों से ऊब कर आत्महत्या कर लेती हैं और इस प्रकार अपने वैधव्य का अन्त कर देती हैं। मनु ने लिखा है जिस कुल में स्त्रियाँ शोक करती हैं या दुःख पाती है उस कुल का शीघ्र ही नाश हो जाता है[१]। आज हिन्दू-समाज में विधवा स्त्रियों की प्रायः यहीं दशा है।

परन्तु धीरे धीरे विधवाओं की दशा में सुधार होने लगा है। अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से स्मृतियों की आज्ञा की अवज्ञा कर कुछ लोग विधवा विवाह करने लगे हैं। संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के भगीरथ प्रयास से सन् १८५३ ई० में हिन्दू विधवा पुनर्विवाह कानून (Hindu Widow remarriage Act) पास हुआ था

१. नारयो यत्र शोचन्ति विनशत्याशु तत्कुलम्। म० स्मृ०

जिससे हिन्दू विधवाओं का पुनः विवाह वैध (जायज़) माना गया है। अंग्रेजी शिक्षा के कारण समाज की प्रवृत्ति अब शनै - शनै बदल रही हैं। लोग तर्क का आश्रय लेकर प्राचीन स्मृतियों के आदेश को पालन करने के लिये उद्यत नहीं हैं। अतः आशा है कि निकट भविष्य में विधवाओं की दशा में सुधार होगा और वे भी समाज में उचित सम्मान तथा आदर की अधिकारिणी हो सकेंगी।

विधवा के धर्म—हिन्दू शास्त्र - कारों ने विधवाओं के कर्तव्य के ऊपर बहुत ज़ोर दिया है। जो विधवायें अपने पति के साथ सती होने में असमर्थ होती थीं उन्हें शुद्ध आचरण के द्वारा सात्विक जीवन व्यतीत करने का आदेश स्मृतिकारों ने दिया है। उनके लिये विभिन्न व्रतों तथा उपवासों का विधान किया गया है। इन सब नियमों के विधान का आशय यही था कि विधवा स्त्रियाँ सदाचारिणी बनी रहें तथा उनके द्वारा समाज में अनाचार का प्रचार न हो। इसमें सन्देह नहीं कि इस उद्देश्य में धर्म - शास्त्रकारों को अभूत पूर्व सफलता प्राप्त हुई।

बौधायन ने विधवा के धर्म का वर्णन करते हुये लिखा है कि उसे पति की मृत्यु के बाद एक वर्ष तक मधु, मांस, मदिरा तथा नमक नहीं खाना चाहिये और ज़मीन पर ही सोना चाहिये। मौद्गल्य के मत से उसे यह नियम छः मास तक पालन करना चाहिये[१]। वशिष्ठ ने भी इस मत का प्रतिपादन किया है[२]। मनु ने लिखा है कि "पति के मर जाने पर स्त्री को चाहिये कि कन्द, मूल तथा फल का भोजन करते हुए अपने शरीर को कृश कर दे परन्तु उसे कभी भी पर - पुरुष का नाम भी नहीं लेना चाहिये। अपनी मृत्यु तक उसे क्षान्त, व्रतशील तथा ब्रह्मचारिणी रहना चाहिये और पतिव्रता स्त्रियों के आदर्श चरित्र का

---

१. संवत्सरं प्रेतपत्नी मधुमांसमद्यलवणानि वर्जयेदधः शयीत्।
षण्मासानिति मौद्गल्यः। बौ० ध० सू० २।२।६६–६८

२. व० ध० सू० १७।५५—५६

का पालन करना चाहिये। पति की मृत्यु के पश्चात् यदि स्त्री ब्रह्मचारिणी रहती है तो पुत्रहीन होने पर भी, वह उसी प्रकार स्वर्ग को जाती है जैसे ब्रह्मचारी१।" कात्यायन का मत हैं कि पुत्र से रहित जो विधवा स्त्री पति की शय्या का पालन करती हुई, व्रत तथा उपवास में लगी हुई, अपनी इन्द्रियों का दमन करके ब्रह्मचारिणी के समान जीवन व्यतीत करती है वह स्वर्ग की अधिकारिणी होती है२। पराशर ने भी इसी उपर्युक्त कथन का समर्थन किया है३। बृहस्पति का मत है कि स्त्री पुरुष का आधा शरीर है। यदि वह पति की मृत्यु पर सती हो जाती है अथवा सदाचारिणी रह कर जीवित रहती है तो दोनों दशाओं में वह पति का आध्यात्मिक लाभ ही करती है४। वृद्ध हारीत ने बड़े विस्तार

---

१. कामं तु क्षपयेत् देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु॥
आसीतामरणात्क्षान्ता, नियता, ब्रह्मचारिणी।
यो धर्मः एकपत्नीनां, काङ्क्षन्ति तमनुत्तमम्॥
मृते भर्तरि, साध्वी स्त्री; ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः॥ म० स्मृ० ५।१५७,५८,६०

२. अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती गुरौ स्थिता।
भुंजीतामरणात्क्षान्ता दायादाः ऊर्ध्वमाप्नुयुः॥
व्रतोपवासनिरता ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
दमदानरताः नित्यं अपुत्रापि दिवं व्रजेत्॥
वी० मि० (पृ० ६२६—२७) में कात्यायन का वचन

३. मृते भर्तरि या नारी ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता।
सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः॥ प० स्मृ० ४।३१

४. शरीरार्धं स्मृता जाया; पुण्यापुण्यफले समा।
अन्वारूढा, जीवती च; साध्वी भर्तुर्हिताय सा॥
अपरार्क (पृ० १११) में बृहस्पति का उद्धरण

के साथ उन समस्त कर्तव्यों का वर्णन किया है जिन्हें विधवा स्त्री को अपने जीवन पर्यन्त पालन करना चाहिये। उन्होंने लिखा है कि विधवा स्त्री अपने बालों का प्रसाधन न करे; ताम्बूल, गन्ध, पुष्प, भूषण तथा रंगीन वस्त्रों का सेवन न करे। कांसे के बर्तन में भोजन न करे; दिन में केवल दो बार भोजन करे, आँखों में अञ्जन न लगावे और इन्द्रियों को जीत कर, सफेद वस्त्रों को धारण करती हुई अपना समय बितावें। वह छल, छिद्रों से दूर रहे; आलस्य रहित होकर शुद्ध आचरण से नित्य भगवान् की पूजा करे। पवित्र स्थान पर, कुश की चटाई बिछा कर, रात्रि में ज़मीन पर ही शयन करे तथा ध्यान, योग और सज्जनों की सङ्गति में ही रहे। वह जब तक जीवित रहे तब तक तपस्या पूर्वक काल यापन करे। यदि वह रजस्वला हो तो उसे निराहार ही रहना चाहिए[१]"। बाण ने भी विधवा के लिये के लिये आँखों में अंजन तथा रोचन न लगाने का वर्णन किया है[२]। प्रचेतस ने यति और विधवा दोनों के

---

१. केशरंजनताम्बूलगन्धपुष्पादिसेवनम्।
भूषणं, रङ्गवस्त्रं च; कांस्यपात्रेषु भोजनम्॥
द्विवारभोजनं चाक्ष्णोरंजनं वर्जयेत् सदा।
स्नात्वा, शुक्लाम्बरधरा; जितक्रोधा, जितेन्द्रिया॥
नकल्ककुहका साध्वी; तन्द्रालस्यविवर्जिता।
सुनिर्मला, शुभाचारा; नित्यं संपूजयेत् हरिम्॥
क्षितिशायी, भवेद्रात्रौ; शुचौ देशे कुशोत्तरे।
ध्यानयोगपरा नित्यं; सतां सङ्गे व्यवस्थिता॥
तपश्चरणसंयुक्ता यावज्जीवं समाचरेत्।
तावत्तिष्ठेन्निराहारा भवेद्यदि रजस्वला॥

वृद्धहारीत स्मृति ११।२०६—१०.

२. जनितवेणीबन्धानि, निरंजनरोचनारोचींषि, चपकमधुनि मुखकमलप्रतिबिम्बानि अदृश्यन्त भटीनाम्। हर्ष चरित, उ० ६

लिये पान खाने, सुगन्धित द्रव्यों के साथ स्नान करने तथा कांस्यपात्र में भोजन करने का निषेध किया है[१]। स्कन्द पुराण के काशी खण्ड में "विधवा धर्म" का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। यह विवेचन अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इसमें लिखा है[२] कि "विधवा के द्वारा चोटी बाँधने से उसके पति का बन्धन होता है; इसलिये विधवा को अपने सिर के बालों को सदा मुँडवा देना चाहिये। उसे केवल एक बार भोजन करना चाहिये; उसे एक मास तक उपवास या चान्द्रायण व्रत करना चाहिये। जो विधवा शय्या पर सोती है उसका पति नरक में बास करता है। उसे शरीर में सुगन्धित द्रव्य नहीं लगाना चाहिये। उसे प्रतिदिन तिल, कुश और जल लेकर पति का तर्पण करना चाहिये।

---

१. ताम्बूलाभ्यञ्जनं चैव; कांस्यपात्रे च भोजनम्।
यतिश्च ब्रह्मचारी च; विधवा च विवर्जयेत्॥
स्मृ० च० (पृ० २२२) में प्रचेतस का उद्धरण

२. विधवा कवरीबन्धो; भर्तृबन्धाय जायते।
शिरसो वपनं तस्मात्; कार्यं विधवया तथा॥
एकाहारः सदा कार्यो; न द्वितीयः कदाचन।
मासोपवासं वा कुर्याच्चान्द्रायणमथापि वा॥
पर्यङ्कशायिनी नारी; विधवा पातयेत् पतिम्।
नैवाङ्गोद्वर्तनं कार्यं; स्त्रिया विधवया क्वचित्॥
गन्धद्रव्यस्य संभोगो नैव कार्यस्तया पुनः।
तर्पणं प्रत्यहं कार्यं; भर्तुस्तिलकुशोदकैः॥
नाधिरोहेदनड्वाहं; प्राणैः कण्ठगतैरपि।
कञ्चुकं न परिदध्यात्; वासो न विकृतं वसेत्॥
वैसाखे, कार्तिके, माघे; विशेषनियमं चरेत्।
स्कन्द पुराण, काशी खण्ड ४।७५—।

प्राणों के कण्ठ तक चले आने पर भी उसे बैलगाड़ी में नहीं बैठना चाहिये; उसे चोली नहीं पहननी चाहिये तथा रंगीन वस्त्रों को धारण नहीं करना चाहिये। उसे वैशाख, कार्तिक तथा माघ मास में विशेष नियम से रहना चाहिये।" स्मृतिमुक्ताफल में लिखा है कि विधवा ब्रह्मचारियों तथा संन्यासियों के लिये पान खाना मांस भक्षण करने के समान है[१]।

ऊपर विधवाओं के धर्म का जो वर्णन किया गया है उससे ज्ञात होता है कि हमारे धर्म-शास्त्रकार समाज को पवित्र तथा दोष रहित रखने के लिये कितने चिन्तित तथा प्रयत्नशील थे। उन्होंने विधवाओं के लिये इन कठोर नियमों तथा व्रतों का विधान कर उन्हें सदाचार से रहते हुये जीवन विताने का मार्ग दिखाया था। हिन्दू-समाज स्त्रियों के पावन चरित्र के बल पर ही आज तक ऊँचा उठा हुआ है। इसी आदर्श चरित्र को स्थिर बनाये रखने के लिये स्मृतिकारों ने इन नियमों के पालन करने की व्यवस्था की थी। परन्तु इन स्मृतिकारों ने यदि ऐसे ही नियमों की व्यवस्था पुरुषों के लिए भी की होती तो सचमुच हिन्दू समाज की पवित्रता एक आदर्श के रूप में समझी जाती। परन्तु एक ओर जहां इन धर्मशास्त्रियों ने विधवा को पर-पुरुष का नाम लेने पर भी पातकी ठहराया है वहाँ पुरुषों के द्वारा दो, तीन, चार और इससे भी अधिक विवाह कर लेने में भी कोई आपत्ति नहीं की है। यदि पुरुष अपनी स्त्री के मर जाने पर ब्रह्मचारी नहीं रह सकता तो एक अक्षतयोनि बाल-विधवा के लिए ऐसा कठोर नियम बनाना कहाँ तक उचित कहा जा सकता है? जिस काम-वासना को बड़े बड़े ऋषि-मुनि (ऋङ्गी आदि) नहीं दबा सके उसे तरुणी स्त्रियाँ कैसे दबा सकती हैं?

---

१. ताम्बूलोऽर्भकस्त्रीणां; यतीनां, ब्रह्मचारिणाम्।
एकैकं मांसतुल्यं स्यात्; मिलितं तु सुरासमम् ॥स्मृ० मु० पृ० १६१

विधवाओं द्वारा इन नियमों का पालन—परन्तु सन्तोष के साथ यह कहा जा सकता है कि हिन्दू विधवाओं ने इन अत्यन्त कठोर तथा अमानुषिक नियमों के पालन करने में कभी भी त्रुटि नहीं दिखलायी तथा इनका अक्षरशः पालन किया। इन्होंने अपने शरीर को तपस्या तथा उपवास से सुखा कर कांटा कर दिया, अपनी आत्मा को अनेक कष्ट पहुँचाया, अपने दुर्बल देह पर अनेक कष्ट झेले परन्तु शास्त्रों के द्वारा उपदिष्ट नियमों के पालन में कभी कमी नहीं होने दी। सावित्री ने अपने मृत पति को अपनी कठोर तपस्या से पुनर्जीवित कर दिया था। इतिहास तथा पुराण में ऐसी विधवाओं के अनेक उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने इन क्रूर नियमों का पालन करते हुये अपने दुःखी वैधव्य जीवन के कष्टमय दिनों को काट कर बिताया। आजकल भी विधवायें शास्त्रों के उपर्युक्त वचनों का पालन करती हैं। आज भी उच्च वर्ण की विधवायें पति की मृत्यु के उपरांत मांस, ताम्बूल तथा तामसिक भोजन का परित्याग कर देती हैं; रंगीन वस्त्र नहीं पहनती, बालों का प्रसाधन नहीं करती; आँखों में अंजन नहीं लगाती तथा शैय्या पर शयन नहीं करतीं। बंगाल में विधवाओं को इन नियमों का बड़ी कठोरता से पालन करना पड़ता है। वे विधवा होने पर मछली—जो उनका प्रायः दैनिक भोजन है—भी खाना छोड़ देती हैं। भारत के अन्य प्रान्तों में भी इन नियमों का यथा-विधि पालन किया जाता है।

विधवाओं का मुण्डन—प्राचीन काल में विधवाओं का मुण्डन होता था या नहीं यह प्रश्न विवादग्रस्त है। कुछ विद्वानों का कहना है कि यह प्रथा वैदिक काल में भी प्रचलित थी परन्तु आधुनिक विद्वानों का मत इसके विपरीत हैं। इनके मत से वेदों तथा गृह्यसूत्रों में कहीं भी इस प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता। केवल दशवीं शताब्दी के बाद से यह प्रथा हिन्दू समाज में प्रचलित हुयी। इस काल के पश्चात् के स्मृतिकारों ने इसका विधान किया है। इस प्रथा के अस्तित्व को स्वीकार

करने वाले विद्वान् ऋग्वेद१ (१०।४०।२,) आ० म० पा०२ (१।४।६) तथा अथर्ववेद३ (१४।२।६०) के मन्त्रों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि वैदिक काल में विधवाओं का मुण्डन होता था। ऋग्वेद (१०।४०।२) में केवल विधवा का नामोल्लेख मात्र मिलता है। उसमें कहीं भी मुण्डन का उल्लेख नहीं पाया जाता। आ० म० पा० में 'विकेशी' शब्द आया है जिसका अर्थ विद्वान् 'विगत केशी' करते हैं। परन्तु पूर्वापर विचार करने पर इसका अर्थ 'विकीर्ण' केशी' (बिखरे हुये बाल वाली) है। अथर्ववेद के उपर्युक्त मन्त्र में विवाह का वर्णन हुआ है और इसका अर्थ यह है कि "यदि तुम्हारी यह पुत्री बिखरे हुये बालों वाली, वियोग के समय, रोने से कुछ बुराई या पाप की होगी तो अग्नि और सविता उसे इस पाप से मुक्त कर दें।" यहाँ पर 'विकेशी' का अर्थ मुण्डित कदापि नहीं हो सकता क्योंकि यह प्रसंग के विरुद्ध है। सायण ने इस शब्द की व्याख्या नहीं की है परन्तु अथर्ववेद के एक दूसरे मन्त्र (११।६।१४) का भाष्य करते हुये उन्होंने 'विकेशी' का अर्थ 'विकीर्ण केशी' अर्थात् विलुलित केश वाली स्त्री किया है। कुछ सनातनी पण्डित निरुक्त (३।१५) में प्रयुक्त विधवा शब्द की

---

१ कुह स्विद् दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः।
को वा शयुत्रा विधवेव देवरं मर्त्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ॥
ऋग्वेद १०।४०।२।

२. मा ते गृहे निशि घोष उत्थादन्यत्र त्वद्रुदत्यः संविशन्तु।
मा त्वं विकेश्युर आवधिष्ठा जीवपत्नी पतिलोके विराज पश्यन्ती
प्रजां सुमनस्यमानाम्। आ० म० पा० १।४।९

३. यदीयं दुहिता तव विकेश्यरुदद्गृहे रोदेन कृण्वत्यघम्।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्रमुञ्चतात्॥
अ० वे० १४।२।६०।

"विधावनाद् वा इति चर्मशिराः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार विधवाओं के मुण्डन का समर्थन करते हैं। ये विद्वान् 'चर्मशिराः' का अर्थ 'सिर में केवल चर्म ही अवशिष्ट हैं' अर्थात् 'मुण्डित' करते हैं। परन्तु उनका यह मत चिन्त्य है। निरुक्त के टीकाकारों से पता चलता है 'चर्मशिराः' एक प्राचीन काल के आचार्य का नाम था। इसलिये वेदों में विधवाओं के मुण्डन का कहीं भी उल्लेख नहीं पाया जाता। बौधायन ने पितृमेधसूत्र में अग्निहोत्री पुरुष की मृत्यु के पश्चात् किये जाने वाले विविध विधानों का वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है कि "मृत व्यक्ति की स्त्रियाँ—जिसमें कनिष्ठा सबसे आगे रहे—अपने विलुलित केशों के साथ श्मशान तक जांय तथा अपने कन्धों पर धूल छिड़कें। वे अपने बालों को एकत्रित करके शव की तीन बार प्रदक्षिणा करें[१]।" इसके आगे घनिष्ठा सम्बन्धियों के लिये मूँछ तथा दाढ़ी मुड़ाने का आदेश दिया गया है[२]। परन्तु विधवा स्त्री का इसमें कहीं भी उल्लेख नहीं पाया जाता है। इसके प्रतिकूल इस ग्रन्थ में विधवाओं के मुण्डन का स्पष्ट तथा जोरदार शब्दों में विरोध किया गया है[३]।

<u>स्मृतियों में इस प्रथा का अभाव</u>—मनु तथा याज्ञवल्क्य ने विधवाओं के कर्तव्यों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है परन्तु उनके द्वारा कहीं भी उनकी स्मृतियों में विधवा के मुण्डन का उल्लेख नहीं पाया

---

१. अस्य भार्याः कनिष्ठप्रथमाः प्रकीर्णकेश्यो व्रजेयुः पांसूनं सेष्वावपमानाः। बौ० पि० सू० १।४।३। एवममात्या एवं स्त्रियः संयम्य केशान् यथेतं त्रिः पुनः प्रति परियन्ति।वही १।४।१३।

२. एतस्मिन्कालेऽस्यामात्याः केशश्मश्रूणि वापयन्ते ये संनिधाने भवन्ति। बौ० पि० सू० १।१२।७

३. न स्त्रीणां केशवपनं विद्यते, न चितिर्नेष्टका, न पुनर्दाहो, दारुवत्स्त्रीणां पात्राणि भवन्तीति विज्ञायते। वही २।३।१७

जाता। यदि यह प्रथा उस समय में प्रचलित होती तो मनु के समान महान् स्मृतिकार इसका उल्लेख अवश्यमेव करता। मिताक्षरा में लिखा है कि विधवाओं का मुण्डन निषिद्ध है[१]। वृद्ध हारीत ने विधवाओं के धर्म का वर्णन करते हुये अन्य निषिद्ध वस्तुओं के साथ ही उनके द्वारा बालों को प्रसाधित करने के लिये निषेध किया है[२]। इस श्लोक में 'केशरंजन' का अर्थ 'केशानां रंजनम्' है न कि 'केशश्च रंजनञ्च'। इस बात की पुष्टि स्वयं वृद्धहरीत स्मृति से ही होती है क्योंकि एक स्थान पर (११।१०३) उन्होंने "केशानां रंजनार्थं वा" का प्रयोग किया है। वृद्धहारीत के इस वचन से ज्ञात होता है कि विधवा स्त्रियाँ भी सिर पर केश धारण करती थी अन्यथा वे इन बालों के प्रसाधन का निषेध क्यों करते ?

महाभारत में मुण्डन का अभाव—महाभारत के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय भी विधवा स्त्रियाँ बाल रखती थीं। धृतराष्ट्र की विधवा पुत्र-वधुओं के सिरों पर सुन्दर केशों के रखने का वर्णन मिलता है[३]। स्त्री पर्व में गान्धारी अपनी विधवा पुत्र-वधुओं का वर्णन करती हुई कहती है कि "विलुलित केशवाली वे कुररी पक्षी के समान रो

---

१. विद्धद्विप्रनृपस्त्रीणां, नेष्यते केशवापनम्।
ऋते महापातकिनो गोहन्तुश्चावकीर्णिनः ॥ या० स्मृ० ३।१७
पर मिताक्षरा टीका।

२. (क) केशरञ्जनतागन्धपुष्पादिसेवनम्। वृ० हा० स्मृ० ११।२०६
(ख) द्विवारभोजनं चाक्ष्णोरञ्जनम् वर्जयेत् सदा। वृ० हा० स्मृ० ११।२०७

३. एतास्तु सीमन्तशिरोरुहा याः, शुक्लोत्तरीयाः नरराजपत्नयः।
राज्ञोऽस्य वृद्धस्य परं शताख्याः, स्नुषा नृवीराहतपुत्रनाथाः ॥
म० भा० १५।२७।१६

रही हैं१।" वसुदेव की मृत्यु पर उनकी विधवा स्त्रियों का वर्णन करते हुये लिखा गया है कि "बिखरे बाल वाली, आभूषण तथा माला का परित्याग करने वाली स्त्रियों ने अपने हाथों से छाती पीट पीट कर करुण विलाप किया२।" स्त्री पर्व में ही एक दूसरे स्थान पर दुर्योधन की विधवा स्त्री का वर्णन करते हुये महाभारत कार ने उसके लिये 'प्रकीर्ण केशाः' शब्द का प्रयोग किया गया है३। इन सब प्रमाणों से स्पष्ट पता चलता है कि महाभारत के समय में भी विधवा स्त्रियाँ केश धारण करती थी। हर्षचरित में भी विधवाओं के द्वारा वेणी बाँधने का उल्लेख पाया जाता है४। कनौज के राजा महेन्द्रपाल की पेहोआ (Pehoa) की प्रशस्ति में लिखा है कि उसके शत्रुओं की स्त्रियाँ—जिनके बाल लम्बे तथा प्रचुर थे—आँखों से आँसुओं की धारा बहाती थी५।

जैन तथा बौद्ध धर्मावलम्वी भिक्षु और भिक्षुणियाँ अपने सिर को मुँडाया करती थीं। यह प्रथा उन्हीं में प्रचलित थी। चूँकि ये लोग नास्तिक थे सम्भवतः इसीलिये विधवाओं का मुण्डन हिन्दुओं में निषिद्ध

---

१. प्रकीर्णं केशाः क्रोशन्तीः, कुररीरिव माधव। स्त्री पर्व ३६।१८

२. प्रकीर्णमूर्धजाः सर्वाः विमुक्ताभरणस्रजः।
उरांसि पाणिभिर्घ्नन्त्यो कलपन् करुणं स्त्रियः॥ मौ० प० ७।१७

३. प्रकीर्णकेशां सुश्रोणीं दुर्योधनशुभाङ्कगाम्।
रूक्मवेदीनिभां पश्य कृष्ण! लक्ष्मणमातरम्॥ स्त्री० प० १७।२५।

४. बन्धातु वैधव्यवेणीं वर मनुष्यता। ह० च०, उच्छ्वास ५

५. करतलस्थगिताधरपल्लवाः, प्रतनुकान्तिकपोलतलोदरम्।
सिसिचुरश्रुजलैर्यदरिस्त्रियः, सरलितप्रचुरालकजालकाः॥
ए० इ०, भाग १, पृ० २४६, श्लो० १६

माना जाने लगा हो। यह तथ्य महत्व - पूर्ण है कि दक्षिण भारत के श्री वैष्णवों—जो रामानुजाचार्य के अनुयायी हैं तथा जो सनातनी एवं परम्परा पूजक हैं—में भी विधवाओं के मुण्डन का निषेध पाया जाता है। शम्भु संहिता में तो यहाँ तक लिखा है कि जो स्त्री अपने जन्म के सिर के बालों को मुँडवा देती है वह कन्या हो अथवा विधवा हो, अवश्य ही रौरव नरक को प्राप्त करती है१। मनु संहिता (जो मनुस्मृति से पृथक् ग्रन्थ है) से पता चलता है कि जो विधवा स्त्री अपने सिर को मुण्डित कर देती है वह चाण्डाल की योनि को प्राप्त करती है२। हयग्रीव संहिता में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि वैष्णव विधवा के लिये यह उचित है कि वह जब तक शरीर को धारण करे तब तक उसे अपने बालों को रखना उचित है३। इन उपर्युक्त ग्रन्थों का रचना काल लगभग १००० ई० है। अतः इन उद्धरणों से स्पष्ट पता चलता है इस समय तक समाज में विधवाओं के मुण्डन की प्रथा का प्रचार नहीं था।

विधवाओं के मुण्डन का उल्लेख—समाज में विधवाओं के मुण्डन की प्रथा कब से चल पड़ी इसको निश्चित रूप से बतलाना अत्यन्त कठिन है। ऊपर स्मृतियों तथा शिला लेखों से जो प्रमाण दिये गये हैं उनसे स्पष्ट है कि १००० ई० तक यह प्रथा समाज में प्रचलित नहीं थी। सर्व प्रथम विधवाओं के मुण्डन का उल्लेख स्कन्द पुराण में पाया जाता

---

१. जन्मरोमणि या नारी क्षुरकर्मसमाचरेत्।
कन्या वा विधवा वापि रौरवं नरकं व्रजेत्॥ श० सं०

२. भर्तृहीना तु या नारी मुण्डयित्वा समाचरेत्।
श्रौतस्मार्तानि कर्माणि; चाण्डालीं योनिमाप्नुयात्॥ म० सं०

३. स्त्रीणां तु भर्तृहीनानां वैष्णवीनां वसुन्धरे।
यावच्छरीरपातं हि, प्रशस्तं केशधारणम्॥ हयग्रीव संहिता

है१। इसके अतिरिक्त प्राचीन स्मृतियों में कहीं भी इसका वर्णन नहीं मिलता। ऐसा ज्ञात होता है कि स्कन्द पुराण के इसी 'विधवाकबरीबन्धो' वाले श्लोक के आधार पर बाद की स्मृतियों ने विधवाओं के मुण्डन का विधान कर दिया। व्यास स्मृति—जो १००० ई० के बाद की रचना है--में लिखा है कि जो विधवा पति के शव के साथ सती नहीं हो जाती उसे अपने सिर के बालों को मुड़वाकर, तपस्या करते हुये, अपने शरीर को सुखा देना चाहिये२। मदन पारिजात (१४ वीं शताब्दी) में व्यास स्मृति में उल्लिखित वचन 'विधवाकवरीबन्धः' का उल्लेख मिलता है। निर्णय सिन्धु (रचना काल १६१२ ई०) तथा बालमभट्टि (१८ वीं शताब्दी का अन्तिम भाग) दोनों से विधवाओं के मुण्डन का पता चलता है। निर्णय - सिन्धु में लिखा है कि पति के मरने पर स्त्री तथा उसके पुत्र दोनों ही यथा विधि मुण्डन करवावें३। बालमभट्टि का कथन है कि 'पिता तथा माता की मृत्यु पर' ये शब्द केवल उपलक्षण मात्र हैं। पति की मृत्यु पर भी इन्हीं नियमों को पालना चाहिये अर्थात् स्त्री को अपने सिर को मुड़वा देना चाहिये४।

---

१. विधवाकवरीवन्धो, भर्तृबन्धाय जायते।
शिरसो वपनं तस्मात् कार्यं विधवया तथा ॥ स्क० पु० (काशी खण्ड) ४। ७५।

२. मृतं भर्तारमादाय, ब्राह्मणो वह्निमाविशेत्।
जीवन्ती चेत् त्यक्तकेशा, तपसा शोषयेत् वपुः ॥ व्या० स्मृ० २।५३

३. पुत्रः पत्नी च वपनं कुर्यादन्ते यथाविधि।
इत्यपरार्के व्यासोक्तेः। नि० सि० ३ पृ० ५९१

४. अत्र पित्रादिग्रहणं भर्तुरपि उपलक्षणम्। पुत्रः पत्नीः ··· समाहितः इति व्यासेन पत्नया अपि वपनविधानात् ॥ (पृ० ५०—५१)।

विजय नगर साम्राज्य में भी विधवाओं के मुण्डन की प्रथा थी। इस बात की पुष्टि १६ वीं सदी के विदेशी यात्रियों के यात्रा-विवरणों से होती है।

गत पृष्ठों में विधवाओं के मुण्डन के सम्बन्ध में जो विस्तृत विवरण उपस्थित किया गया है उसकी समीक्षा से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि कहीं भी विधवा-मुण्डन के सम्बन्ध में वैदिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में इस प्रथा का उल्लेख तक नहीं पाया जाता और न मनु तथा याज्ञवल्क्य जैसी सुप्रसिद्ध स्मृतियों में विधवा-धर्म के प्रसंग में कहीं इसका विधान मिलता है। यदि व्यास स्मृति में इसका उल्लेख है तो वृद्धहारीत में इसके विरुद्ध प्रमाण उपलब्ध होता है। जिन स्मृतियों में इस प्रथा का वर्णन पाया जाता है उनमें भी पति की मृत्यु के बाद दसवें दिन पुत्र के साथ केवल एक ही बार विधवा के मुण्डन का विधान है। किसी भी स्मृति में इस बात का प्रमाण प्राप्त नहीं होता कि विधवा स्त्री बार बार अपने सिर को मुंडाया करे।

यह प्रथा जैन तथा बौद्धों से ली गयी जान पड़ती है। जैन और बौद्ध भिक्षु तथा भिक्षुणियाँ अपना सिर सदा मुड़वाया करती थीं। अतः हिन्दू-विधवा के लिये भी यही उचित समझा गया। दूसरा कारण यह भी है कि विधवा तथा संन्यासी का धर्म अनेक विषयों में समान बतलाया गया है। चूंकि संन्यासी लोग सदा सिर मुड़वाया करते हैं अतः विधवा के लिए भी यही नियम आवश्यक बतलाया गया। विधवाओं के मुण्डन का आदेश देने में स्मृतिकारों का यही आशय जान पता है कि बाल मुड़वा देने से उनकी मुखाकृति असुन्दर लगेगी, वे कुरूप दिखाई पड़ने लगेगी। अतः वे काम वासनाओं में न फँसकर शुद्ध जीवन व्यतीत करने में समर्थ हो सकेंगी। आजकल भी कुछ विधवायें अपना बाल मुड़वा देती हैं। परन्तु इस गर्हित प्रथा का अब धीरे धीरे नाश हो रहा है।

दाय में हिन्दू - विधवा का अधिकार—अब यह विचार करना है हिन्दू विधवा का अपने पति की सम्पत्ति में क्या अधिकार था ? आपस्तम्ब मनु तथा नारद ने पुत्रहीन विधवा को अपने पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी नहीं माना है। परन्तु गौतम (२८।१६) ने लिखा है कि विधवा सपिण्ड या सगोत्र लोगों के साथ पति की सम्पत्ति की अधिकारी हो सकती है। शकुन्तला नाटक में एक धनी व्यापारी के मर जाने पर उसकी विधवा के रहते हुये भी उसकी समस्त सम्पत्ति पर राजा के अधिकार होने का वर्णन मिलता है[१]। इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में पति की सम्पत्ति को उत्तराधिकारी उसकी विधवा स्त्री नहीं हो सकती थी। याज्ञवल्क्य ने पुत्रहीन पुरुष की सम्पत्ति के उत्तराधिकारियों में उसकी स्त्री को सर्व प्रथम स्थान दिया है। विष्णु तथा कात्यायन आदि का भी यही मत है। इस प्रकार सूत्रकारों के समय की अपेक्षा मध्ययुग में स्त्रियों के अधिकार अधिक थे। इस समय संयुक्त हिन्दू - परिवार में विधवा स्त्रियों को केवल भरण पोषण के लिए उपयुक्त धन प्राप्त करने का अधिकार है। परन्तु बंगाल में उनको कुछ अधिक अधिकार मिले हैं। यह अधिकार भी विधवाओं को दुराचारिणी सिद्ध कर देने पर उनसे छीन लिया जा सकता हैं। विभक्त परिवार होने पर भी, यदि पति कर जाता है और उसका पुत्र विद्यमान हैं, तो उसको विधवा केवल भोजन तथा वस्त्र का ही खर्चा पा सकती हैं। पति की सम्पति में उसे कुछ भी भाग नहीं मिल सकता। कुछ वर्षों पूर्व तक यहीं अवस्था थी। परन्तु अब विधवाओं की दशा में कुछ सुधार हुआ है। सन् १९३७ ई० में जो 'हिन्दू वोनेन्स राइट टू प्रापर्टी एक्ट' पास हुआ था उससे दायभाग का सिद्धान्त तत्कालीन देशी राज्यों को छोड़कर समस्त भारत पर लागू हो गया। इस कानून के द्वारा हिन्दू - विधवा को अपने पति की सम्पत्ति में कुछ अधिकार प्राप्त हो गया है।

१. शकुन्तला—६।२३.

१०—नियोग की परम्परा

प्राचीन भारत में नियोग की प्रथा प्रचलित थी। पति के जीवित रहने अथवा मर जाने पर पति के छोटे भाई (देवर) अथवा अन्य किसी सपिण्ड के द्वारा पुत्र उत्पन्न करने को "नियोग" कहते थे। वैदिक ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख पाया जाता है। गृह्यसूत्रों तथा प्राचीन स्मृतियों में इसका विस्तार पूर्वक वर्णन उपलब्ध होता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में लिखा है कि "ए अश्विन्! यजमान तुमको उसी प्रकार बुलाता है जिस प्रकार विधवा अपने देवर को तथा तरुणी प्रेमिका अपने प्रेमी को बुलाती है[१]।" यह कथन विवाद ग्रस्त है इस मन्त्र में विधवा विवाह का उल्लेख है अथवा नियोग का। विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य स्मृति (१।६९) की टीका में लिखा है कि इस मन्त्र में नियोग का उल्लेख है। मेधातिथि (मनु - स्मृति ६।६६) ने भी इसी मत की पुष्टि की है।

गृह्यसूत्रों में नियोग का उल्लेख—गृह्यसूत्र में नियोग का विशेष विवरण मिलता है। गौतम - गृह्यसूत्रों में लिखा है कि "पति के मर जाने पर उसकी स्त्री अपने देवर से पुत्र उत्पन्न करा सकती है। परन्तु इसके लिए उसे गुरुजनों से आज्ञा ले लेनी चाहिये और केवल ऋतुकाल में ही समागम करना चाहिये। देवर के अभाव में वह स्त्री किसी सगोत्र, सपिण्ड अथवा सप्रवर व्यक्ति से पुत्र उत्पन्न करा सकती हैं। इस

---

१. को वा शयुत्रा विधवेव देवरं, मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ।
ऋ० वे० १०।४०।२

प्रकार उसे दो से अधिक पुत्र नहीं पैदा करना चाहिये१ ।" गौतम के मतानुसार इस प्रकार नियोग से उत्पन्न पुत्र को क्षेत्रज, स्त्री को क्षेत्र, उसके वास्तविक पति को क्षेत्रिन् या क्षेत्रिक तथा सन्तान उत्पन्न करने के लिये नियुक्त पुरुष को बीजिन् (जो बीज बोता है) या नियोगिन् कहते हैं। मनु ने भी भी इन शब्दों का प्रयोग किया है२। वशिष्ट ने स्त्री के लिये नियोग का विधान करते हुये लिखा है कि "विधवा स्त्री को उसके पति के पिता अथवा भाई गुरुओं को बुलाकर उनकी आज्ञा से उसे नियोग कार्य में नियुक्त करें। उन्हें ऐसी स्त्री को इस कार्य के लिये नियुक्त नहीं करना चाहिये जो पागल, दुःख के कारण संज्ञा हीन, रोगिणी और अत्यन्त वृद्धा हो। रजोदर्शन के पश्चात् सोलह वर्ष के भीतर ही विधवा स्त्री को तभी नियोग के लिये नियुक्त करना चाहिये जब उससे सन्तान उत्पन्न करने वाला पुरुष रोगी न हो। उस पुरुष को, पति के समान ही, उस स्त्री के पास प्रजापति के शुभ मुहूर्त (ब्राह्म मुहूर्त) में जाना चाहिये। उस स्त्री से कभी भी काम-क्रीड़ा न करनी चाहिये और न उससे बुरा व्यवहार करना चाहिये३।

---

१. अपतिरपत्यलिप्सुर्देवरात् । गुरुप्रसूता नर्तुमतीयात् । पिण्डगोत्रर्षि-सम्बन्धेभ्यो योनिमात्राद्वा । नादेवरादित्येके । नातिद्वितीयम् ।

गौ० ध० सू० १८।४८

२. क्षेत्रभूता स्मृता नारी, बीजभूतः स्मृतः पुमान् ।
क्षेत्रबीजसमायोगात् संभवः सर्वदेहिनाम् ॥ म० स्मृ० ९।३३

३. उर्ध्वं ··· ··· ··· विद्याकर्मगुरुयोनिसंबंधान् संनिपात्य पिता, भ्राता, वा नियोगं कारयेत् । न सोन्मादामवशां व्याधितां वा नियुञ्ज्यात् । ज्यायसीमपि षोडशवर्षाणि । न चेदामयावी स्यात् । प्राजापत्ये मुहुर्ते पाणिग्राहवदुपचरेदन्यत्र संप्राहस्य वाक्पारुष्यदण्डपारुष्याच्च ।

व० ध० सू० १७।५६—६१, ६५

बौधायन ने 'क्षेत्रज' की परिभाषा बतलाते हुये लिखा है कि क्षेत्रज वह पुत्र है जो किसी मृत या नपुंसक या चिररोगी पुरुष की स्त्री के साथ अन्य पुरुष के प्रसंग से उत्पन्न हो१। परन्तु विष्णु का कथन है कि क्षेत्रज वह पुत्र है जो किसी सधवा अथवा विधवा के संयोग से उसके पति के किसी सपिण्ड व्यक्ति अथवा ब्राह्मण के द्वारा प्रसंग करने से उत्पन्न हो२। इस प्रकार थोड़े से मत - भेद के साथ 'क्षेत्रज' का उल्लेख दोनों सूत्र-ग्रन्थों में मिलता है।

स्मृतियों में उल्लेख—स्मृतियों में भी नियोग की प्रथा का उल्लेख पाया जाता है। यद्यपि मनु आदि स्मृतिकारों ने इस प्रथा का अत्यन्त कठोर शब्दों में विरोध किया है परन्तु इसके साथ ही इन्होंने नियोग के विस्तृत नियमों का भी विधान किया है। इससे ज्ञात होता है कि मनु के समय में भी यह प्रथा इतनी अधिक प्रचलित थी कि वे इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे। इसलिये उन्होंने इस प्रथा को दूर करने के लिये इसकी निन्दा तो की परन्तु इस प्रचलित प्रथा का उल्लेख करना उन्होंने आवश्यक समझा। मनु ने नियोग के अर्थ को स्पष्ट करते हुये लिखा है कि प्राचीन नियमों के अनुसार 'नियोग' का आश्रय तभी लेना चाहिये जब किसी स्त्री का पति—जिसके साथ विवाह करने का संकल्प किया गया हो—वैवाहिक-विधि के समाप्त होने के पहिले ही—मृत्यु को प्राप्त हो जाय। ऐसी दशा में उस स्त्री को चाहिये कि वह अपने देवर से विवाह कर लें और सन्तानोत्पत्ति के लिये वह केवल ऋतुकाल में ही

१. बौ० ध० सू० २।२।१७।

२. नियुक्तायां सपिण्डेनोत्तमवर्णेन वोत्पादितः क्षेत्रजो द्वितीयः।
वि० ध० सू० १५।३

उसके पास तब तक जाय जब तक उसे एक पुत्र पैदा न हो जाय[१]। याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि "पुत्र-हीन स्त्री के साथ, गुरुओं अर्थात् माता, पिता की आज्ञा लेकर उसका देवर अथवा सपिण्ड या सगोत्र व्यक्ति केवल सन्तान पैदा करने की इच्छा से (इन्द्रिय सुख के लोभ से नहीं) प्रसंग कर सकता है। उसे केवल गर्भाधान तक उस स्त्री के पास जाना चाहिये अन्यथा वह पतित समझा जायेगा। इस प्रकार जो पुत्र पैदा होगा वह 'क्षेत्रज' की संज्ञा प्राप्त करेगा[२]।

<u>महाभारत में इस प्रथा का उल्लेख</u>—महाभारत में इस प्रथा के प्रचुर उल्लेख प्राप्त होते हैं। इनके अध्ययन से पता चलता है उस काल में यह प्रथा अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी थी तथा इसका प्रचुर प्रचार हो गया था। महाभारत के आदि पर्व में यह लिखा है कि विचित्रवीर्य की मृत्यु हो जाने पर उसकी माता सत्यवती ने अपने पुत्र भीष्म—जो विचित्रवीर्य के बड़े भाई थे—को बुलाया और उनसे कहा कि तुम नियोग की प्रथा से उसकी रानियों से पुत्र उत्पन्न करो। परन्तु ब्रह्मचारी भीष्म ने ऐसा करना स्पष्ट रीति से अस्वीकार कर दिया। तब सत्यवती ने व्यास को निमन्त्रित किया और उनके सामने यह प्रस्ताव रक्खा।

---

१. यस्याः म्रियेत कन्यायाः, वाचा सत्ये कृते पतिः।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत् देवरः॥
यथाविधि अधिगम्यैनां, शुक्लवस्त्रां, शुचिव्रताम्।
मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ॥ म० स्मृ० ९।६९-७०

२. अपुत्रां गुर्वनुज्ञातो, देवरः पुत्रकाम्यया।
सपिण्डो वा सगोत्रो वा घृताभ्यक्तः ऋतावियात्॥
आगर्भसंभवाद् गच्छेत्पतितस्त्वन्यथा भवेत्।
अनेन विधिना जातः क्षेत्रजोऽस्य भवेत्सुतः॥ या० स्मृ० १।६८—६९

व्यास ने इसे स्वीकार कर लिया और धृतराष्ट्र तथा पाण्डु को नियोग की प्रथा से उत्पन्न किया१। इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि भीष्म के द्वारा अस्वीकार किये जाने पर सत्यवती कहती है कि नियोग 'आपद्धर्म' है। अतः तुम इसका पालन करो२। व्यास के द्वारा सत्यवती के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने को जो लोग इसे अधर्म समझते हैं उनका उत्तर देते हुये कुमारिल भट्ट ने लिखा है कि व्यास ने गौतम (१८। ४—५) की आज्ञा का पालन किया तथा माता की कारुणिक प्रार्थना को स्वीकार कर यह कार्य किया। अतः इसमें कुछ भी अधर्म नहीं है३।

---

१. सत्यवती—इमे महिष्यौ भ्रातुस्ते काशिराजसुते शुभे ।
रूपयौवनसम्पन्ने पुत्रकामे च भारत ॥ आ० प० १०३।९
तयोरुत्पादयापत्यं सन्तानाय कुलस्य नः ।
मन्नियोगान्महाबाहो ! धर्मं कर्तुमिहार्हसि ॥ वही १०३।१०
भीष्मः—विक्रमं वृत्रहा जह्यात् धर्मं जह्याच्च धर्मराट् ।
न त्वहं सत्यमुत्स्रष्टुं व्यवसेयं कथञ्चन ॥ वही १०३।१८
सत्यवती—सद्यो यथा प्रपद्येते देव्यौ गर्भं तथा कुरु । वही० १०५।४३
व्यासः—यदि पुत्रः प्रदातव्यो मया भ्रातुरकालिकः ।
विरूपतां मे सहतां, तयोरेतत् परं व्रतम् ॥
यदि मे सहते गन्धं, रूपं, वेषं तथा वपुः ।
अद्यैव गर्भं कौसल्या विशिष्टं प्रतिपद्यताम् ॥ वही १०५।४७
२. जानामि चैव सत्यं तन्मदर्थे यच्च भाषितम् ।
आपद्धर्मं त्वयावेक्ष्य, वह पैतामहीं धुरम् ॥ म० भा० १०३।२१
३. तन्त्रवार्तिक पृ० २०३।

महाभारत में एक स्थान पर पाण्डु अपनी स्त्री कुन्ती से नियोग के द्वारा किसी तेजस्वी ब्राह्मण से पुत्र उत्पन्न करने के लिये प्रार्थना करते हैं। वे इस प्रसंग में नियोग की अनेक कथायें सुनाते हुये कहते हैं कि नियोग के द्वारा केवल तीन ही पुत्र उत्पन्न करने का विधान है। आपत्ति में भी चौथा या पाँचवा पुत्र उत्पन्न नहीं करना चाहिये अन्यथा वह स्त्री स्वैरिणी (स्वेच्छाचारिणी) तथा बन्धकी (वेश्या) कही जाती है[1]। आदि पर्व से पता चलता है कि जब परशुराम ने क्षत्रियों का नाश कर दिया तब इन क्षत्रियों की हजारों विधवा स्त्रियों ने ब्राह्मणों के पास जाकर पुत्र उत्पन्न करने की उनसे प्रार्थना की क्योंकि उनके पति परशुराम द्वारा मार डाले गये थे। इन ब्राह्मणों के संयोग से अनेक स्त्रियों ने गर्भ धारण किया[2]। ऊपर के वर्णन से ज्ञात होता है कि नियोग केवल सपिण्ड या सगोत्र व्यक्तियों के द्वारा ही नहीं किया जाता था बल्कि आवश्यकता पड़ने पर अन्य श्रेष्ठ जाति—विशेष कर ब्राह्मण—के द्वारा भी सम्पादित हो सकता था। भीष्म ने सत्यवती से विचित्रवीर्य की रानियों से पुत्र पैदा करने के लिये किसी ब्राह्मण को निमंत्रित करने के लिये कहा था[3]। इसी प्रकार नियोग से

---

१. पाण्डुस्तु पुनरेवैनां पुत्रलोभान्महायशाः।
वक्तुमैच्छद्धर्मपत्नीं कुन्तीत्वेनमथाब्रवीत् ॥
नातश्चतुर्थं प्रसवमापत्स्वपि वदन्त्युत।
अतः परं स्वैरिणो स्याद् बन्धकी पञ्चमे भवेत् ॥ म० भा० १२३।७६-७७

२. ब्राह्मणान् क्षत्रियाः राजन्! सुतार्थिन्योऽभिचक्रमुः।
ऋतावृतौ नरव्याघ्र! न कामान्नानृतौ तथा ॥
तेभ्यः लेभिरे गर्भं क्षत्रियास्ताः सहस्रशः। आ० प० ६४।५—७

३. ब्राह्मणः गुणवान्कश्चित् धनेनोपनिमन्त्र्यताम्।
विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु यः समुत्पादयेत् प्रजाः ॥ १०५।२

देखिये—पत्यभावे यथैव स्त्री, देवरं कुरुते पतिम्। शा० प० ७२।१२

राजा व्युशिताश्व को ७ पुत्र तथा राजा बलि को १७ पुत्र उत्पन्न हुये थे। इन प्रचुर प्रमाणों से ज्ञात होता है कि यह प्रथा महाभारत काल में बद्धमूल हो गयी थी।

इस प्रथा को निन्दा—यद्यपि वशिष्ठ तथा गौतम ने इस प्रथा का विधान किया है परन्तु आपस्तम्ब तथा बौधायन ने इसको कठोर शब्दों में निन्दा की है। सम्भवतः समाज में यह प्रथा अब दूषित समझी जाने लगी थी। अतः समाज को पवित्र तथा शुद्ध बनाये रखने के लिये अनेक गृह्य-सूत्रकारों तथा स्मृतिकारों ने इस प्रथा का विरोध किया। आपस्तम्ब ने इस प्रथा की निन्दा करते हुये लिखा है कि "दूसरे पति के द्वारा पाणिग्रहण उचित नहीं हैं। यदि किसी प्रकार विवाह के समय की गयी प्रतिज्ञा का भंग होता है तो पति और पत्नी दोनों ही नरक के भागी होते हैं। इस प्रकार नियोग से उत्पन्न सन्तान की अपेक्षा धार्मिक नियमों का पालन करना ही अधिक श्रेयस्कर है१। बौधायन ने औपजंघनि नामक आचार्य के मत का उल्लेख इस प्रकार किया है कि औरस पुत्र ही वास्तविक पुत्र है। उन्होंने जो उद्धरण दिया है उससे पता चलता है कि पति को चाहिये कि अपनी स्त्री को नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करने की आज्ञा न दें क्योंकि इस प्रकार उत्पन्न हुआ पुत्र "बीजिन्" (दूसरा पति जो पुत्र उत्पन्न करता है) का ही समझा जाता है२। यद्यपि मनु ने नियोग की प्रथा का उल्लेख किया

---

१. अविशिष्टं हि परत्वं पाणेः। तद्व्यतिक्रमे खलु पुनरुभयोर्नरकः।
नियमारम्भणो हि वर्षीयानभ्युदय एवमारम्भणादपत्यात्।
आप० ध० सू० २।१०।२७।

२. रेतोधाः पुत्रं नयति, परेत्य यमसादने।
तस्माद्भार्यां रक्षन्ति बिभ्यतः पररेतसः॥
अप्रमत्ताः रक्षथ तन्तुमेत, मा वः क्षेत्रे परबीजानि वाप्सुः।
जनयितुः पुत्रो भवति सांपराये, मोघं वेत्ता कुरुते तन्तुमेतम्॥
बौ० ध० सू० २।२।३६

है परन्तु बाद में उन्होंने कठोरतम शब्दों में इसे दूषित बतलाया है। उनका कथन है कि "द्विजाति की विधवा स्त्री को अन्य पुरुष से पुत्र उत्पन्न नहीं कराना चाहिये। विवाह के मन्त्रों में नियोग का कहीं भी उल्लेख नहीं पाया जाता है तथा वैवाहिक विधि में विधवा के विवाह का कहीं भी वर्णन नहीं है। नियोग अत्यन्त निन्दित है क्योंकि यह पशुओं का धर्म माना गया है। सर्व प्रथम वेन राजा ने इस प्रथा को चलाया और उन्होंने वर्ण-संकर उत्पन्न किया। अतः जो लोग अज्ञान वश पुत्र उत्पन्न करने के लिये नियोग करते हैं श्रेष्ठ जन उनकी निन्दा करते हैं१। बृहस्पति ने नियोग का निषेध करते हुये लिखा है कि प्राचीन समय में लोग तपस्या तथा शक्ति से सम्पन्न रहते थे, अतः वे धर्म का पालन करने में समर्थ थे। परन्तु कलियुग में लोगों में वह शक्ति नहीं है। अतः इस समय वे नियोग नहीं कर सकते२। इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि नियोग के सम्बन्ध में स्मृतिकारों के विचार भिन्न भिन्न होने

---

१. नान्यस्मिन् विधवा नारी; नियोक्तव्या द्विजातिभिः।
अन्यस्मिन्हि नियुञ्जाना; धर्मं हन्युः सनातनम्॥
नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु; नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं; विधवावेदनं पुनः॥
अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः; पशुधर्मो विगर्हितः।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो; वेने राज्यं प्रशासति॥
ततः प्रभृति यो मोहात्; प्रमीतपतिकां स्त्रियम्।
नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः॥ म० स्मृ० ९।६४–६६, ६८

२. तपोज्ञानसमायुक्ताः कृतत्रेतायुगे नराः।
द्वापरे च कलौ नृणां शक्तिहानिर्विनिर्मिता॥
न शक्यन्तेऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः।
अपरार्क के द्वारा बृहस्पति का उद्धरण।

के कारण समाज में बड़ी गड़बड़ी फैली हुई थी। उसी समय का एक स्मृतिकार इस प्रथा को उचित बतलाता था और दूसरा इसका निषेध करता था। स्वयं मनु ने एक ही स्थान में पहिले नियोग का विधान किया है और बाद में तीव्र निन्दा। इसलिये विश्वरूप तथा मेधातिथि आदि भाष्यकारों ने इस संबंध में प्रसिद्ध स्मृतिकारों के मतों का संग्रह करने का प्रयत्न किया है। विश्वरूप ने याज्ञवल्क्य स्मृति (१।६९) की टीका में लिखा है कि नियोग के सम्बन्ध में प्रधानतया चार मत हैं। १—विवाह-सम्बन्ध के पूर्व, पति के मर जाने पर नियोग करना उचित है। २—मनु आदि के मत से यह प्रथा अत्यन्त दूषित है। ३—चूँकि नियोग का विधान तथा निषेध दोनों मिलता है। अतः अपनी इच्छानुसार यह किया जा सकता है। ४—चौथा मत—जो सम्भवतः विश्वरूप का अपना मत है—यह है कि नियोग केवल शूद्रों के लिये ही उपयुक्त है। इससे ज्ञात होता है कि अपरार्क के समय में नियोग की प्रथा का ह्रास हो चुका था और समाज में यह केवल शूद्रों के ही लिये उपयोगी समझी जाने लगी थी। उच्च वर्ण के लोग इसे दूषित दृष्टि से देखने लगे थे।

<u>नियोग के कुछ नियम</u>—हिन्दू समाज में पुत्र से रहित होना निन्दित समझा जाता है। अतएव नियोग का उद्देश्य यही था कि इससे सन्तान की उत्पत्ति हो। काम-वासना की तृप्ति कभी भी इसका लक्ष्य नहीं रहा है। नियोग के कारण समाज में किसी प्रकार की उच्छृङ्खलता न फैलने पावे अतः स्मृतिकारों ने इसके लिये बड़े ही कठिन नियम बना दिये थे। इसीलिये वशिष्ठ ने स्पष्ट ही लिखा है कि काम-वासना की तृप्ति या धन के लोभ से नियोग नहीं करना चाहिये[1]। नियोग को

---

१. लोभान्नास्ति नियोगः। व० ध० सू० १७।५७

आज्ञा निम्नांकित शर्तों के पूरी होने पर ही दी जाती थी। (१) पति—जीवित हो मृत—को पुत्र न हो। (२) परिवार के श्रेष्ठ लोग इस बात की अनुमति दें कि विधवा स्त्री नियोग के द्वारा पुत्र उत्पन्न करें। (३) नियोग के लिये नियुक्त किया गया पुरुष पति का सपिण्ड, सगोत्र या सप्रवर ही होना चाहिये। (४) विधवा स्त्री तथा नियोग के लिये नियुक्त पुरुष दोनों ही अपना कर्तव्य समझ कर ही इस कार्य को करें, काम-वासना से प्रेरित होकर कदापि नहीं। (५) नियोग के लिये नियुक्त पुरुष घी से अपने शरीर का मर्दन करे तथा (६) इन दोनों का यौन-सम्बन्ध तभी तक रहे तब तक स्त्री को एक पुत्र (कुछ लोगों के मत से दो) न पैदा हो जाय, (७) विधवा युवती हो। वह बूढ़ी अथवा वन्ध्या न हो तथा रोगिणी न हो (८) पुत्र उत्पन्न हो जाने के बाद इन दोनों को आपस में श्वसुर तथा पुत्र-वधू का सम्बन्ध मानना चाहिये[१]। मनु ने लिखा है कि यदि देवर अपनी भावज के साथ वृद्धजनों की अनुमति के बिना ही नियोग करता है अथवा अनुमति ले लेने पर भी यदि अन्य आवश्यक नियम विद्यमान नहीं हैं तो ऐसी दशा में वह पाप का भागी होता है[२] तथा इस प्रकार के समागम से पुत्पन्न पुत्र धन का अधिकारी

---

१. देवराद्वा, सपिण्डाद्वा, स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या, संतानस्य परिक्षये॥
विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि।
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन॥
विधवायां नियोगार्थे निवृत्ते तु यथाविधि।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम्॥ म० स्मृ० ९।५९, ६०, ६२

२. ज्येष्ठो यवीयसीं भार्यां, यवीयान्वाग्रजः स्त्रियम्।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि॥ वही ९।५८
नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः।
तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ॥ वही ९।६३

कदापि नहीं हो सकता१। नारद के मत से नियोग करने वाले पुरुष को चाहिये कि वह स्त्री से न तो भाषण करें, न उसका चुम्बन करें और न किसी प्रकार की उससे काम - क्रीड़ा करें२। इससे स्पष्ट होता है कि नियोग काम - वासना की तृप्ति के लिये नहीं किया जाता था बल्कि पुत्रोत्पत्ति के उच्च ध्येय को ध्यान में रखकर ही इसका सम्पादन होता था। याज्ञवल्क्य ने विधवा से स्वच्छन्द होकर प्रसंग करने वाले पुरुष के लिये, सौ पण दण्ड रूप में देने का विधान किया है३।

नियोग के द्वारा कितने पुत्र उत्पन्न करने चाहिये। इस विषय में स्मृतिकारों में बड़ा मत भेद है। मनु की सम्मति के अनुसार नियोग के द्वारा केवल एक ही पुत्र उत्पन्न करना चाहिये, दूसरा पुत्र कभी भी नहीं। परन्तु उन्होंने लिखा है कि कुछ आचार्यों के मत में दो पुत्र भी उत्पन्न किये जा सकते हैं४। महाभारत में पाण्डु ने नियोग से पुत्र उत्पन्न करने के लिये, कुन्ती से प्रार्थना करते हुये, तीन पुत्र पैदा करने को कहा था इसका उल्लेख किया जा चुका है। परन्तु चार या पाँच पुत्र पैदा करने वाली स्त्री वेश्या कही गयी है५।

---

१. अनियुक्ता तु या नारी देवराज्जनयेत् सुतम्।
जारजातमरिक्थीयं तमाहुर्ब्रह्मवादिनः॥ नारद। (स्त्रीपुंस० ८४)

२. घृतेनाभ्यज्य गात्राणि तैलेनाविकृतेन वा।
मुखान्मुखं परिहरन् गात्रैर्गात्राण्यसंस्पृशन्॥ वही ८२

३. स्वच्छन्दं विधवागामी, विक्रुष्टे नाभिधावकः।
अकारणे च विक्रोष्टा, चण्डालश्चोत्तमान् स्पृशे। या० स्मृ० १।२३४।

४. एकमुत्पादयेत्पुत्रं, न द्वितीयं कथञ्चन। ९।६०
द्वितीयमेके प्रजनं, मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः।
अनिर्वृत्तं नियोगार्थं, पश्यन्तो धर्मतस्तयोः॥ ९.६१

५. नातश्चतुर्थं प्रसवमापत्स्वपि वदन्त्युत।
अतः परं स्वैरिणी स्याद् बन्धकी पञ्चमे भवेत्॥
म० भा०. आदि–पर्व १२३।७७.

नियोग से उत्पन्न पुत्र किसका है ?—नियोग से उत्पन्न पुत्र किसका होता है इस विषय में वशिष्ठ ने अनेक आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है। पहिला मत यह है कि नियोग से उत्पन्न सन्तान जनयिता (सन्तान उत्पत्ति करने वाला) का है। निरुक्त ने इसी मत की पुष्टि की है१। ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर आपस्तम्ब ने भी लिखा है कि ऐसी सन्तान जनयिता की ही होती है२। मनु का भी यही मत है३। दूसरा मत यह है कि यदि विधवा के श्रेष्ठ लोगों तथा जनयिता अथवा स्त्री के वास्तविक पति और जनयिता में पहिले ही से यह समझौता हो कि उत्पन्न सन्तान प्रथम पति की ही होगी तब ऐसी दशा में नियोग से उत्पन्न सन्तान प्रथम पति की ही कहलायेगी। महाभारत में व्यास ने लिखा है कि परशुराम के द्वारा समस्त क्षत्रियों के वध कर दिये जाने पर उनकी विधवा स्त्रियों ने नियोग के द्वारा वेद में निष्णात ब्राह्मणों से पुत्र उत्पन्न कराया परन्तु वे सभी पुत्र पाणिग्रहण करने वाले प्रथम पति के ही माने गये४। वशिष्ठ (१७।८) तथा गौतम (१८। १०–११) ने भी इस मत की पुष्टि की है। इस सम्बन्ध में तीसरा मत यह है कि नियोग से उत्पन्न पुत्र प्रथम पति और जनयिता दोनों का होता है। नारद ने अपनी स्मृति में इसी मत का

---

१. तद्यथा जनयितुः प्रजा एवमर्थीये ऋचावुदाहरिष्यामः। ३।१

२. उत्पादयितुः पुत्रः इति हि ब्राह्मणम्। आ० ध० सू० २।६।१३।५

३. य एतेऽभिहिताः पुत्राः प्रसङ्गादन्यबीजजाः।
यस्य ते बीजतो जातास्तस्य ते नेतरस्य तु ॥ म० स्मृ० ९।१

४. उत्पादितानि अपत्यानि ब्राह्मणैर्वेदपारगैः।
पाणिग्राहस्य तनयाः इति वेदेषु निश्चितम् ॥
म० भा० (आ० प०) १०४। ६.

प्रतिपादन किया है। मनु ने लिखा है कि ऐसे पुत्र के भागी 'बीजी' (जनयिता) और क्षेत्रिक (पति) दोनों होते हैं[१]। याज्ञवल्क्य ने भी मनु के इस मत का समर्थन किया है[२]।

नियोग की प्रथा का रहस्य—अब यह विचार करना है कि नियोग की प्रथा का उद्देश्य तथा रहस्य क्या था ? प्राचीन समय में स्त्री भी घर की अन्य सम्पत्ति के समान ही एक सम्पत्ति समझी जाती थी। अतः बड़े भाई के मर जाने पर जिस प्रकार उसकी अन्य सम्पत्ति छोटे भाई को मिलती थी उसी प्रकार उसकी स्त्री भी उसे प्राप्त होती थी। छोटे भाई या अन्य निकट सम्बन्धियों का यह अधिकार समझा जाता था कि जिस प्रकार वे मृत पुरुष की सम्पत्ति का उपभोग करते हैं उसी प्रकार वे उसकी स्त्री का भी उपभोग कर सकते हैं। बौधायन ने लिखा है कि कन्या कुल को दी जाती है[३]। अतः कुल के श्रेष्ठ व्यक्ति के मर जाने पर उसकी स्त्री से कुल के अन्यतम निकट कुटुम्बियों का विवाह कर लेना उचित ही था। प्राचीन समाज में पुत्र की उत्पत्ति बहुत आवश्यक समझी जाती थी। शास्त्रकारों ने यहाँ तक लिखा है कि जिसको पुत्र न हो उसकी सद्गति ही नहीं हो सकती। 'अपुत्रस्य गतिनास्ति।' उपनिषदों ने प्रजातन्तु का उच्छेद न करने का आदेश दिया है[४]। अतः येन केन प्रकारेण पुत्र उत्पन्न करना आवश्यक माना जाता था।

---

१. क्रियाभ्युपगमात्त्वेतद् बीजार्थं यत्प्रदीयते।
तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च॥ म० स्मृ० ८। ५३

२. अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः।
उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः॥ या० स्मृ० २। १२७

३. कुलाय हि स्त्री दीयते इति उपदिशन्ति। बौ० ध० सू० २। २०। २७

४. प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। तैत० उपनिषद्

यदि किसी कारण से बड़े भाई को पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ तो नियोग के द्वारा छोटा भाई अथवा उसका कोई निकट कुटुम्बी उसकी स्त्री से पुत्र उत्पन्न करता था जिससे उसके पिता को स्वर्ग में स्थान प्राप्त हो सके तथा अन्य पितृगण भी सन्तुष्ट रहें। इसीलिये पाण्डु ने अपनी स्त्री कुन्ती से नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करने की प्रार्थना की थी।

प्राचीन समाज में नियोग द्वारा उत्पन्न पुत्र दत्तक पुत्र से कहीं अधिक निकट तथा उचित समझा जाता था। दत्तक पुत्र लेने में अनेक प्रकार के शास्त्रीय नियमों का पालन करना पड़ता था जिसके लिये समाज तैयार नहीं था। इसके विपरीत नियोग से उत्पन्न पुत्र औरस पुत्र के समान ही समझा जाता था। दत्तक पुत्र की धमनियाँ में न तो उस कुल का रक्त ही प्रवाहित होता था और न नये कुल से उसका कुछ प्रेम ही होता था। इसके ठीक विपरीत नियोग से उत्पन्न पुत्र में—पिता का रक्त तो नहीं परन्तु—माता का रक्त अवश्य विद्यमान रहता था। इसलिये वह औरस पुत्र के समान ही माना जाता था। इसी कारण से धर्मशास्त्रों में पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकारियों की सूची में औरस पुत्र के बाद नियोग से उत्पन्न पुत्र का ही स्थान आता है। एक वैदिक ऋषि ने तो यहाँ तक कहा है कि दत्तक पुत्र कोई पुत्र ही नहीं है[1]। इसलिये यह सहज में ही समझा जा सकता है कि नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करने की प्रथा कितनी आवश्यक थी।

आजकल के कुछ आलोचक नियोग की प्रथा की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यह अत्यन्त दूषित थी तथा इससे समाज में व्यभिचार फैलता था। परन्तु इस कथन के पूर्व उन्हें शान्ति पूर्वक इस प्रश्न पर विचार करना चाहिये। हमारे धर्म-शास्त्रियों ने अनेक नियमों का विधान करके—जिनका उल्लेख पहिले किया जा चुका है—नियोग को

---

१. न शेषो अग्ने अन्य जातमस्ति। ऋ० वे०

प्रथा को इतना नियम बद्ध कर दिया था जिससे समाज में अनाचार के प्रचार की कुछ भी आशंका नहीं थी। सर्व प्रथम बीजी के द्वारा नियोग अपना कर्तव्य समझ कर किया जाता था। प्रत्येक मनुष्य तीन ऋणों को लेकर उत्पन्न होता हैं जिसमें पितृऋण से वह तभी उऋण समझा जाता है जब उसे पुत्र उत्पन्न होता है। अतः नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करके पुत्रहीन प्रत्येक व्यक्ति को पितृऋण से मुक्त करना कर्तव्य समझा जाता था। भोग विलास की इच्छा से प्रेरित होकर नियोग करना अत्यन्त गर्हणीय था। इसीलिये एक स्मृतिकार ने यहाँ तक लिखा है कि नियोग से स्त्री-प्रसंग करते समय बीजी—जो पुरुष नियोग करता है—को उस स्त्री का चुम्बन, उससे सम्भाषण तथा काम-क्रीड़ा नहीं करनी चाहिये। स्त्री का कर्तव्य है कि वह नियोग से केवल एक ही पुत्र उत्पन्न करे। यह संख्या अधिक से अधिक दो या तीन हो सकती है। इससे अधिक पुत्र पैदा करने पर वह वेश्या समझी जायेगी। इन कठिन नियमों से ज्ञात होता है कि नियोग की आज्ञा देते हुये भी धर्माचार्यों ने सदाचार के ऊपर कितना ज़ोर दिया था। नियोग साधारणतया देवर से ही करने की आज्ञा दी गयी थी। इसका कारण यही था कि पति के छोटे भाई होने के कारण वह पति के ही अनुरूप समझा जाता था। अन्य बाहरी लोगों से नियोग कराना परिवार में बाहरी तत्व का प्रवेश कराना था जो सर्वथा निन्दित था। इस प्रकार नियोग की प्रथा के कारण समाज में व्यभिचार की वृद्धि कभी नहीं हुयी। इसके लिये प्राचीन धर्माचार्यों को दोषी बतलाना समुचित नहीं हैं।

<u>इसका उपयोग एवं वर्तमान अवस्था</u>—इसमें सन्देह नहीं कि नियोग की प्रथा का विधान समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। इससे विधवाओं की दशा में बहुत कुछ सुधार हुआ। जो बाल-विधवायें ब्रह्मचर्य से

अपना जीवन व्यतीत करने में असमर्थ होती थीं वे नियोग के द्वारा पुत्र उत्पन्न कर सकती थी जो समाज के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होते थे। इस प्रकार समाज में व्यभिचार नहीं फैलता था तथा बाल-विधवों की समस्या—जो आजकल भीषण रूप धारण कर रही है—बड़ी आसानी से हल हो जाती थी। जिन स्त्रियों के पति रोगी, नपुंसक तथा निकम्में होते थे वे स्त्रियां स्वस्थ्य एवं सबल, सपिण्ड पुरुषों से नियोग कर बलशाली तथा वीर सन्तान पैदा करती थी जिससे देश तथा समाज की उन्नति होती थी। इस कथन में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है कि यदि प्राचीन काल में नियोग की प्रथा न होती, तो न तो भारत को युधिष्ठिर जैसा सत्यवादी प्राप्त होता और न अर्जुन के समान प्रकाण्ड धनुषधारी। तीसरी लाभ जो नियोग द्वारा सम्पन्न हुआ वह विधवा स्त्रियों की आर्थिक दशा में सुधार था। पुत्र न रहने पर विधवा को अपने पति की सम्पत्ति में कुछ भी अधिकार प्राप्त नहीं था परन्तु नियोग से पुत्र उत्पन्न हो जाने पर उन्हें भी सम्पत्ति में अधिकार मिलने लगा। इस प्रकार से उनकी आर्थिक दशा में बहुत कुछ उन्नति हुई।

वर्तमान समय में नियोग की प्रथा उच्च वर्णों में अत्यन्त दूषित समझी जाती है। यदि कोई देवर अपनी बाल-विधवा भावज से विवाह कर ले तो वह समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है। परन्तु तथाकथित नीच जातियों में यह प्रथा अब भी प्रचलित है। धीरे धीरे उच्च वर्णों की देखा देखी ये लोग भी इसे अब निन्दनीय समझने लगे हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने अनुयायियों को नियोग करने को आज्ञा दी है परन्तु ये लोग नियोग करने की अपेक्षा, विधवा-विवाह करना ही अधिक पसंन्द करते हैं। इस प्रकार यह प्रथा अब प्रायः नष्ट हो रही है।

पाश्चात्य देशों में नियोग की प्रथा—विभिन्न देशों की वैवाहिक प्रथाओं के अनुशीलन से पता चलता है कि नियोग की प्रथा केवल भारतवर्ष में ही विद्यमान नहीं थी वल्कि यह अन्य देशों में भी प्रचलित थी। डाउसन ने लिखा है कि आस्ट्रेलिया के दक्षिण - पश्चिम विक्टोरिया प्रदेश में जब कोई विवाहित पुरुष मर जाता है तव उसका छोटा भाई उसकी स्त्री से विवाह कर लेता है और वह अपने बड़े भाई की स्त्री तथा उसके वच्चों का पालन करना अपना परम कर्तव्य समझता है१। चुक्ची जाति में अनेक भाइयों में से एक के मर जाने पर छोटा भाई अपने जेठे भाई की विधवा स्त्री से विवाह कर उसकी रक्षा करना अपना परम धर्म मानता है। अफगानिस्तान में भी पहिले यही प्रथा प्रचलित थी तथा यह आज भी पायी जाती है परन्तु स्त्री को अपनी इच्छा के विरुद्ध विवाह करने के लिये वाधित नहीं किया जाता२। प्राचीन हिब्रू लोगों में यह प्रथा थी कि यदि कोई भाई पुत्र - हीन मर जाता था तो उसका दूसरा भाई उसकी विधवा स्त्री से विवाह कर लेता था और इससे जो प्रथम सन्तति उत्पन्न होती थी वही मृत पिता के धन को उत्तराधिकारी होती थी३। योरुवा (yoruba) भाषा को बोलने वाली जातियों में भी नियोग की प्रथा विद्यमान थी और इससे उत्पन्न प्रथम सन्तान का नाम मृत पिता के नाम पर रक्खा जाता था और वह पुत्र के समान ही माना जाता था४। कुछ जातियों में पति के छोटे भाई के द्वारा उत्पन्न किये

१. Dawson—Australian Aborginies P. 27

२. Elphinstone—Account of the kingdom of Kabul i, 236.

३. Denteronomy XXV. 5.

४. Ellis—Yoruba Speaking Peoples. P. 186,

गये पुत्र प्रथम पति के ही पुत्र समझे जाते थे१ । समोग्रा (Samoa) जाति में मृत व्यक्ति का भाई अपने बड़े भाई की विधवा पत्नी से विवाह करने का अधिकारी होता था तथा उसके मृत भाई के निरीह बच्चे उसको अपना पिता समझते थे२ ।

मेन ने संसार की विभिन्न जातियों में नियोग की प्रथा के उद्देश्य को बतलाते हुये लिखा है कि यहूदी, हिन्दू तथा मलगसी जातियों में यह प्रथा तभी व्यवहार में लायी जाती थो जब मृत व्यक्ति की कोई सन्तान नहीं रहती थी३ । यूरोपीय देशों में इस प्रथा का एक दूसरा भी ध्येय था और वह था प्रेतात्मा का डर । डा० कर्स्टन ने लिखा है कि ज़िबरोस जाति के लोगों का विश्वास है कि यदि मृत व्यक्ति की स्त्री उसके भाई को छोड़कर अन्य किसी से विवाह करती है तो उससे उत्पन्न पुत्र राक्षस पैदा होगा और उस स्त्री से विवाह करने वाला पुरुष अति-शीघ्र मर जायेगा४ ।

पूर्वोक्त उदाहरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतवर्ष के साथ ही साथ यह प्रथा अन्य देशों में भी प्रचलित थी । इसीलिये जो लोग हिन्दुओं को इस प्रथा को देखकर सदाचार का शिथिलता का उनके ऊपर दोपारोपण

---

१. Theal—Yellow and dark skinned people of Africa. P. 234.

२. Turner—Samoa P. 98.

३. "It is only when the deceased has no offspring that the Jews, Hindus and Malagasy prescribed that the brother should raise up seed to him."

Mayne—Treatise on Hindu law and usage P. 86.

४. Karsten—Contributions to the sociology of the Indian Tribes of Ecuador P. 75

करते हैं उनको यह पहिले समझ लेना चाहिये कि यह प्रथा प्राचीन काल में संसार में सर्वत्र प्रचलित थी। जहाँ अन्य देशों में मृत भ्राता की स्त्री से सन्तानोपत्ति करने के लिये संख्या का कोई बन्धन या नियम नहीं था वहाँ भारत में हमारे प्राचीन ऋषियों ने यह कठोर नियम बना दिया था कि नियोग के द्वारा तीन पुत्र से अधिक सन्तान कोई उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि इस नियम का कोई उल्लंघन करता है तो वह व्यभिचार का दोषी है। अतः इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि हमारे आचार्यों ने प्रजा-तन्तु का विच्छेद न होने के लिये ही यह प्रथा बनायी थी, काम-वासना की तृप्ति के लिये कदापि नहीं[१]।

---

१. इस विषय के विशेष वर्णन के लिये देखिये—
Dr. Westermark—History, Vol 111, P. 207–22.

—:※:—

११—हिन्दू विवाह का भविष्य

उपक्रम—गत पृष्ठों में विवाह की उत्पत्ति, इसका उद्देश्य एवं महत्व, इसका विकास तथा विभिन्न प्रकार के भेद; वर-वधू की योग्यता, विवाह का वय, विवाह के प्रतिबन्धक आदि विषयों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त वैवाहिक जीवन का उल्लेख करते हुये वैवाहिक संस्कारों का वर्णन कर उनकी महत्ता प्रतिपादित की गयी है। अन्त में सती तथा नियोग की प्रथा पर विचार कर विधवा स्त्री के कर्तव्य तथा उसकी दशा पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार से हिन्दू-विवाह के प्रत्येक अंग पर समुचित रीति से विचार करने का यहाँ प्रयास किया गया है। हिन्दू-विवाह का इतिहास प्रस्तुत करने के साथ ही साथ वर्तमान काल में प्रचलित प्रथाओं से इसका तुलना कर इसके गुण-दोषों का भी उल्लेख हुआ है। अनेक स्थानों पर भारतीय प्रथा का अन्य देशों की प्रथाओं से तुलना कर इसकी श्रेष्ठता प्रमाणित की गयी है। इस प्रकार से हिन्दू विवाह के भूत तथा वर्तमान दशा का गत पृष्ठों में परिचय दिया गया है। अतः अब हिन्दू विवाह के भविष्य के सम्बन्ध में विचार करना कुछ अनुचित न होगा? वर्तमान हिन्दू समाज भविष्य में कौन सा रूप धारण करेगा, वह किस वैवाहिक प्रथा को अपनायेगा, यह विचारणीय प्रश्न है। परन्तु इस विषय पर विचार करने के पहिले आजकल यूरोपीय देशों में फैली हुयी विभिन्न वैवाहिक समस्याओं पर दृष्टि-पात करना अत्यन्त आवश्यक है। इसका कारण यह है कि विदेशी रीति-रिवाजों का भारत पर प्रचुर प्रभाव पड़ रहा है तथा हिन्दू समाज इस प्रभाव से प्रभावित होता हुआ अपने सामाजिक स्वरूप को बड़ी शीघ्रता से बदल रहा है। ऐसी दशा में इन पाश्चात्य वैवाहिक समस्याओं पर यहाँ विचार करना कुछ अप्रासंगिक न होगा।

यूरोपीय देशों में प्रचलित विवाह के विभिन्न प्रकार—आजकल यूरोपीय देशों में विवाह - सम्बन्धी अनेक प्रथायें प्राप्त होती हैं। वहाँ के लोग वर्तमान सामाजिक परिस्थिति से ऊब गये हैं और वे नये नये प्रकार के विवाह सम्बन्धों की उद्भावना करने लगे हैं। आजकल वहाँ अनेक प्रकार के विवाह प्रचलित हैं जिनमें 'ट्रायल मैरेज,' 'कम्पेनियनेट मैरेज' तथा 'टेम्पोररी मैरेज' आदि प्रसिद्ध हैं।

(१) ट्रायल मैरेज (Trial marriage) परीक्षणात्मक विवाह—विवाह होने के पूर्व युवक तथा युवती एक दूसरे के स्वभाव तथा आदत को जानने के लिये पति तथा पत्नी के रूप में एक साथ ही कुछ काल तक निवास करते हैं। इसी प्रथा को 'ट्रायल मैरेज' (परीक्षणात्मक विवाह) करते हैं। [यह प्रथा पहिले जंगली जातियों में प्रचलित थी। बिहार राज्य के छोटा नागपुर में निवास करने वाली सन्ताल तथा मुण्डा नामक आदिवासियों में 'घुमकुरिया' नाम की जो प्रथा प्रचलित है उसे भी 'ट्रायल मैरेज' का भी एक रूप समझना चाहिए। दोनों में केवल इतना ही अन्तर है कि घुमकुरिया प्रथा के अनुसार गर्भाधान के पूर्व विवाह कर लेना आवश्यक समझा जाता है परन्तु "ट्रायल मैरेज" में ऐसा कोई भी प्रतिबन्ध नहीं है। यह गर्भाधान के पश्चात् तथा सन्तानोत्पत्ति के बाद भी सम्पादित किया जा सकता है। इस प्रथा का अनुसरण इसलिए किया जाता था कि पति यह देख ले कि उसकी भावी स्त्री उसकी काम - वासना की पूर्ति कर सकती है या नहीं। जब वह उसकी यौन - संबंधी इच्छा की पूर्ति करने में समर्थ होती थी तभी विवाह किया जाता था। वेस्टरमार्क का कथन है कि 'ट्रायल मैरेज' (वह विवाह जो परीक्षण करने के बाद किया जाता था)

यूरोप में पहिले भी प्रचलित थे और आज भी होते हैं[१]। स्काटलैण्ड में 'रिफार्मेशन' - सुधार आन्दोलन - के पहिले यह प्रथा के रूप में प्रचलित था जिसे 'हैण्डफास्टिङ्ग' कहते थे। वहाँ सार्वजनिक स्थानों तथा मेलों में पुरुष स्त्रियों को चुन लेते थे और उनके साथ एक वर्ष तक रहते थे। इस अवधि के पश्चात् दोनों दल विवाह करने अथवा न करने के लिए स्वतन्त्र होते थे। आजकल ट्यूटानिक देशों में ग्रामीण जनता में इस विवाह की प्रथा अत्यधिक प्रचलित है। जर्मनी के अनेक भागों में चालीस से लेकर पचास प्रतिशत और कहीं कहीं नव्वे प्रतिशत जितनी वैध सन्तान होती हैं वे सब ऐसी हैं जो विवाह होने के पूर्व ही उत्पन्न हुयी थीं[२]। इसका कारण यह है कि पुरुष अविवाहिता युवतियों को घर में लाकर रखते हैं और जब उनसे सन्तान उत्पन्न होने लगती हैं तब फिर उन्हीं से विवाह कर लेते हैं। इङ्गलैण्ड के प्रायः सभी ग्रामीण भागों में स्वतन्त्र सम्बन्ध (Free unions) की प्रथा वैध मानी जाती है। यूरोप के कई देशों में आजकल यह एक साधारण प्रथा सी चल पड़ी है जिसके अनुसार युवतियाँ कानूनी विवाह (Legal marriage) होने के पूर्व ही युवकों से यौन - सम्बन्ध स्थापित करती रहती हैं। क्लेरा कोलेट का मत है कि पूर्वी लण्डन के आधे भाग में विवाह कानूनी रूप से तभी किया जाता है जब साथ में रहने वाली युवती को बच्चा पैदा होने वाला होता है[३]। अमेरिका के बार्टलेट (Bart lett) नामक न्यायाधीश (जज) ने लिखा है कि वहाँ पर

---

१. Trial marriage has been and is still in practice on a large scale in Europe.
Dr. Westermark—Future of marriage P. I05

२. Dr. Westermark—Future of marriage P. 106

३. Clera Colate—Educated working women P. 44

विवाह के पहिले स्त्री और पुरुषों में मैथुन कर्म की अत्यधिक वृद्धि है१। डा० हेमिल्टन ने अनुसन्धान कर यह पता लगाया है कि ३३ प्रतिशत पुरुषों ने तथा ३१ प्रतिशत स्त्रियों ने विवाह के पूर्व अपने जोड़ों से मैथुन - सम्बन्ध स्थापित किया था२। प्रो० फेशर ने लिखा है कि जर्मनी में प्राय: प्रत्येक समाज में विवाह के पहिले ही युवक एवं युवती अपने माता तथा पिता की आज्ञा की चिन्ता न करके मैथुन कर्म करते हैं। इस प्रकार से यूरोप तथा अमेरिका में 'ट्रायल मैरेज' (Trial marriage) की वृद्धि प्रतिदिन होती जा रही है।

<u>२. कम्पेनियनेट मैरेज (सहवास विवाह)</u>—आजकल साधारण विवाह-सम्बन्धों की अपेक्षा यूरोप में युवक और युवतियों में स्वतन्त्र सम्बन्ध प्रचुरता से होने लगे हैं जिनको 'कम्पेनियनेट मैरेज' (Companionate marriage) कहते हैं। इस विवाह का बड़ा प्रचार है। इस शब्द का सर्व प्रथम व्यवहार डा० एम० एम० नाइट (Knight) ने किया था जिन्होंने यह बतलाया कि वर्तमान सभ्यता में अनेक परिवर्तन हो रहें हैं, अतः फलस्वरूप अज्ञात रूप में विवाह - सम्बन्ध में भी परिवर्तन हो गया है। आपके मतानुसार से 'कम्पेनियनेट मैरेज' वह विवाह संबंध है जिसमें स्त्री और पुरुष सन्तान - उत्पत्ति की इच्छा न करते हुए केवल अपनी काम - वासना की तृप्ति के लिए ही एक साथ रहते हैं३। सुप्रसिद्ध

---

१. Bart Lett—Men, women and conflict P. 160

२. G. V. Hemilton—A research in marriage P. 373

३. "A marriage of the companionate type is a union of two people for sexual companion-ship without the intention of producing offspring."
Dr. M. M. Knight—The companionate Marriage and the family.

न्यायाधीश लिएडसे (Lindsey) के मत से "कम्पेनियनेट विवाह" वह कानूनी विवाह है जिसमें सन्तान - निग्रह की आज्ञा कानूनी रूप में प्राप्त होती है तथा सन्तानहीन दम्पत्ति को यह अधिकार होता है कि वे अपनी इच्छा से जब चाहें एक दूसरे को तलाक कर दें। यह विवाह की वह न्यायोचित व्यवस्था है जो प्रेम, संग तथा सहयोग के लिये उन लोगों के द्वारा स्वीकार की जाती है जो अपने निर्बल स्वास्थ्य के कारण या धन के अभाव से अथवा स्वभाव के दौर्बल्य से गृहस्थी के भार को संभालने में असमर्थ है१।"

लिएडसे ने ऐसे विवाह का समर्थन करते हुए लिखा है कि इस प्रकार के विवाह से अनेक लाभ हैं। यह विवाह उन स्त्रियों के लिये विशेष रूप से अनुकूल है जो नौकरी, मजदूरी आदि कोई पेशा करती है; जो परिवार के भार को वहन नहीं करना चाहतीं फिर भी संगी के रूप में किसी पुरुष के साथ रहना पसन्द करती हैं। यह विवाह उन पुरुषों के लिये भी उपयोगी है जो कोई नौकरी या व्यवसाय

---

१. "The Companionate Marriage is a legal marriage, with legalised birth - control and with the right to divorce by natual consent. for childless couples. It is a state of lawful wedlock, entered into for love, Companionship and Coopration by persons who, for reasons of health, finances, temperament etc. are not prepared at the time of their marriage to undertake the care of a family." Lindsay—The Companionate marriage P. 175

करते हैं परन्तु उनकी आमदनी इतनी अधिक नहीं है कि वे अपने भावी परिवार का खर्चा चला सकें। इसके साथ ही वे इतने अधिक दिनों तक विवाह को स्थगित भी नहीं कर सकते जब तक उनकी आमदनी प्रचुर रूप में न हो जाय। इस विवाह से एक लाभ यह भी है कि शरीर एवं मन से रुग्ण तथा असमर्थ माता - पिता अयोग्य एवं दुर्बल सन्तान उत्पन्न करने का अपराध नहीं कर सकते।

लिण्डसे ने लिखा है कि "कम्पेनियनेट" विवाह साधारण विवाह की भूमिका मात्र है। दम्पत्ति एक साथ रहते हुये जब इस बात का अनुभव अच्छी तरह से कर लेते हैं कि हम दोनों (स्त्री और पुरुष) परिवार के उत्तरदायित्व का वहन करने में समर्थ हैं तो वे फिर सन्तान की उत्पत्ति में भी प्रवृत्त हो जाते हैं। परन्तु जो लोग यह समझते हैं कि हम लोगों का पारिवारिक जीवन सुखी नहीं रह सकता वे केवल यौन-संबंध स्थापित करके ही सन्तुष्ट हो जाते हैं और सन्तान को उत्पन्न कर उसके पालन - पोषण करने का कष्ट नहीं उठाते[1]। सन्तान उत्पत्ति करने के निमित्त विवाह - सम्बन्ध करने के लिये स्त्री और पुरुषों की प्रवृत्ति तभी होती है जब वे सन्तान उत्पन्न होने के पहिले ही पारस्परिक प्रेम की दृढ़ता और स्थायिता की जाँच कर लेते हैं[2]। इस प्रकार के विवाह से पारिवारिक ढंग के विवाहों की स्थिरता अधिक बढ़ती है तथा स्त्री और पुरुष को इससे जो स्वतन्त्रता मिलती है उससे वे एक दूसरे को समझने में अधिक समर्थ होते हैं। अतएव यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि "कम्पेनियनेट" विवाह का उद्देश्य पारिवारिक भार को वहन न करके, केवल काम - वासना की तृप्ति करना ही है।

I. The revolt of modern youth P. 179

2. The Companionate marriage P. 277

(३) टेम्पोररी मैरेज (अस्थायी विवाह) Temporary marriage-

डा० इ० डी० कोप (Cope) ने एक नये प्रकार के विवाह की उद्भावना की है जिसको वे 'टेम्पोररी मैरेज' या अल्पकालीन विवाह कहते हैं। उनका विचार है कि विवाह सम्बन्धी बहुत सी बुराइयाँ इस प्रकार के विवाह से दूर हो सकती हैं। यह विवाह एक प्रकार का वैवाहिक ठेका (Civil marriage contract) है जो पहिले पाँच वर्ष के लिये, फिर दस या पन्द्रह वर्ष के लिये तथा अन्त में आजीवन किया जाता है। डा० कोप के मत से इस प्रकार के विवाद का उद्देश्य यह है कि इस वैवाहिक रीति से विवाह सम्बन्धी अनेक भूलों के सुधारने का मौका मिलता है और जिस दम्पत्ति ने गलतियाँ की हैं उसको अपने सुधार और जीवन के पुनर्निर्माण के लिये पर्याप्त अवसर प्राप्त होता है[१]। वैवाहिक काल के इस नियत समय के अन्दर स्त्री और पुरुष अपनी काम-वासना की तृप्ति करते हुये सन्तान की उत्पत्ति भी कर सकते हैं। इस अवधि के भीतर कोई भी तलाक नहीं दे सकता, परन्तु पाँच वर्ष बीत जाने पर यदि स्त्री तथा पुरुष का पारस्परिक सम्बन्ध प्रेम पूर्ण न हो तो वे तलाक देकर अलग हो सकते हैं। परन्तु प्रायः यही दृष्टिगत होता है एक बार विवाह-बन्धन में फँस जाने पर स्त्री और पुरुष का वैवाहिक जीवन चिरस्थायी हो जाता है और वे तलाक की अपेक्षा आजीवन एक साथ रहना ही अधिक पसन्द करते हैं। इस प्रकार से इस विवाह से स्त्री और पुरुष दोनों को एक दूसरे को जानने के लिये प्रचुर अवसर प्राप्त होता है जिससे वे अपने भावी जीवन के संगी को सावधानी से चुन सकते हैं।

I. Dr. E. D. Cope—The Marriage Problem P. 132

पाश्चात्य समाज में अशान्ति का कारण—यहाँ जिन विभिन्न प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया गया है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि पश्चिमी समाज में विवाह की कल्पना कितनी तुच्छ और निन्दित है। पाश्चात्य देशों में विवाह का एक मात्र उद्देश्य काम-वासना की तृप्ति करना है। जहाँ भारत में विवाह का ध्येय धार्मिक तथा सामाजिक है अर्थात् पुत्र की उत्पत्ति कर राष्ट्र तथा समाज की सेवा करना है, वहाँ पाश्चात्य देशों में इसका उद्देश्य व्यक्तिगत—अपनी काम-वासना की तृप्ति करना—हो गया है जहाँ विवाह का ऐसा उद्देश्य हो वहाँ समाज में शान्ति कैसे रह सकती है। पाश्चात्य देशों में स्त्री और पुरुष को विवाह सम्बन्धी पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है। अपनी काम-वासना की तृप्ति के लिये ही वे विवाह करते हैं और यदि इस कार्य में कुछ बाधा उपस्थित होती है तो शीघ्र ही तलाक देने के लिए तैयार हो जाते हैं। यूरोप और अमेरिका में तलाक की प्रथा का प्रचुर प्रचार है। यहाँ तक कि बहुत छोटी-छोटी बातों पर स्त्री और पुरुष एक दूसरे को तलाक दे देते हैं। अमेरिका में विवाह और तलाक का अनुपात ६ : १ का है अर्थात् प्रत्येक छः विवाहों में एक का तलाक अवश्य होता है। तलाक की यह प्रथा वहाँ दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ रही है। परन्तु वहाँ के लोग अब इस प्रथा से इतने ऊब गये है कि इसको रोकने के लिये कानून बनाये जा रहे हैं। स्त्रियों की स्वतन्त्रता के परम पुजारी रूस देश में भी अब ऐसे कानूनों का निर्माण हो रहा है जिससे साधारण सी बातों पर तलाक न हो सके।

विवाह के लोप की सम्भावना—यूरोप में सामाजिक बन्धन इतना शिथिल हो गया है कि इसका वर्णन करना कठिन है। इस समाज में कोई भी युवक किसी भी युवती के पास जाकर अपनी वासना की तृप्ति के लिए प्रार्थना कर सकता है। वह जब चाहे तब अपनी "संगिनी"

को छोड़ कर दूसरी युवती के साथ प्रेम जोड़ सकता है। वहाँ गृहस्थी का भार उठाना कोई सरल कार्य नहीं है। पश्चिमी देशों में विवाह होते ही पिता अपने पुत्रों को घर से अलग कर देता है। इस प्रकार पुत्र को ही अपने स्त्री तथा सन्तान का पालन - पोषण करना पड़ता है। विदेशों में रहन - सहन का स्टैंडर्ड ऊँचा होने के कारण वहाँ गृहस्थी जमाने में आर्थिक कठिनाइयाँ भी उठानी पड़ती हैं। यह एक बड़ी विषम समस्या है। यदि युवक की आय पर्याप्त मात्रा में नहीं है तो उसके लिये अपनी गृहस्थी का खर्चा चलाना अत्यन्त कठिन है। इस कारण पाश्चात्य युवक अब विवाह - बन्धन में फँसना पसन्द नहीं करता। वहाँ की युवतियाँ—जो किसी मिल में काम करती हैं अथवा किसी आफिस में क्लर्क हैं या किसी होटल की संचालिका हैं—को भी इतना अवकाश हो कहाँ है जो विवाह कर बच्चा पैदा करें और उनके पालन - पोषण का भार वहन करें। अतः वे भी किसी 'मित्र' (Friend) को तलाश कर उसके साथ रहने लगती हैं और किसी कारण पसन्द न आने पर उसका परित्याग कर पुनः दूसरा 'मित्र' खोज लेती हैं। इस प्रकार से पाश्चात्य युवक और युवतियों की दशा उन रसिक भ्रमरों के समान है जो 'रस' लेने के लिये नित्य नये नये फूलों पर बैठते हैं और वहाँ पूर्ण तृप्ति प्राप्त न होने पर दूसरी जगह छोड़कर चले जाते हैं। संस्कृत में एक कहावत है कि "अर्के च मधु विन्देत, किमर्थं पर्वतं व्रजेत्" अर्थात् यदि सरलता से पास में ही यथेष्ट वस्तु मिल जाय तो उसके लिये दूर जाने की क्या आवश्यकता है। इस प्रकार से जब युवक तथा युवतियों की काम - वासना की तृप्ति बिना विवाह के ही हो जाती है तब वे क्यों व्यर्थ में विवाह के उत्तर-दायित्व को स्वीकार करें। इस मनोवृत्ति का परिणाम यह हो रहा है कि जहाँ पाश्चात्य देशों में तलाकों की संख्या की वृद्धि हो रही है वहाँ विवाहों की संख्या दिन पर दिन घटती चली जा रही है।

डा० वेस्टरमार्क ने इङ्गलैण्ड और वेल्स के प्रति १०,००० विवाह करने योग्य लोगों के वार्षिक विवाह की संख्या के जो आंकड़े दिये हैं उनसे यह स्पष्ट प्रतीत है इङ्गलैण्ड में विवाह की संख्या दिन पर दिन घटती चली जा रही है[१]। यद्यपि गत विश्व युद्ध के बाद से विवाहों की संख्या में कुछ वृद्धि हुयी है परन्तु यह बहुत कम है। पाश्चात्य युवक और युवतियों की इस मनोवृत्ति का परिणाम यह हो रहा है कि उन देश में बच्चों की कमी हो रही है और फल स्वरूप इससे राष्ट्र का बल क्षीण हो रहा है। द्वितीय यूरोपीय महायुद्ध में फ्रान्स के पतन का कारण बतलाते हुये मार्शल पेताँ ने सन्' ४० के अपने एक ब्राडकास्ट में कहा था कि 'बच्चों की अत्यधिक कमी' के कारण ही फ्रान्स की पराजय हुई है। परन्तु संतोष का विषय है कि कुछ राष्ट्रों के कर्णधार इस दुष्परिणाम को समझने लगे हैं और स्त्रियों को अधिक सन्तान पैदा करने के लिये प्रोत्साहित कर रहे है। इटली के भूतपूर्व भाग्य विधाता मुसोलिनी ने अपने उत्कर्ष के दिनों में इटली की जनसंख्या को बढ़ाने के लिये अनेक प्रयत्न किये थे। रूस के भूतपूर्व प्रधान मंत्री स्टालिन ने भी यह घोषणा की थी कि राष्ट्र का कोई भी बच्चा अवैध (गैर कानूनी) नहीं समझा जायेगा और 'अविवाहिता माता' भी अपने बच्चों को सरकारी शिशु शालाओं में रख सकेगी। पाँच या उससे अधिक बच्चों की माता को 'मातृत्व पदक' मिलेगा और दस या उससे अधिक बच्चों की माता 'वीर माता' कहलायेगी। इस प्रकार से पाश्चात्य देशों के राष्ट्रीय नेता विवाह में उदासीनता की नीति के दुष्परिणाम को समझने लगे हैं और उसे दूर करने के प्रयत्न में संलग्न हैं।

---

१. डा० वेस्टरमार्क—फ्यूचर आफ मैरेज पृ० १५३

[१] हिन्दू विवाह की विशेषता—यूरोपीय समाज की अशान्ति का प्रधान कारण उसके विवाह - सम्बन्ध को अस्थिरता है। जिस देश में विवाह- संबंध की मूलभित्ति दृढ़ नहीं हैं वह समाज कभी शान्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है यूरोप में विवाह के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं। कोई इसे सामाजिक ठेका (Social contract) समझता है, तो कोई अल्प कालीन सहवास का अवसर। कोई इसे पति या स्त्री की परीक्षा करने का मौका मानता है। जिस प्रकार कोई ठेका किसी दल की इच्छा के अनुसार तोड़ दिया जा सकता है उसी प्रकार पाश्चात्य विवाह भी। विदेशों में विवाह का उद्देश्य काम - वासना की तृप्ति है परन्तु हिन्दू विवाह का ध्येय धार्मिक और सामाजिक आदर्शों की रक्षा करना है। हमारा धार्मिक उद्देश्य अपनी धर्मपत्नी के साथ यज्ञ यागादि करने से सिद्ध होता है। हमारे धर्मशास्त्रों ने स्पष्ट ही लिखा है कि स्त्री का प्रधान कार्य धार्मिक कृत्यों की पूर्ति करना है। सन्तान की उत्पत्ति कर समाज की सेवा करना विवाह का दूसरा उद्देश्य है। हिन्दू-समाज विवाह करके सन्तान पैदा न करने की अथवा 'सन्तानहीन विवाह' की कभी कल्पना भी नहीं कर सकता। मनु ने स्पष्ट ही लिखा है कि "प्रजनार्थं स्त्रियाः सृष्टाः" अर्थात् सन्तान उत्पन्न करने के लिये ही स्त्रियों की सृष्टि की गयी है। उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि स्त्रियाँ काम - वासना की तृप्ति के लिए बनायी गयी हैं। यहाँ तक कि कामशास्त्र के आचार्य वात्स्यायन ने भी काम की तृप्ति को विवाह का केवल आनुषङ्गिक फल माना है, प्रधान कभी नहीं, जैसा कि पाश्चात्य देशों में 'कम्पेनियनेट या ट्रायल मैरेज' का प्रधान लक्ष्य है। इस प्रकार से हिन्दू विवाह का उद्देश्य यूरोपीय देशों के उद्देश्य से सर्वथा भिन्न है।

[२] तलाक का अभाव–हिन्दू विवाह की दूसरी विशेषता इसकी अविच्छेद्यता है। हमारे यहाँ पति और पत्नी दोनों को विवाह - काल की प्रतिज्ञाओं का पालन करना पड़ता था जिसमें यावज्जीवन एक साथ रहने तथा प्रेमपूर्वक व्यवहार की प्रतिज्ञा की जाती थी। अतः विवाह बन्धन के विच्छेद की कल्पना भी हिन्दू समाज में नहीं पाई जाती थी। स्त्री पुरुष की अर्धाङ्गिनी समझी जाती थी, वह उसका आधा अङ्ग थी। ऐसी दशा में विवाह-विच्छेद की समस्या हमारे यहाँ उपस्थित ही नहीं होती थी। इसी अविच्छेद्यता की मूल तथा दृढ़भित्ति पर हिन्दू विवाह का प्रासाद खड़ा था। विवाह हो जाने पर पत्नी अपने पति को ही एकमात्र आराध्य समझती थी तथा पति स्त्री अपने जीवन की संगिनी मानता था। इस प्रकार दोनों का प्रेम एक दूसरे में सीमित हो जाता था और वे परस्पर प्रेम - पूर्वक रहते थे। परन्तु पाश्चात्य देशों में तलाक की प्रथा प्रचलित है। यूरोप में स्त्री और पुरुषों का सम्बन्ध प्रधानतया रूप-लोभ के कारण होता हैं। कोई युवक देखता है कि अमुक युवती सुन्दरी है और उससे वह अपना प्रेम जोड़ लेता है परन्तु ज्योंही उसके सौन्दर्य में कमी हो जाती है, वृद्धावस्था के कारण उसके अप्रतिम रूप में शैथिल्य आ जाता है त्योंही वह युवक उस युवती को छोड़कर, उसे किसी बहाने से तलाक देकर, किसी दूसरी रमणी से विवाह कर लेता है। युवती भी इसी प्रकार एक पुरुष को छोड़कर दूसरे पुरुष से प्रेम करने लगती है। इस प्रकार तलाक की इस प्रथा से अब पाश्चात्य देशों के लोग भी ऊब से गये हैं। पाश्चात्य विवाह बन्धन अस्थायी है परन्तु भारतीय विवाह-संबंध स्थायी, अटल और स्थिर है। भारतीय दम्पत्ति का प्रेम, सुख और दुःख में एक समान रहता है, इसमें न तो बुढ़ापा के कारण कमी आती है और न समय के परिवर्तन से इसमें विकार ही उत्पन्न होता है। महाकवि भवभूति ने हिन्दू - समाज के वैवाहिक प्रेम के आदर्श का बड़ा ही सुन्दर चित्रण अपने नाटक 'उत्तर रामचरित' में इस प्रकार किया है।

"अद्वैतं सुखदु:खयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्,
विश्रामो हृदयस्य, यत्र जरसा यस्मिन्न हार्यो रसः ।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं;
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ॥

इस प्रकार से हिन्दू समाज में विवाह - सम्बन्धी दृढ़ता के कारण अनन्त शान्ति विराज रही है। हिन्दुओं की गृहस्थी का वातावरण नितान्त शान्त है। न इसमें रस-भंग है और आनन्द की कमी। पति स्त्री को अपनी चिर संगिनी प्रिया और स्त्री उसे अपना स्वामी समझ कर परस्पर प्रेम से रहते हैं। यूरोप की भाँति न तो यहाँ क्षण - क्षण में 'डाइवोर्स' का डर है और न पारिवारिक अशान्ति का भय।

हिन्दू - समाज में वर्तमान कुछ दोष—समय के प्रभाव से कोई बच नहीं सकता। जिस प्रकार समय के बीतने के साथ मनुष्य में परिवर्तन होता है उसी प्रकार संस्थाओं की भी बात समझनी चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि हमारी विवाह - सस्था आदर्श रही है। परन्तु आजकल समय के प्रभाव से विवाह में अनेकानेक दोष आ गये हैं जिनकी ओर दृष्टिपात न करना 'गज निमीलिका' ही होगी तथा जिनको दूर करने के उपाय न सोचना महान् राष्ट्रीय अपराध होगा।

(१) तिलक तथा दहेज की प्रथा—हिन्दू समाज में सबसे बड़ा दोष विवाह में तिलक और दहेज की नितान्त दूषित प्रथा है। इस प्रथा के अनुसार वर का पिता कन्या के पिता से अपने लड़के का विवाह करने के लिये एक निश्चित धन की राशि का 'डिमाण्ड' करता है जो लड़की वाले के लिये देना प्रायः असम्भव हो जाता है। बिना इस दक्षिणा को दिये लड़की का विवाह होना नितान्त कठिन है। यह प्रथा किसी न किसी रूप में इस देश के प्रत्येक राज्य में प्रचलित है परन्तु उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों तथा

बंगाल में इस प्रथा का बड़ा ही ज़ोर है। कितने ही निर्धन पिता इस निश्चित धन—जो पन्द्रह-बीस हजार रुपयों से कम नही होता—को न दे सकने के कारण अपनी लड़कियों का विवाह उचित वरों से नहीं कर पाते और उन्हें किसी अयोग्य व्यक्ति को लाचार होकर अपनी कन्या देनी पड़ती है। पिता के द्वारा दहेज देने की शक्ति के अभाव में कितनी ही लड़कियाँ अनेक वर्षों तक कुंवारी ही पड़ी रहती हैं तथा कितनी अपने विवाह के लिये माता और पिता के कष्टों को देखकर अपनी आत्महत्या तक कर लेती हैं। बंगाल की स्नेहलता का नाम कौन नहीं जानता जिसने अपने पिता के कष्टों को देखकर अपने शरीर में आग लगा दिया और जल मरी। परन्तु हिन्दू समाज में एक, दो नहीं, हजारों स्नेहलतायें विद्यमान हैं जिन्हें कोई जानता भी नहीं! तिलक तथा दहेज की प्रथा अवैदिक, अधार्मिक, दूषित तथा निन्दनीय है। इसकी जितनी भी निन्दा की जाय वह सब थोड़ी है। अतः इस प्रथा का जितना ही शीघ्र नाश हो सके उतना ही अच्छा हो। प्रत्येक हिन्दू युवक को यह प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि "मैं तिलक लिये बिना ही अपना विवाह करूँगा" और इसके लिये यदि उन्हें अपने माता और पिता की आज्ञा की उपेक्षा भी करनी पड़े तो इसमें तनिक भी संकोच नहीं करना चाहिये।

<u>(२) बाल तथा वृद्ध विवाह—</u>हिन्दू समाज में दूसरा दोष बालकों तथा वृद्धों का विवाह है। प्राचीन काल में युवकों का ही विवाह होता था। जब ब्रह्मचारी गुरुकुल से विद्याध्ययन समाप्त कर लौटता था तभी उसका पाणि - ग्रहण संस्कार होता था। परन्तु आजकल पाँच - सात वर्ष के बालकों का भी विवाह कर दिया जाता है। सच तो यह कि अल्प काल में बालकों का विवाह करना धनी होने का सूचक माना जाता है। इससे अधिक देश का दुर्भाग्य और क्या हो सकता है। बाल विवाह करने से, पहिले तो युवकों की शक्ति का ह्रास होता है, दूसरे उससे उत्पन्न सन्तान दुर्बल होती है। इसीलिये भारत में नवजात शिशुओं की मृत्यु का अनुपात संसार

में सबसे अधिक है। परन्तु यह शुभ लक्षण है कि पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से यह बुराई धीरे धीरे दूर होती जा रही है। फिर भी हिन्दू-समाज का यह कर्तव्य है कि बाल-विवाह की प्रथा को यथा शीघ्र समाप्त कर दें। इसके साथ ही दूसरी बुराई वृद्ध विवाह की है। आजकल ऐसा देखा जाता है अनेक बूढ़े लोग अपने पुत्र और पौत्रों के विद्यमान रहते हुये भी छोटी छोटी दुधमुँही बच्चियों से विवाह कर लेते हैं। हिन्दू-समाज में इससे बड़ा दूसरा कलंक और नहीं हो सकता। आश्चर्य यह है कि यह समाज उनकी तनिक भी निन्दा नहीं करता। ये वृद्ध महाशय काम-वासना से पीड़ित होकर विवाह तो कर लेते हैं परन्तु एक ही दो वर्षों के बाद ये यमराज के विकराल गाल में चले जाते हैं और इनकी छोटी बाल-विधवा स्त्री, आजीवन वैधव्य के दुःखों को सहन करती हुयी हिन्दू समाज की दुर्दशा पर आँसू बहाया करती है। यदि प्रचण्ड काम-वासना ने उसे सताया तो वह भी किसी चकले या दाल की मण्डी की शोभा बढ़ाती है। परन्तु वह यदि इतनी साहसी नहीं हुई तो गुप्त रीति से व्यभिचार कर भ्रूण-हत्या करती है और हिन्दू-समाज के पाप को बढ़ाती है। अतः सरकार का यह कर्तव्य है इस वृद्ध विवाह को कानूनन अवैध घोषित कर दें जिससे इसका समूल नाश हो जाय।

(३) विधवा-विवाह का अभाव—हिन्दू समाज में तीसरा दोष विधवा विवाह का न होना है। विधवाओं का पुनर्विवाह न होने से देश को क्या हानि हो रही है इसका विस्तृत विवेचन इसी पुस्तक में अन्यत्र (नवाँ अध्याय) किया जा चुका है। यहाँ इस विषय में केवल यही कहना है कि यदि हिन्दू समाज को जीवित रहना है, यदि समाज चाहता है कि हिन्दू जाति का पतन अब अधिक न हो, तो उसे कम से कम अक्षतयोनि बाल विधवाओं के पुनर्विवाह करने की अनुमति देनी ही पड़ेगी। इन पंक्तियों के लेखक ने इस विषय पर बड़ा गम्भीर विचार किया है और वह इसी

निष्कर्ष पर पहुंचा है कि अक्षतयोनि बाल - विधवाओं का विवाह नितान्त शास्त्रीय, न्यायोचित, व्यवहार्य तथा मंगल—कारक है। यदि कोई व्यक्ति धर्म शास्त्र की अनुमति चाहता हैं तो वह भी इसके लिये विद्यमान है। यदि हम इस समस्या पर व्यावहारिक तथा सामयिक दृष्टि से विचार करते हैं तो विधवाओं का विवाह उचित प्रतीत होता है। अतः ऐसी दशा में बाल - विधवाओं का विवाह नितान्त आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। महात्मा गाँधो ने अपने एक भाषण में इस समस्या को सुलझाते हुये कहा था कि यदि सभी हिन्दू युवक यह दृढ़ प्रतिज्ञा कर लें कि "मैं केवल विधवा स्त्री से ही विवाह करूँगा" तो इस समस्या का शीघ्र ही समाधान हो जायेगा। परन्तु क्या हिन्दू युवकों में इतना साहस है?

(४) <u>असवर्ण विवाह</u>—आजकल समाज में अनेक असवर्ण विवाह भी होने लगे हैं। ये असवर्ण विवाह अनुलोम ही नहीं है बल्कि प्रतिलोम भी हो रहे हैं। शास्त्रों में प्रतिलोम विवाह की बड़ी निन्दा की गई है। इसका प्रधान कारण यह है कि 'बीज' शुद्ध तथा श्रेष्ठ होना चाहिये। परन्तु प्रतिलोम विवाह में ठीक इसके विपरीत होता है। इसलिये यह अवाञ्छित है। परन्तु आज हिन्दू समाज के बड़े बड़े तथाकथित नेता इस शास्त्रीय नियम का उल्लंघन कर प्रतिलोम विवाह कर रहे हैं। शास्त्रों का यह आदेश है कि समान संस्कृति वाले लोगों में ही विवाह सम्बन्ध करना चाहिये। यह निश्चित है कि विभिन्न वर्णों का स्वभाव, संस्कृति और विचार धारा एक नहीं हो सकती। अतः दोनों में विवाह सम्बन्ध करना निन्दनीय है। परन्तु पाश्चात्य सभ्यता के चकाचौंध में हम अपनी सुन्दर वस्तुओं को भी बुरी समझने लगे हैं और दूसरों के अनुकरण में ही अपना कल्याण मानते हैं।

(५) <u>प्राचीन आदर्शों का ह्रास</u>—पश्चिमी सभ्यता के कारण हमारे प्राचीन आदर्शों में भी ह्रास दिखाई पड़ने लगा है। प्राचीन समय में स्त्री और पुरुष का प्रेम स्वाभाविक तथा अनन्य होता था और दोनों में उच

प्रेम में कभी कमी नहीं होती थी। प्राचीन काल में स्त्रियाँ पति को प्राणों से भी अधिक प्रेम करती थीं। यह संतोष की बात है कि यह आदर्श हिन्दू - नारी में आज भी विद्यमान है। वह अपने पति को प्रेम - वेदी पर बलिदान होने के लिये आज भी तैयार है। परन्तु पुरुषों में इस आदर्श की कुछ कमी दिखाई पड़ रही है। राम का एक पत्नी-व्रत प्रसिद्ध है। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ करते समय सीता की स्वर्ण प्रतिमा को अपने साथ रक्खा परन्तु दूसरा विवाह नहीं किया। राम के इस अनन्य एक पत्नी-व्रत के आदर्श में आज नितान्त ह्रास दिखाई पड़ रहा है। कितने पुरुष अपनी स्त्रियों को छोड़कर अपना दूसरा विवाह कर लेते हैं और उन्हें अनेक कष्ट देते हैं। बहु - विवाह की यह प्रथा नितान्त दूषित है। इससे गृह कलह उत्पन्न होता है और कुल का नाश हो जाता है। अतः राम के आदर्श को पालन करने में ही हमारा कल्याण है।

<u>हिन्दू - विवाह का भविष्य</u>—हिन्दू समाज में जो कुरीतियाँ आ गई हैं, विवाह के क्षेत्र जो कुप्रथायें प्रचलित हो गई हैं उनकी चर्चा की जा चुकी है। इन परिस्थितियों के कारण हिन्दू समाज का भविष्य बड़ा कष्टप्रद तथा निराशा जनक है। प्रस्तुत लेखक को हिन्दू-विवाह का भविष्य बड़ा ही अन्धकारमय दृष्टि-गोचर हो रहा है। यदि तिलक - दहेज की पिशाचिनी का नाश नहीं किया गया तो यह समस्त समाज को निगल जायेगी। यदि हिन्दू-समाज के ठेकेदार, तथा इस समाज के वास्तविक शुभ-चिन्तक, समाज की इन कुत्सित प्रथाओं को समूल नष्ट करने का उपाय नहीं सोचेगें तो हिन्दू-विवाह का विशाल प्रासाद अचिरादेव भूमिसात् हो जायेगा। हमारे धर्म शास्त्रकारों ने जिन वैवाहिक विधियों का अनुष्ठान आवश्यक बतलाया था उनकी नितान्त उपेक्षा होने लगी है। किम्बहुना, सप्तपदी की वे सात प्रतिज्ञायें—जिन्हें विवाह का अत्यावश्यक अंग बतलाया गया है—न तो उन्हें कोई जानता है और न पालन करता है। आज वैवाहिक विधि का प्रधान उद्देश्य कन्या के पिता से किसी प्रकार से धन को चूसना हो गया है। ऐसी परिस्थिति में धन के लोलुप वर - पक्ष वालों के लिए शास्त्रीय वैवाहिक विधियों का कोई महत्व नहीं है। वह दिन अब दूर नहीं है जब विवाह बाजारू क्रय-विक्रय की वस्तु बन जायेगा और सभी विधि-विधानों का लोप हो जायेगा। अतः हिन्दू-विवाह का भविष्य निश्चितमेव अन्धकार-पूर्ण है।

१२-हिन्दू-विवाह के संबंध में कुछ विचार

विगत दशाधिक अध्यायों में हिन्दू समाज में प्रचलित विभिन्न विवाहों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है तथा इसकी तुलना विदेशों में प्रचलित विवाहों से की गई है। इसके साथ ही विधवा-विवाह, नियोग की परम्परा तथा सती आदि विभिन्न विषयों की चर्चा की गई है। इस अध्याय में हिन्दू-समाज में प्रचलित कुछ बुराइयों का उल्लेख कर उनको दूर करने के सुझाव दिये गये हैं। वर्तमान हिन्दू-समाज में विवाह संबंधी अनेक समस्यायें सुरसा के समान मुँह बाये खड़ी हैं। यदि समुचित रीति से इनका समाधान शीघ्र ही नहीं किया गया तो यह कुप्रथा रूपी राक्षसी हिन्दू-समाज को निगल जायेगी।

वर्तमान पंक्तियों का लेखक न तो भविष्य वक्ता ज्योतिषी होने का दावा कर सकता और न वह समाज-शास्त्र का पारंगत पण्डित कहे जाने का अधिकारी है। परन्तु लगभग साठ वर्षों से उसने हिन्दू-समाज की अन्तरात्मा को देखा है और उसे पहिचानने का प्रयास किया है। इसी अनुभूत ज्ञान के बल पर, समाज-शास्त्र का एक साधारण अनुसन्धाता होने के कारण उसने कुछ सुझाव देने का विनम्र प्रयास किया है। आशा है ये सुझाव अनुभव की निकष-ग्रावा पर कसे जाने पर शुद्ध प्रमाणित होंगे।

क—परिवार नियोजन की समस्या

स्वतन्त्रता की प्राप्ति (सन् १९४७ ई०) के पहिले इस देश में परिवार नियोजन की कोई समस्या नहीं थी। यद्यपि देश के विभाजन के पहिले इस देश की आबादी वर्तमान जन-संख्या से कहीं अधिक थी परन्तु उस समय इस

नियोजन की कोई उपयोगिता नहीं समझी जाती थी। परन्तु देश के विभाजन के पश्चात् स्वतन्त्र भारत के राष्ट्रीय नेताओं का ध्यान देश की बढ़ती हुई आबादी की ओर आकृष्ट हुआ और उन्होंने परिवार नियोजन की आवश्यकता पर बहुत अधिक बल देना प्रारम्भ कर दिया। परिवार नियोजन सरकारी कार्य क्रम का एक अंग बन गया और हमारी स्वतंत्र भारत की स्वतंत्र सरकार ने विभिन्न साधनों से इसका प्रचार और प्रसार करना प्रारम्भ कर दिया।

परिवार नियोजन (Family Planning) क्या है? यह सन्तान-निरोध या सन्तति निग्रह का ही दूसरा सुन्दर नाम है। इसका आशय होता है अपने बच्चों को पैदा करने पर नियंत्रण रखना, चाहे वह वैध साधनों से हो अथवा अवैध मार्ग से। सरकार नीति की घोषणा के अनुसार किसी भी व्यक्ति को दो या तीन बच्चों से अधिक सन्तान उत्पन्न नहीं करना चाहिए। यदि उसे तीन बच्चे उत्पन्न हो जाँय तो इसके पश्चात् उसे कृत्रिम उपायों से सन्तान की उत्पत्ति को रोकना चाहिए। इस प्रकार यह परिवार नियोजन पाश्चात्य देशों में प्रचलित 'वर्थ कन्ट्रोल' का ही दूसरा रूप है।

सरकार का मन्तव्य यह है कि इस देश की आबादी बढ़ती जा रही है तथा पैदावार कम हो रही है। अतः यदि वर्तमान क्रम (रेट) से ही जन-संख्या में वृद्धि होती रही तो देश में दुर्भिक्ष पड़ जायेगा तथा समस्त जनता को खिलाने के लिए अन्न का अत्यन्ताभाव हो जायेगा। परन्तु यह तर्क कुछ वैसा ही है जैसे चारपाई पर सोये हुए किसी लम्बे आदमी के पैरों को काटकर उसे चारपाई के बराबर बना देना। यदि देश में अन्न की कमी है, तो उर्वरक (खाद) तथा सिंचाई की सुविधा बढ़ाकर, बीज, ट्रैक्टर तथा 'विजली' जैसे साधन किसानों को देकर अन्न की पैदावार को बढ़ाना ही सरकार का कर्तव्य होना चाहिए न कि आदमी की पैदावार को रोकना।

आजकल सरकार अपने विभिन्न साधनों—जैसे रेडियो, टेलिभीजन, सिनेमा, नाटक, भाषण, पुरस्कार आदि—के द्वारा परिवार - नियोजन का प्रचार बड़े

ज़ोर शोर से कर रही है। स्थान स्थान पर ऐसे पोस्टर देखने को मिलते हैं जिनमें सन्तान-निग्रह की आवश्यकता बतलायी गयी है तथा छोटे परिवार की प्रशंसा की गयी है। इन पोस्टरों पर छपे कुछ वाक्य निम्नांकित है।

१—अगला बच्चा अभी नहीं ! तीन के बाद कभी नहीं !!

२—छोटा परिवार, सुखी परिवार।

३—हम दो, हमारे दो।

४—दो या तीन बच्चे, होते हैं सबसे अच्छे।

५—परिवार नियोजन, पेट भर भोजन।

६—केवल दो सुत सीता जाये।

हमारे शास्त्रों में भी अधिक सन्तान कीं उत्पत्ति को प्रशस्त नहीं माना गया है। 'बहु सन्तान दरिद्रता' की उक्ति लोकोक्ति के रूप में प्रचलित हो गई है। निश्चय ही किसी पिता को उतनी ही सन्तति की उत्पत्ति करनी चाहिये जिनका पालन - पोषण वह अच्छी तरह से कर सके। इसके लिये आत्म - निग्रह (Self Control) की आवश्यकता है न कि सन्तति-निग्रह (Birth Control) को। एक बार राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने किसी अमेरिकन महिला—जो भारत में सन्तान - निरोध का प्रचार कर रही थी—से यही कहा था कि हमारे देश में आत्म-निग्रह की आवश्यकता है। हम कृत्रिम साधनों से सन्तान - निग्रह करना उचित नहीं समझते। अतः हमारे देश में आज संयम, सदाचार के प्रचार की आवश्यकता है।

हमारी स्वतन्त्र सरकार, येन केन प्रकारेण, परिवार - नियोजन करना चाहती है। वह सन्तान-निग्रह पर तुली हुई है। इसके लिए उसे अब ऐसा कार्य भी करना पड़ रहा है जो सदाचार - संहिता के अनुकूल नहीं कहा जा सकता। कुछ वर्षों पहिले गर्भपात (Abortion) करना या कराना बहुत बड़ा अपराध (Crime) समझा जाता था परन्तु यह महान् अपराध अब

कानून से वैध (जायज़) माने जाने लगा है अथवा शीघ्र ही वैधता को प्राप्त करने वाला है। गर्भपात में छूट दे देने से देश में कितना व्यभिचार, अनाचार तथा दुराचार बढ़ेगा इसकी कल्पना सहज में ही की जा सकती है। यूरोप में गर्भपात सम्बन्धी कानून में शिथिलता के कारण व्यभिचार का कितना प्रचार हो रहा है यह किसी विज्ञ व्यक्ति से अविज्ञात नहीं है। भारत में प्राचीन काल में सदाचार पर बड़ा वल दिया जाता था। मनु ने तो यहाँ तक लिखा है कि आचार ही धर्म का प्राण है—

"आचारलक्षणो ह्येषः, सन्तः चारित्रलक्षणाः"।

अतः जब देश में सदाचार की हानि होने लगेगी, श्रेष्ठ आचार का ह्रास होने लगेगा तब देश कहाँ पहुँच जायेगा इसकी कल्पना सहज में ही की जा सकती है। अतः परिवार - नियोजन की सफलता के आवेग में आकर हमारी सरकार को कोई ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे देश के सामूहिक चरित्र बल में किसी प्रकार की कमी आ जाय।

परिवार नियोजन के अभियान में दूसरी खटकने वाली बात इसमें होने वाला महान् अपव्यय है। सरकार सन्तान - निग्रह के अपने इस प्रोग्राम को सफल बनाने के लिए लाखों नहीं बल्कि करोड़ों रुपये प्रति वर्ष खर्च कर रही है जो बिल्कुल बेकार जा रहा है। यदि यह असीम धन - राशि बुभुक्षितों का पेट भरने, घाटों तथा मन्दिरों के पास बैठने वाले भिखारियों की समस्या को सुलझाने में लगायी जाती तो उससे देश का अधिक कल्याण होता। सरकार नसबन्दी का कार्य पुरस्कार देकर करवाती है यह भी उचित नहीं है। सन्तान - निग्रह स्वेच्छा से होना चाहिये न कि रुपया, चीनी और गेहूँ मिलने के लालच में पड़कर इस कार्य को करना चाहिए।

<u>परिवार नियोजन से हानियाँ</u>—यदि गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाय तो परिवार - नियोजन में अनेक बुराइयाँ दृष्टिगोचर होती हैं। यह अशास्त्रीय ही नहीं अव्यावहारिक भी है।

(१) देश की पौरुष शक्ति का ह्रास—परिवार नियोजन की सबसे बड़ी बुराई यह है कि इससे हमारे देश की पौरुष शक्ति (Man power) का ह्रास होगा। द्वितीय विश्व युद्ध में फ्रांस की पराजय का कारण बतलाते हुए उस देश के एक राष्ट्र-नायक ने कहा था कि सैनिकों की कमी के कारण ही हमारी पराजय हुई है। आज की अन्तर-राष्ट्रीय राजनैतिक परिस्थिति में, जब कि संसार के अनेक राष्ट्र इस देश को गृद्ध दृष्टि से देख रहे हैं, परिवार नियोजन के प्रोग्राम को सफल बनाकर इस देश की पौरुष - शक्ति का ह्रास करना कहाँ तक बुद्धिमत्ता का कार्य है इसे हमारे राष्ट्र नायकों को स्वयं समझना चाहिए। जब देश में जवानों की उत्पत्ति पर कन्ट्रोल कर दिया जायेगा तब शत्रु की सेनाओं का मुकाबिला करने के लिए रणक्षेत्र में कौन खड़ा रहेगा? जब दूसरे देशों में अधिक सन्तान की उत्पत्ति करने वाले पिता और माता को पुरस्कार दिया जाता है तब अपने देश में उसके ठीक विपरीत नसबन्दी कराने के लिए पुरस्कार प्रदान करना बुद्धिमत्ता की बात नहीं कही जा सकती।

(२) हिन्दू जाति का ह्रास—परिवार - नियोजन का दूसरा दुष्परिणाम हिन्दू जाति का क्रमिक ह्रास है। यह बात जनता अथवा सरकार से छिपी हुई नहीं है कि एक विशेष सम्प्रदाय के लोग परिवार - नियोजन से दूर रहते हैं और इसमें विशेष भाग नहीं लेते। केवल हिन्दू लोग सरकार की इस योजना को सफल बनाने में लगे हुए हैं। इसका परिणाम आगे चलकर अच्छा नहीं होगा। परिवार-नियोजन का पालन करने से हिन्दुओं की संख्या प्रतिदिन घटती जायेगी और दूसरे सम्प्रदाय वालों का जनसंख्या वृद्धि को प्राप्त करेगी। अतः हिन्दू समाज के नेताओं को इस दिशा की ओर ध्यान देना चाहिए। कुछ वर्षों पूर्व एक बंगाली विद्वान् ने अपनी पुस्तक "हिन्दूज—ए डायिंग रेस" में अनेक प्रबल प्रमाणों को देकर यह दिखलाने का प्रयास किया था कि हिन्दू जाति का क्रमिक ह्रास हो रहा है। सन्तान - निग्रह के कारण ह्रास

या विनाश को यह धारा अधिक वेगवती हो जायेगी इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। हिन्दू - विवाह के सम्बन्ध में पुस्तक प्रणेता के नाते प्रस्तुत लेखक का यह धर्म हो जाता है कि वह इस समाज के नेताओं का ध्यान इस पहलू की ओर भी आकृष्ट करे।

(३) महान् विभूतियों के जन्म पर प्रतिबन्ध—परिवार - नियोजन के कारण यदि केवल दो या तीन ही सन्तान की उत्पत्ति करने का नियम बना दिया जायेगा तो इससे बहुत बड़े अनर्थ की आशंका हो सकती है। सम्भवतः इस नियम के हम ऐसी अनेक विभूतियों के अवतार से वंचित रह जायेंगे जिन्होंने इस धारा धाम पर जन्म लेकर अपने देश और जाति का उपकार किया है, जिन्होंने साहित्य की सेवा से इस देश का नाम संसार में उजागर किया है तथा इस देश को परतन्त्रता की वेड़ियों से मुक्त किया है। इस सम्बन्ध में देश की केवल दो विभूतियों का ही नाम लेना पर्याप्त होगा। अपने देशवासियों को यह बतलाने की आवश्यकता नही है कि हमारे राष्ट्र पिता महात्मा गांधी अपने पिता की तीसरी या चौथी सन्तान थे और विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपने छः भाइयों में सबसे छोटे थे। ईश्वर की कृपा से उन दिनों में परिवार नियोजन का बोल बाला नहीं था अन्यथा ऐसी महान् तथा दिव्य विभूतियों का इस देश में अवतार लेना संभव नहीं होता। समस्त यूरोप को अपने प्रचण्ड पराक्रम, अप्रतिम शौर्य्य तथा अद्भुत रण - कौशल से कम्पित कर देने वाला नेपोलियन महान् भी अपने पिता का पाँचवा या छठा सन्तान था। इसी प्रकार से इतिहास से अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

इस विनम्र लेखक के कथन का केवल यही अभिप्राय है कि यदि परिवार नियोजन के आवेश में आकर यदि सन्तानोत्पत्ति की संख्या पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध लगा दिया जायेगा तो यह बहुत सम्भव है कि हम किसी महान् व्यक्ति के अवतार से वंचित रह जाँय। कौन जानता है किस मनुष्य

को कौन सी सन्तान प्रतिभाशाली निकल जाय। कैथोलिक संसार के जगत्गुरु पोप ने भी इस प्रथा को अनैतिक बतलाया है। अतः इस देश में आत्म-संयम के द्वारा जनसंख्या की समस्या का निदान करना उचित है, पुरस्कार प्रदान कर सन्तान-निरोध कराना समुचित नहीं कहा जा सकता।

ख-स्मृतिकारों का द्विविध नैतिक मापदण्ड [Double Standard]

हमारे स्मृतिकारों तथा धर्म-शास्त्रकारों ने विशिष्ट योग्यता, न्याय प्रियता तथा बुद्धिमता से समाज के सम्यक् संचालन के लिए समुचित व्यवस्था प्रदान की है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि पुरुषों तथा स्त्रियों के आचार के सम्बन्ध में उन्होंने अपने द्विविध नैतिक मापदण्ड का प्रयोग किया है। पुरुषों के आचरण को नापने के लिए इनका मापदण्ड एक था परन्तु स्त्रियों के सदाचार तथा चरित्र को मापने के लिए इन्होंने बिल्कुल ही दूसरे पृथक् मापदण्ड का प्रयोग किया है। स्त्रियों के चरित्र के सम्बन्ध में इन्होंने बड़े परिश्रम से वृहती आचार-संहिता [Code of Conduct] का निर्माण किया परन्तु पुरुषों के लिये किसी छोटे से भी आचार के नियमों को नहीं बनाया। जहाँ इन धर्म-शास्त्राचार्यों ने विधवा स्त्रियों के कर्तव्यों का प्रतिपादन करते हुए उनके द्वारा निषिद्ध कर्मों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है वहाँ विधुर पुरुषों के कर्तव्य के समय इनकी वाणी मौन-व्रत का अवलम्बन कर लेती है। जहाँ पति की मृत्यु पर सती स्त्रियों के कर्तव्यों का निर्देश किया गया है वहाँ पत्नी की मृत्यु के पश्चात् पति के क्या धर्म हैं इसका कहीं भी वर्णन नहीं पाया जाता है। इसी प्रकार से सती स्त्री के लिए जहाँ सह-मरण या अनुमरण की व्यवस्था दी गई है वहाँ पत्नी के अभाव में पति को कैसा आचरण करना चाहिए इसका कहीं भी प्रतिपादन नहीं पाया जाता। इन स्मृतिकारों ने अक्षत-योनि बाल-विधवाओं के भी विवाह का बड़ी निर्दयता के साथ विरोध किया है जिससे समाज में

अनाचार न फैल सके परन्तु पुरुषों के सम्बन्ध में इनकी इस सदाचार-प्रियता का कहीं पता नहीं चलता। पुरुषों के लिये बहु - विवाह की छूट देकर इन स्मृतिकारों ने एक प्रकार से उन्हें अनाचार के लिए 'लाइसेन्स' प्रदान कर दिया है। जहां दुधमुँही, अक्षत - योनि बाल - विधवा को काम-वासना से पराङ्मुख होने का उपदेश दिया गया है वहाँ उच्च वर्ण के पुरुषों के लिए दो, तीन किम्वा चार विवाह तक करने की व्यवस्था दी गई है। "अष्ट वर्षा भवेत् गौरी, नववर्षा तु रोहिणी" का उपदेश करने वाले इन धर्म - शास्त्रियों ने एक ओर तो बाल - विवाह का प्रचार किया और दूसरी ओर विधवा - विवाह का प्रचन्ड विरोध करके, असहाय अबलाओं को सामाजिक अत्याचार के महोदधि में डूबने के लिए डाल दिया है जिसमें घुट घुट कर वे मर जाँय। स्त्रियों के दाय - भाग के सम्बन्ध में भी इन स्मृतिकारों के विचार बड़े ही संकुचित हैं। पुत्रहीन विधवा स्त्री अपने पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं हो सकती, इस कठोर नियम का विधान करना इनके लिए न्यायोचित नहीं था। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इन स्मृतिकारों के लिए पुरुष तथा स्त्री के चरित्र एवं आचरण को नापने के लिए दो भिन्न भिन्न मापदण्ड थे। अतः वे निष्पक्ष तथा न्यायपूर्ण निर्णय करने या व्यवस्था देने में असमर्थ पाये जाते हैं।

हिन्दू समाज में सुधार की आवश्यकता—यदि हिन्दू जाति को जीवित रहना है, यदि उसे पुनः अपने पूर्व गौरव को प्राप्त करना है, यदि इस देश में फिर से राम और कृष्ण के उच्च आदर्शों को स्थापित करना है तो इसमें सुधार करने अत्यन्त आवश्यकता है। हिन्दू - समाज में बिना अपेक्षित सुधार किये हुए इस समाज का जीवित रहना कठिन है। अतः यह हमारा पुनीत कर्तव्य हो जाता है कि हम इसे उसी गौरव पूर्ण आसन पर पुनः प्रतिष्ठापित करने का प्रयास करें जिस आसन को इसने आज हजारों वर्षों से सुशोभित किया है। इसके लिए हिन्दू - समाज में निम्नांकित सुधार

करने की अत्यन्त आवश्यकता है। ये सुधार जनता में जागृति पैदा कर किया जा सकता है तथा कानून बनाकर भी इसकी व्यवस्था संभव को परिधि में लायी जा सकती है। ये आवश्यकीय सुधार निम्नांकित हैं। इस दस - सूत्री योजना के द्वारा ही हिन्दू समाज का कल्याण हो सकता है।

१. बाल-विधवा तथा वृद्ध विवाह पर प्रतिबन्ध।

२. बहु-विवाह का कानून द्वारा निषेध।

३. विधवा-विवाह का प्रचार।

४. नियोग की प्रथा का पुनः प्रचलन।

५. तिलक तथा दहेज की प्रथा का कानून द्वारा बन्द करना।

६. तलाक देने की प्रणाली को सरल बनाना।

७. एक ही जाति के लोगों में विवाह की छूट।

८. विभिन्न जातियों में ऊँच-नीच की भावना का नाश।

९. गान्धर्व-विवाह को प्रोत्साहन।

१०. छूआछूत की प्रथा का सर्वनाश।

१—बाल - विवाह तथा वृद्ध - विवाह पर प्रतिबन्ध

हिन्दू - समाज में बाल तथा वृद्ध - विवाह का कुछ वर्षों पूर्व प्रचुर प्रचार था। यह प्रथा आज भी कुछ स्थानों में पायी जाती है। परन्तु आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा के कारण तथा आर्थिक कठिनाइयों के उपस्थिति से इन दोनों प्रकार के विवाहों का अब ह्रास हो रहा है। यद्यपि 'हिन्दू बाल-विवाह निरोध कानून'—जो शारदा एक्ट के नाम से अधिक प्रसिद्ध है—के अनुसार १४ वर्ष से कम आयु वाली बालिकाओं और १८ वर्ष से कम आयु वाले बालकों का विवाह निषिद्ध है परन्तु यह एक्ट मृत कानून के समान

है। क्योंकि इसकी धारायें ऐसी पेचीदी हैं जिनका उपयोग प्रायः नहीं किया जा सकता। बाल-विवाह को रोकने के लिए, तो एक्ट बना भी है परन्तु वृद्ध-विवाह का रोकने के लिए अभी ऐसा कोई कानून नहीं बना है जिससे 'गलित नखदन्त' वृद्ध लोग, चौथेपन में अपना विवाह न रचा सकें। अतः हमारी राष्ट्रीय केन्द्रीय सरकार को एक ऐसा अखिल भारतीय कानून बनाना चाहिए जिससे हिन्दूओं में बाल तथा वृद्ध विवाह, चोरी एवं डकैती के समान ही घातक अपराध (Crime) घोषित कर दिया जाय और बाल एवं वृद्ध-विवाह के घटक दोनों पक्ष वालों को सख्त सज़ा दी जाय। वृद्ध - विवाह करने वाले बूढ़ों को भी कठिन सजा देने की आवश्यकता है जिससे उन्हें मालूम हो जाय कि बुढ़ौती में माथे पर मौर (सेहरा) पहिनने में क्या मज़ा आता है। जहाँ बाल - विवाह से समाज में विधवाओं की वृद्धि हो रही है वहाँ वृद्ध - विवाह से अनाचार का प्रचार हो रहा है।

२ <u>बहु-विवाह का कानून द्वारा निषेध</u>—बहु-विवाह को कानून के द्वारा अपराध घोषित कर देना चाहिए। जब धर्म-शास्त्रकारों ने हिन्दू स्त्री को पुनर्विवाह करने का अधिकार नहीं दिया है तो इस समानता के युग में पुरुषों को बहु-विवाह करने का अधिकार देना न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। यह प्रसन्नता का विषय है कि केन्द्रीय सरकार ने अब पुरुषों के बहु - विवाह पर थोड़ा सा प्रतिबन्ध लगा रक्खा है। अब कोई भी राजकीय कर्मचारी अपनी प्रथम पत्नी की जीवितावस्था में, कुछ विशेष अवस्थाओं को छोड़कर, अपना दूसरा विवाह नहीं कर सकता। यह नियम समस्त एवं साधारण जनता पर कठोरता के साथ लागू होना चाहिए, चाहे वह सरकारी कर्मचारी हो अथवा न हो। यूरोप में कोई भी पुरुष एक साथ अनेक स्त्रियों से विवाह नहीं कर सकता। परन्तु इस

देश में कोई व्यक्ति एक ही साथ कई स्त्रियों का पाणि - ग्रहण कर सकता है। अतः बहु - विवाह की प्रथा पर भी कानूनी प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता है जिससे यह कुत्सित प्रथा सदा के लिए विनष्ट हो जाय। गावों में पुरुष वर्ग अपनी स्त्री से छोटी - छोटी बातों पर रुष्ट होकर, अपना दूसरा विवाह कर लेते हैं। किम्बहुना विवाह में मन-माँगा तिलक - दहेज न मिलने पर पति अपनी प्रथम - पत्नी को छोड़कर अपना दूसरा विवाह रचाता है। इस प्रकार वह अपनी प्रथम पत्नी का जीवन नारकीय बना देता है। बहु - विवाह की प्रथा से स्त्री समाज का महत्व अत्यन्त हीन हो गया है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि कानून के द्वारा इस प्रथा का कठोरता के साथ बन्द कर दिया जाय।

२ विधवा-विवाह का प्रचार—हिन्दू समाज की वर्तमान परिस्थिति पर विचार करते हुए यह अत्यन्त आवश्यक है कि विधवा-विवाह का प्रचार जोरो से किया जाय। हिन्दू-समाज के उन्नायक तथा आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विधवा - विवाह का समर्थन किया था और अपने अनुयायियों को इसके प्रचार का आदेश दिया था। पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने गत शताब्दी में 'विड़ो रिमैरेज एक्ट' पास करवा कर इस दिशा में श्लाघनीय प्रयास किया था। परन्तु इन दोनों महापुरुषों के अटूट प्रयास तथा भगीरथ प्रयत्नों के बावजूद, आज भी विधवाओं की दशा में कुछ विशेष परिवर्तन नहीं हुआ हैं। हिन्दू - समाज इतना रुढ़िग्रस्त है कि वह अपनी पुरानी परम्पराओं—चाहे वे कितनी ही दूषित क्यों न हों—को छोड़ना नहीं चाहता। अतः विद्यासागर के द्वारा विधवा - विवाह कानून से वैध करा देने के पश्चात् भी इस दिशा में कुछ सुधार नहीं हुआ। जो लोग विधवा-विवाह को अशास्त्रीय घोषित करने की धृष्टता करते हैं उनका मुंह - तोड़ जबाब इसी

पुस्तक में विधवा - विवाह के प्रसंग में अन्यत्र दिया जा चुका है। अतः शास्त्र की दुहाई देकर विधवाओं के विवाह न करने की प्रथा को उचित नहीं ठहराया जा सकता। हिन्दू - विधवाओं—विशेष कर बाल - विधवाओं—का विवाह न करके समाज में अनाचार तथा व्यभिचार का कितना प्रचार हो रहा है इसका वर्णन अन्यत्र किया जा सकता है। अतः ऐसी परिस्थिति में इनकी दुर्दशा में सुधार करने का एक मात्र उपाय है इनका पुनर्विवाह करना। इसके लिए निम्नांकित उपायों का अवलम्बन करना श्रेयस्कर होगा।

[१] जो बाल - विधवायें हैं उनको पुनर्विवाह करने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। उन्हें इस कार्य के बाधित करना तो अनुचित होगा परन्तु उन्हें आर्थिक पुरस्कार एवं जीविका के लिए नौकरी देकर प्रोत्साहन प्रदान किया जा सकता है।

[२] जो लोग विधुर हैं वे यह प्रतिज्ञा कर लें कि वे केवल विधवा स्त्री से ही विवाह करेगें। अविवाहित कन्या से कदापि गठबन्धन नहीं करेगें। विधवाओं की समस्या को सुलझाने के लिए राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने एक बार यही उपर्युक्त सुझाव दिया था जो नितान्त उपयुक्त था।

[३] विधवाओं से विवाह करने वाले नवयुवकों को—चाहे वे विधुर हों या अविवाहित—सरकारी नौकरियों, संस्थानों की नियुक्तियों में प्राथमिकता मिलनी चाहिए। नवयुवकों को अनेक प्रकार का पुरस्कार तथा प्रलोभन देकर विधवाओं से विवाह करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। तभी वे इस कार्य में अग्रसर हो सकेंगे। जो विधवायें अपना विवाह नहीं करना चाहतीं उनके भरण - पोषण के लिए सरकार द्वारा उन्हें पेन्शन देने की व्यवस्था होनी चाहिए। इन उपर्युक्त उपायों से विधवाओं की दशा में सुधार किया जा सकता है।

४. नियोग की प्रथा का पुनः प्रचलन—प्राचीन भारत में नियोग की प्रथा पूर्णरूपेण प्रचलित थी। बड़े बड़े धर्म-शास्त्रकारों ने नियोग की प्रथा का प्रबल समर्थन किया है। महाभारत काल में इस प्रथा का प्रचार प्रचुर परिमाण में पाया जाता है। हमारे दूरदर्शी धर्म-शास्त्रकारों ने इस प्रथा के महत्व को समझा था और इसीलिये इसका दिल खोल कर समर्थन ही नहीं किया था बल्कि इसकी बड़ी प्रशंसा की थी। यदि नियोग की प्रथा प्राचीन भारत में प्रचलित न होती तो महाभारत के बड़े बड़े सेनानी महापुरुषों का जन्म ही न हुआ होता।

देवर शब्द का अर्थ ही दूसरा वर या पति—द्वितीयः वरः देवरः—होता है। अतः अपने बड़े भाई के मर जाने पर उसका छोटा भाई उसकी स्त्री से विवाह कर लेता था। इस प्रथा का सबसे बड़ा लाभ यह था कि समाज में व्यभिचार नहीं फैलता था। परन्तु इसे काल-चक्र कहें या दैव-दुर्विपाक की संज्ञा प्रदान करें इस उपयोगी प्रथा का प्रचलन इस समय बन्द हो गया है। यद्यपि नीची जातियों में नियोग की प्रथा आज भी प्रचलित है परन्तु ऊँची जातियों में यह प्रथा हेय दृष्टि से देखी जाती है। अतः हिन्दू समाज की वर्तमान परिस्थिति में नियोग की प्रथा को फिर से प्रचलित करने की आवश्यकता है। इससे सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि विधवाओं की समस्या कुछ अंश तक हल हो जायेगी और दूसरा यह होगा कि अनाचार का प्रचार बढ़ने की अपेक्षा बहुत कम हो जायेगा। अतः नियोग की प्रथा को पुनः प्रचलित करना अत्यन्त आवश्यक है।

५. तलाक की प्रथा—प्राचीन काल में विवाह - सम्बन्ध शारीरिक संयोग नहीं था बल्कि इसे आध्यात्मिक संबंध माना जाता था। स्त्री अपने अगले जन्म में भी यही कामना करती थी कि मेरा वर्तमान पति ही अन्य जन्म में भी मिले। ऐसी परिस्थिति में प्राचीन काल में तलाक की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

परन्तु आजकल परिस्थितियों में बड़ा परिवर्तन हो गया है। जब सभी वर्ग के लोग समान अधिकार पाने का नारा लगा रहे हैं तब उभय लिङ्गों के भी समान अधिकार होने चाहिये यह विचार स्वाभाविक ही है। यद्यपि हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार तलाक वर्जित है। परन्तु शास्त्रों के आदेश की अवहेलना कर जब पुरुष अपनी प्रथम पत्नी को छोड़कर दूसरा विवाह कर सकता है तब यदि स्त्री भी अपने प्रथम पति का परित्याग कर दूसरे पुरुष से विवाह सम्बन्ध स्थापित कर लेती है तब क्या हानि है? जब पुरुष स्त्री को तलाक दे सकता हैं तब पत्नी अपने पति को तलाक क्यों नहीं दे सकती? जो लोग हिन्दू - विवाह के आध्यात्मिक सम्बन्ध होने का दावा करते हैं उनके पास इस प्रश्न का क्या उत्तर है? समानता के इस युग में स्त्री-पुरुष को समान अधिकार मिलने ही चाहिए।

पुरुषों के कठोर बन्धन से मुक्त होने के लिए स्त्रियों को तलाक का अधिकार अवश्य मिलना चाहिए। कुछ वर्षों पहिले यह जानकर कि पत्नी तलाक नहीं दे सकती अनेक पति अपनी पत्नियों पर बड़ा अत्याचार करते थे परन्तु तलाक का कानून पास हो जाने पर अब उन्हें ज्ञात हो गया है स्त्री भी तलाक दे सकती है। यद्यपि 'हिन्दू मैरेज एक्ट' १९५५ के पास हो जाने से हिन्दू स्त्रियों की दशा में कुछ विशेष सुधार नहीं हुआ है तौभी उन्हें एक ऐसा साधन या हथियार मिल गया है जिससे वे अत्याचारी पतियों के जाल से छुटकारा पाने का प्रयास कर सकती है। इस कानून की धारा इतनी शिथिल है कि तलाक देने वाली स्त्री को न तो जल्दी तलाक ही मिल सकता है और न कोई 'रिलीफ'। फिर भी इतना अवश्य है कि वे एक अत्याचारी पति के अत्याचारों को न्यायालय में चुनौती दे सकती हैं। यदि तलाक के नियमों को और सुगम बना दिया जाय तो कहीं अधिक उपयुक्त तथा उपयोगी होगा।

(६) तिलक और दहेज की कुत्सित प्रथा—हिन्दू-समाज में जो सबसे भयंकर बुराई आ गई हैं वह तिलक और दहेज की निन्दित तथा गर्हणीय प्रथा है। इस बात को स्पष्ट रूप से बतला देना आवश्यक है कि दहेज लेने की प्रथा बिल्कुल अशास्त्रीय, निन्दित और घृणित है। प्राचीन काल में "कन्या-शुल्क" का तो उल्लेख पाया जाता है परन्तु तिलक और दहेज के रूप में "वर शुल्क" की कहीं चर्चा भी नहीं पायी जायी। अतः इस प्रथा की जितनी भी भर्त्सना की जाय उतनी थोड़ी है।

आजकल हिन्दू-समाज में कन्या का जन्म अभिशाप बन गया है। उसके विवाह के लिए पिता को वर खोजने में जो भयंकर कष्ट सहने पड़ते हैं उनका वर्णन करना कठिन है। यदि संयोग वश उपयुक्त वर मिल भी गया तो उसके पिता या अभिभावक इतना अधिक तिलक माँगते हैं कि लड़की का पिता उस द्रव्य को चुकाने में अपने को नितान्त असमर्थ पाता है। ऐसी दशा में उसकी सुयोग्य पुत्री का विवाह होना कठिन हो नहीं, असम्भव है। आजकल किसी व्यक्ति का वैभव, उसकी प्रतिष्ठा तथा उसका गौरव उसके पुत्र के विवाह में मिलने वाले तिलक के रुपयों की विपुल धन-राशि से आँका जाता है। विडम्बना तो यह है कि जो हिन्दू-समाज के तथाकथित नेता है, जो अपने को समाज का अगुआ समझते हैं वे भी इस कुत्सित प्रथा के महा-जाल में बुरी तरह से ग्रसित दिखाई पड़ते है। हिन्दू-समाज को इस कुप्रथा से उबारने के उपाय सोचने की अपेक्षा वे भी "जैसी बहे बयार पीठ तब तैसी कीजै" के सिद्धान्त का पालन कर रहे हैं। ऐसी विषम परिस्थित में इस कुप्रथा को समूल नष्ट करने के लिए निम्नांकित सुझाव प्रस्तुत किये जाते हैं।

१—एक करोड़ अविवाहित नवयुवक यह भीष्म प्रतिज्ञा कर लें कि वे केवल उन्हीं लड़कियों से विवाह करेगें जिनके पिता से किसी प्रकार की कोई भी धन-राशि या वस्तु तिलक या दहेज के रूप में न ली गई हो।

२-इसी प्रकार से लड़कियां भी यह दृढ़ प्रतिज्ञा कर लें कि वे आजन्म विवाह नहीं करेंगी। वे हिन्दू समाज में प्रचलित इस कुप्रथा के विरोध के रूप में किसी भी व्यक्ति से जीवन-पर्यन्त विवाह सम्बन्ध स्थापित नहीं करेंगी।

३-अविवाहित युवक तथा युवतियों को इस बात का व्रत ले लेना चाहिये कि वे केवल गान्धर्व विवाह की पद्धति से ही पाणि-ग्रहण स्वीकार करेंगे।

इन्हीं उपर्युक्त उपायों का अवलम्बन करने से ही समाज का यह कोढ़ दूर किया जा सकता है। यद्यपि सरकार ने तिलक-दहेज की प्रथा को अवैध ठहराया है परन्तु इस कानून की न तो कोई पर्वाह करता है और उसकी चिन्ता। अतः जब तक युवक और युवतियाँ समाज के इस अत्याचार के प्रति खुल्लम-खुल्ला विद्रोह नहीं कर देती तब तक इस तिलक-दहेज-रूपी राक्षसी का नाश होना कठिन है।

(७-८) <u>ऊँच-नीच का भावना का परित्याग तथा एक ही जाति के लोगों में वैवाहिक सम्बन्ध की स्थापना</u>—आजकल हिन्दू-समाज में ऊंच-नीच की भावना पराकाष्ठा पर पहुँची दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए सरयू-पारीण ब्राह्मणों में तीन गोत्र वाले ब्राह्मण तेरह को नीच समझते हैं। इसी प्रकार से कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की श्रेष्ठता बिस्वा के हिसाब से नापी जाती है। क्षत्रियों में शिशोदिया, सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी और उज्जैन वंशी क्षत्रिय, अन्यों की अपेक्षा अपने को श्रेष्ठ मानते हैं। इस ऊँच-नीच की भावना का अब परित्याग कर देना चाहिए। ब्राह्मणों में न किसी को उत्तम समझना चाहिए और न किसी को नीच। इसी प्रकार क्षत्रियों में भी समान भावना का आदर होना चाहिए। सभी ब्राह्मण एक समान है और इन सभी में—चाहे वह सरयूपारीण हो या कान्य-कुब्ज, गौड़ ब्राह्मण हो या सनाढ्य—आपस में विवाह-सम्बन्ध होना चाहिए। तभी देश में एकता का जन्म होगा। भेद-भाव पृथकत्व को बढ़ाता है। अतः यदि हिन्दू समाज को सुगठित और संगठित करना है तो एक जाति के सभी सदस्यों द्वारा आपस में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना

अनुचित नहीं होगा। इससे तिलक - दहेज की प्रथा का भी नाश होगा और विवाह के क्षेत्र की परिधि का विस्तार हो जायेगा जिससे योग्य विवाह की सम्भावना समधिक रूप से बढ़ जायेगी।

<u>उपसंहार</u>—गत पृष्ठों में हिन्दू-समाज में प्रचलित बुराइयों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया गया है तथा इन कुप्रथाओं को दूर करने के लिए कुछ सुझावों को भी प्रस्तुत किया गया है। ये सुझाव किसी शास्त्रीय ज्ञान पर आश्रित नहीं हैं बल्कि अनुभव की ठोस कसौटी पर कस कर लिखे गये हैं। यदि इन सुझावों का पालन नहीं किया गया तब निश्चित ही इस समाज के उस अन्धकार मय गर्त में गिरने की आशंका है जहाँ से इसका निकलना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव भी हो जायेगा। कुछ वर्षों के भीतर हिन्दू-समाज में प्रचलित आर्ष, दैव, ब्राह्म आदि वैवाहिक प्रथाओं का लोप हो जायेगा और सभी लोग केवल गान्धर्व-रीति से ही दाम्पत्य प्रेम की पद्धति को स्वीकार करेंगे। जो दशा आज यूरोपीय समाज में विवाह की है वही दशा निकट भविष्य में इस देश में भी होने वाली है।

आज की पीढ़ी के नवयुवकों पर समाज के नवनिर्माण का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। उन्हें नवीन समाज के निर्माण का कार्य करना है। अतः हिन्दू नवयुवको से मेरी यह विनम्र अपील है कि वे सामाजिक रूढ़ियों तथा कुरीतियों को समूल नष्ट कर, समाज में ऐसी क्रान्ति का आवाहन करें जिससे समाज में लिङ्ग-विषमता दूर हो जाय और हिन्दू-समाज अपने उसी प्राचीन वैवाहिक आदर्श को पुनः प्राप्त करे जो वेदों के समय में प्रचलित था।
उन्हें भगवान् व्यास के इन वचनों को कदापि नहीं भूलना चाहिए कि :—

"स्वां प्रसूतिं चरित्रं च, कुलमात्मानमेव च।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन, जायां रक्षन् हि जीवति ॥

अतः देश के नव जवानों! अब उठो, जागो और हिन्दू धर्म तथा हिन्दू-समाज रूपी अपनी अमूल्य एवं प्राचीन धरोधर की रक्षा करो।

"उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्यवरान्निबोधत"

—o—

१—परिशिष्ट

हिन्दू - विवाह तथा उत्तराधिकार से संबंधित अब तक जो कानून सरकार द्वारा बनाये गये हैं उनकी सूची निम्नांकित है :—

१. दि कास्ट डिसएब्रिलिटीज़ रिमूभल एक्ट, १८५७

२. दि हिन्दू विडोज़ रिमैरेज एक्ट, १८५६

इस कानून के द्वारा हिन्दू - विधवाओं का पुनर्विवाह कानून से वैध (जायज) स्वीकार किया गया है और ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तान को वैधता की स्वीकृति प्रदान की गयी है :—

३. दि नेटिभ कन्भर्ट्स मैरेज डिसोल्यूशन एक्ट, १८६६

४. दि ट्रान्सफर आफ प्रापर्टी एक्ट, १८८२

५. दि स्पेशल मैरेज एक्ट, १८७२

इस कानून के द्वारा कोई हिन्दू किसी अन्य जाति की स्त्री से विवाह कर सकता है। इसके अतिरिक्त वह जैन, सिक्ख तथा बौद्ध लोगों से वैवाहिक संबंध स्थापित कर सकता है :—

६. दि इण्डियन सक्सेशन एक्ट, १९२५

७. दि हिन्दू इन्हेरिटेन्स (रिमूभल आफ डिसएबीलिटीज़ एक्ट) १९२८

८. दि हिन्दू वीमेन्स राइट टू प्रोपर्टी एक्ट, १९३७

९. दि आर्य मैरेज वेलिडेशन एक्ट, १९३७

१०. दि हिन्दू मैरेज डिसएबीलिटीज़ रिमूभल एक्ट, १९४७

११. दि हिन्दू मैरेज वेलिडिटी एक्ट, १९४७.

इस कानून के द्वारा हिन्दू, सिक्ख और जैनों की जाति, उपजाति तथा सम्प्रदाय में विवाह - सम्बन्ध हो सकता है।

१२. दि हिन्दू मैरेज एक्ट, १९५५

१३. दि हिन्दू सक्सेशन एक्ट, १९५५

१४. दि हिन्दू एडाप्शन एण्ड मेन्टिनेन्स एक्ट, १९५६

२—परिशिष्ट

सन् १९५५ तथा ५६ ई० में केन्द्रीय सरकार के द्वारा दो कानून लोक-सभा में पारित किये गये जो 'हिन्दू - मैरेज एक्ट' तथा 'हिन्दू सक्शेशन एक्ट' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन कानूनों के द्वारा हिन्दुओं के सामाजिक संगठन में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये गये हैं। विवाह और उत्तराधिकार के क्षेत्र में तो ये परिवर्तन अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा युगान्तरकारी [Epoch making] हैं। (क) विवाह के क्षेत्र में इस कानून के द्वारा निम्नांकित परिवर्तन उपस्थित किये गये हैं :—

१—सर्व प्रथम हिन्दू - समाज में एक - पत्नी - विवाह (मोनोगेमी) की स्थापना की गई। २—बहु - विवाह को कानूनन अवैध ठहराया गया। ३—सर्वप्रथम हिन्दू - विवाह में तलाक देने के नियमों की सृष्टि की गई। ४—सगोत्र तथा सपिण्ड में भी विवाह - सम्बन्ध को वैध घोषित किया गया। ५—विधवा, परित्यक्ता, अथवा तलाक दी गई स्त्री के पुनर्विवाह को वैधता प्रदान की गयी। (ख) उत्तराधिकार क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण क्रान्ति हुई। १—सर्व प्रथम स्त्री को अपनी सम्पत्ति की सम्पूर्ण अधिकारिणी घोषित किया गया। २—स्त्री को दत्तक के रूप में किसी पुत्र या पुत्री को गोद लेने का अधिकार दिया गया। ३—अविवाहिता कन्या भी गोद ली जा सकती है इसकी सर्व प्रथम व्यवस्था की गई। ये ही इस एक्ट की कुछ मौलिक विशेषतायें हैं। आगे इनका कुछ विस्तृत विवरण दिया जाता है। हिन्दू-विवाह कानून सन् १९५५ ई० (Hindu Marriage Act, 1955) की कुछ प्रधान बातें यहाँ लिखी जाती हैं :—

१—इस कानून के अनुसार विवाह के लिए समान जाति या उपजाति (sub-caste) का होना आवश्यक नहीं हैं। २—इस कानून के लागू होने के पहिले अथवा बाद में समान गोत्र अथवा प्रवर में किये गये विवाह वैध माने जायेंगे। ३—हिन्दू, सिक्ख तथा जैन धर्मावलम्बियों के द्वारा आपस में किये गये विवाह वैध हैं। ४—यह कानून विवाह के लिये वर और कन्या की अल्पतम आयु [minimum age] क्रमशः १८ वर्ष और १५ वर्ष घोषित करता है। अर्थात् इस उपर्युक्त आयु से कम आयु वाले वर और

कन्या का विवाह कानून से अवैध और दण्डनीय है। ५—इस कानून के अनुसार पुरुषों के लिए केवल एक विवाह (Monogamy) की घोषणा की गई है। ६—यह कानून अविवाहिता कन्या और विधवा के विवाह में किसी प्रकार का अन्तर या भेद स्वीकार नहीं करता। ७—यह कानून विवाह के सम्बन्ध में किसी विशिष्ट प्रकार के वैवाहिक - विधान की व्यवस्था नहीं करता। ८—यह कानून पति और पत्नी के बीच में न्यायिक पृथक करण, विवाह की समाप्ति तथा तलाक की व्यवस्था करता है।

इस कानून के अनुसार केवल निम्नलिखित दशाओं में ही तलाक दिया जा सकता है। जब किसी स्त्री का पति १—व्यभिचारी हो २—दूसरे धर्म को स्वीकार कर लिया हो। ३—वह पागल हो। ४—वह कोढ़ी हो। ५—वह संसार को छोड़कर साधु या संन्यासी हो गया हो। ६—सात वर्षों तक जब पति का इस संसार में कहीं पता ही न चल सके। ७—जब वह दो वर्षों तक दाम्पत्य - प्रेम में बँधे रहने की अदालती डिग्री की आज्ञा की अवज्ञा अथवा उल्लंघन करता हो। इन नियमों के अतिरिक्त स्त्री निम्नांकित कारणों से भी अपने पति को तलाक दे सकती है। जब उसका पति १—घोर व्यभिचार तथा कन्या अपहरण (Rape) का अपराधी हो। २—समलिङ्गी मैथुन (Sodomy) का पातकी हो ३—पशुवत् व्यवहार तथा आचरण का दोषी हो। ४—अपनी प्रथम पत्नी के जीवित रहते हुए उसने दूसरा विवाह कर लिया हो। ५—वह चरित्र हीन, व्यभिचारी तथा नारकी हो।

सन् १६५५ ई० के इस हिन्दू - विवाह कानून के द्वारा हिन्दू - समाज में सर्व प्रथम एक-पत्नी-व्रत की व्यवस्था की गई, अर्थात् अपनी प्रथम पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरी स्त्री से विवाह करना अवैध घोषित कर दिया गया। बहु - विवाह की सनातनी प्रथा से पीड़ित तथा जर्जरित हिन्दू - समाज के लिए यह बहुत बड़ा परिवर्तन है। इस कानून की दूसरी विशेषता यह है कि इसने भारतीय हिन्दू-विवाह के इतिहास में सर्व प्रथम तलाक की व्यवस्था की। इस कानून के पास होने के पहिले पत्नी अपने पति को किसी भी दशा में तलाक नहीं दे सकती थी, चाहे वह कितना भी दुराचारी, व्यभिचारी, शराबी, पातकी तथा नारकी क्यों न हो। अतः इस कानून के द्वारा हिन्दू-विवाह की व्यवस्था में एक प्रकार से क्रान्ति उत्पन्न कर दी गई है।

ख. दत्तक लेने (Adoption) के नियम—इस कानून के अनुसार कोई भी स्त्री किसी पुत्र अथवा कन्या को अपने दत्तक के रूप में स्वीकार कर सकती है। सन् १९५५ ई० में इस कानून के पास होने के पहिले हिन्दू स्त्रियों को किसी को दत्तक रूप में लेने का अधिकार बिल्कुल भी नहीं था। यदि वे किसी विशेष परिस्थिति में दत्तक लेती भी थी तो उन्हें किसी पुत्र को ही दत्तक रूप में लेना पड़ता था। वे किसी कन्या को गोद नहीं ले सकती थीं। इस कानून के द्वारा जो सबसे बड़ा परिवर्तन हुआ है वह यह है कि कुमारी अथवा विधवा स्त्री भी किसी को गोद ले सकती है। वह चाहे तो पुत्र के स्थान पर किसी कन्या को भी अपना दत्तक बना सकती है। इस प्रकार किसी स्त्री के द्वारा किसी कन्या को गोद लेने की व्यवस्था इस कानून के द्वारा सर्वं प्रथम की गई है। ग. उत्तराधिकार के नियम—हिन्दू उत्तराधिकार कानून सन् १९५६ ई० की कुछ प्रधान बातें निम्नांकित है। इस कानून के अनुसार वे व्यक्ति जो उत्तराधिकार पाने के अधिकारी हैं, चार श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं। प्रथम शेड्यूल में जिन लोगों की गणना की गई है उनका क्रम निम्नांकित है। १—पुत्र २—पुत्री ३—विधवा ४—माता ५—पूर्ण मृत पुत्र का पुत्र ६—पूर्ण मृत पुत्र की पुत्री, ७—पूर्ण मृत पुत्री का पुत्र ८—पूर्ण मृत पुत्री की पुत्री। द्वितीय श्येड्यूल में लिखित उत्तराधिकारियों का क्रम इस प्रकार है। १—पिता २—पुत्र की लड़की का पुत्र ३—पुत्र की लड़की की पुत्री आदि। इस तालिका से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पुत्र के समान पुत्री को भी उत्तराधिकार का अधिकार प्राप्त है।

इस कानून की दूसरी विशेषता यह है कि हिन्दू-स्त्री अपनी सम्पत्ति की सम्पूर्ण अधिकारिणी (Absolute owner) मानी गयी है। इस कानून के द्वारा "स्त्री-धन" की व्याख्या बड़ी विस्तृत कर दी गई है तथा स्त्री के द्वारा प्राप्त किसी प्रकार की भी सम्पत्ति की वह पूर्ण अधिकारिणी घोषित की गई है। अब स्त्री को अपनी चल अथवा अचल सम्पत्ति पर वही अधिकार प्राप्त हो गया है जो किसी पुरुष को प्राप्त है। अब कोई भी स्त्री अपनी सम्पत्ति का, अपनी इच्छानुसार उपभोग अथवा विक्रय कर सकती है। इस प्रकार इस एक्ट के द्वारा उभय लिङ्ग को समान रूप से सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हो गया है।

पठनीय सामग्री (Bibliography)

(क) संस्कृत-ग्रन्थ १—वैदिक संहिताय

ऋग्वेद — अजमेर संस्करण [१९१७]

अथर्ववेद — ,, ,, ,,

तैतरीय संहिता — आनन्दाश्रम, पूना

ऐतरेय ब्राह्मण — आनन्दाश्रम, पूना १८९६

शतपथ ब्राह्मण — वेवर का संस्करण

गोपथ ब्राह्मण — बिब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता

कौशीतकी ब्राह्मण— लिण्डनर द्वारा सम्पादित

सांख्यायन ब्राह्मण— आनन्दाश्रम, पूना

तैतरीय ब्राह्मण — ,, ,,

ताण्ड महा-ब्राह्मण — बिब्लोथिका इण्डिका संस्करण

ऐतरेय आरण्यक — डॉ० कोथ द्वारा सम्पादित

तैतरीय आरण्यक—आनन्दाश्रम पूना संस्करण

२—श्रौत सूत्र, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र

आपस्तम्ब श्रौत सूत्र — डा० गार्वे द्वारा सम्पादित

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र — मैसूर गवर्नमेण्ट सीरीज

आपस्तम्ब धर्मसूत्र — कुम्भकोणम् संस्करण

आपस्तम्ब–मन्त्र–पाठ — डा० विण्टरनित्स द्वारा सम्पादित १८९७

आश्वलायन श्रौत सूत्र — बिब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता

आश्वलायन गृह्यसूत्र — निर्णयसागर, बम्बई १८९४

आश्वलायन गृह्यपरिशिष्ट— ,, ,,

बौधायन श्रौत सूत्र–(तीन भाग) डा० कैलेण्ड द्वारा वि० इ० में सम्पादित

बौधायन गृह्य-सूत्र—डा० शामशास्त्री द्वारा सम्पादित

बौधायन धर्मसूत्र — आनन्दाश्रम, पूना

भारद्वाज गृह्यसूत्र— डा० सलोमोन्स द्वारा लीड़न में सम्पादित ।

वृहद्देवता — डा० मेकडानल द्वारा हार्वर्ड सीरीज में सम्पादित

गौतम धर्मसूत्र —आनन्दाश्रम, पूना

गोभिल गृह्यसूत्र — वि० इ० कलकत्ता में प्रकाशित
गृह्य-संग्रह परिशिष्ट – बिब्लोथिका इरिडका में प्रकाशित
हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र – डा० क्रिर्स्टे द्वारा सम्पादित (वियना १८८६)
काठक गृह्यसूत्र – डा० कैलेण्ड द्वारा ,, ,, (१९२५)
कात्यायन श्रौतसूत्र – डा० वेबर द्वारा सम्पादित १८५६
खादिर गृह्यसूत्र – मैसूर गवर्नमेण्ट लाइब्रेरी सीरीज़
लाट्यायन श्रौतसूत्र – विब्लोथिक इरिडका, कलकत्ता
लौगाक्षि गृह्यसूत्र और काठक गृह्यसूत्र
सांख्यायन श्रौत सूत्र – बिब्लोथिका इरिडका, कलकत्ता
वाराह गृह्यसूत्र – गायकवाड ओरियन्टल सीरीज़, बड़ौदा
विष्णु धर्मसूत्र – डा० जोली द्वारा सम्पादित, कलकत्ता

३—स्मृतियाँ

मनुस्मृति; याज्ञवल्क्य स्मृति; नारद स्मृति; आङ्गिरस स्मृति; आपस्तम्ब स्मृति; अत्रि स्मृति; औशनस स्मृति; वृहद् यम स्मृति; बृहस्पति स्मृति; वृहद् पाराशर स्मृति; दक्ष स्मृति; गोभिल स्मृति; कात्यायन स्मृति; लघु अत्रि स्मृति; लघु हारीत स्मृति; लघु शंख स्मृति; लघु शातातप स्मृति; लघु विष्णु स्मृति; लघुव्यास स्मृति; लघु आश्वलायन स्मृति; लिखित स्मृति; पराशर स्मृति; शंख स्मृति; शातातप स्मृति; वेद व्यास स्मृति; वृद्ध गौतम स्मृति; वृद्ध हारीत स्मृति; यम स्मृति आदि। ('स्मृतीनां समुच्चयः', नाम से आनन्दाश्रम, पूना से इनमें से अधिकांश स्मृतियाँ प्रकाशित है)

४—पुराण तथा ५—अन्य ग्रन्थ

अग्नि पुराण, भागवत पुराण, ब्रह्म पुराण, मारकण्डेय पुराण, पद्म पुराण, स्कन्द पुराण आदि। रामायण, महाभारत; कामसूत्र (वात्स्यायन), अर्थशास्त्र (कौटिल्य) धर्म सिन्धु, निर्णय सिन्धु, उद्वाहतत्व, स्मृतिचन्द्रिका; कादम्बरी, शकुन्तला, कुमारसंभव, रघुवंश, महाभाष्य; स्मृति मुक्ताफल, स्मृति कौस्तुभ, व्यवहारमयूख, वीरमित्रोदय, संस्कार मयूख, संस्कार-प्रकाश आदि अनेक ग्रन्थ।

—०—

(ख) आधुनिक अङ्गरेजी ग्रन्थ

Altekar A. S. (Dr.)-The position of women in Hindu Civilization (Benares, 1938)

Barlet—G. A.—Men, women and conflict. N. Y. 1931

Collet—C. E.—Educated working women (London 1902)

Hamilton, G. V.-A Research in marriage N. Y. 1929

Karve—Irawati—Hindu Society-an Interpretation.

Knight, M. M.—The Companionate Marriage and the Family (N. Y. 1924)

Lindsey, B. B.—The Companionate Marriage. (London 1928)

„ The Revolt of modern youth. (London 1928)

Cope, E. D.—The Marriage Problem. (Chicago 1838)

Calverton, V. F.—The Bankruptcy of marriage 1931

Nimkoff, M. F.—The Family (Camb. Mass. 1934)

Russell, Bertrand—Marriage and Morals. (London 1929)

Goodsell, W.—A History of Marriage and Family. (N. y. 1934)

Cahen. A—Statistical Analysis of American Divorce (N. y. 1932)

Hartley, C. G.—Women, Children, love and marriage (London 1924)

Meisel-Hess, G.—The Sexual Crisis. (N. y. 1917)

Collins, J.—The Doctor looks at love and life 1926

Ellis, Havlock—Studies in the psychology of Sex. Vols I—VI (Philadelphia, 1923)

Morie Stopes—Married Love (London 1896)

Wernich, A.—The Sexual life of our times. 1908

Westermarck, E.—A History of Human marriage Vols 1-III, (Macmillan, 1926)

„ „ The Future of marriage in western Civiligation (Mac. 1936)

„ „ Three essays on sex and Marriage (Macmillan co, London)

„ „ Origin and Development of moral ideas (Macmillan & co. London)

Ruth Reed—The modern Family (N. Y. 1929)

May, G.—Social control of Sex expression (London 1930)

Key, Ellen—Love and marriage (London 1911)

Kisch—The Sexual life of women.

Meyer—Sexual life in ancient India. (London 1930)

Kane, P. V.—History of Dharm-Shastra (Poona 1941) Vol. 1—V,

Tripathi, G. M.— *M*arriage Forms under ancient Hindu Law (Bombay 1906)

*T*homson-E.—*T*he Suttee (London 1928)

Steele—Law and Custom of Hindu Castes.

Jolly—Hindu Law and custom (Eng. trans by B. K. Ghosh, (Calcutta 1928,)

*T*omas—Marriage and women in India.

—o—

अनुक्रमणिका

अकोकुयू ८३
अगस्त्य १४८
अग्निहोत्र ३८
अथर्ववेद ६४, ११२, १५६, १७७,
अपरार्क ३६
अफ्रिका २६, ७४
अमेजन ७२
अल्टेकर (डा०) २०
अशोक २३५
असीरियन ७५
अंगिरा १२१, १४५
आइन-अकबरी १३७
आइस-लैण्ड १७
आपस्तम्ब ४३, ४४, ५०, ५३, ७८
८५, ६५, ११७, १६१
आपस्तम्ब गृह्यसूत्र १०७, १०८
आश्वलायन ५०, ७४, १७४, १८६
आस्ट्रेलिया २६, ६०
इजराइल २६
इन्दुमती ३६
इसीदसी २२८
इंडो-आर्यन २८
इङ्गलैण्ड १३८, ३४५
ईश्वरचन्द्र विद्यासागर २०६
उदयन् ६७
उद्दालक १८
उर्वसी २८
ऋग्वेद २०, ४६, १४६, १४७, १५०,
१७५, १७८, २१२
एमबरी १७, २३
ऐतरेय ब्राह्मण ४०
ऐनू ७२
ओडोरिक १८
ओझा-गौरीशंकर हीराचन्द २३५
ओपङ्ग २६
औपजंघनि ३३०
ककुत्थवर्त्मन् २५१
कज्जाक ६१
कथा-सरित्-सागर ११८
कन्नौज ७२
कमलाकर भट्ट
कण्व ६५
कण्ह दीपायन २२८
कर्हाट ७१
कर्स्टन ३४१
कश्यप १४८
कल्हण २६४
कलेरा कोलेट ३४५
काणे, पी० वी०, (डा०) २०, २२
कादम्बरी ११६

कालिदास ४१, २१०
कालिन्दी २
काशी ३८
कासमास १६
कात्यायन १०४
कांस्ट्रेशन १०५
कुबेर नागा २३५
कुरु २०
कुशनाथ ११७
कुंडलकेशा १२७
केक्रोपस १५
केरोक ८२
केरोलाइन ८१
केल्ट २५८
केलिफोर्निया ८२
कैकेयी ६६
कैथोलिक २२६
कोप (इ०,डी०) ३४६
कौटिल्य १२६, २२६, २६०
गदाघर ७०
गान्धारी ७०
गांगेय देव २३५, २६८
गिबन्न १०
ग्रीनलैण्ड ६२
ग्रीस ३६, १०५
गुहदत्त २५१
गोगेट १५
गौतम ६२, ७४, ८८, १२१, ३२३
चतुर्थी कर्म १२४
चन्दल देवी ७१
चन्द्रगुप्त २३५
चन्द्रलेखा ७१
चार्ल्स दी गाल १०६
चिन (पहाड़ी) ८२
चुकचो २६
जयचन्द ७२, ११७
जटिला गौतमी २४२
जयमती २६४
जवीम ८३
जुलू ८३
जोधपुर २६६
जैमिनी ४५
टस्मानिया ५६
टेम्पोररी मैरेज ३४६
ट्रायल मैरेज ३४४
ट्यूटानिक ६२
ट्यूडर १३८
डाउसन ३४०
डारविन १४६
डायोनिशियन ६१
ड्रमालियन १६
तार्तार ८१
तिब्बत २६

तिमोर लाट ८३
तेनिम्बर ८१
तैत्तरीयोपनिषद् ३७, २१४
थेरी गाथा ७६
दमयन्ती ७०, ११६
दयानन्द सरस्वती ३३६
दुष्यन्त ६७
देवल ५२
देशमुख २२४
द्रौपदी ७१
धम्मपद ७६
धुमकुरिया १७
धर्मसिन्धु १७०
नाइट [एम०, एम०] ३४६
नागपुर ३४४
नारद ६५, १७०, ३००
नारवेजियन ३५८
—नारायण भट्ट १७४, १८१
निकोलस १६
निगेरिया ८२
नेपोलियन २६३
नेस्टर १६
निग्रोप्स ७३
नैषधीय चरित ११६
न्यूगिनी ८१, ८३
न्यू मिडिया १६
पतंजलि १४८
पद्मावती ६०
पटचरा १२७
पराशर ३११
प्लूटार्क ३६
पाणिनि १४८
पाण्डव २०
पारस्कर गृह्यसूत्र ४२, १७३, १६७
पुण्डरीक १२६
पेटे गोनिया ८२
पैठोनसी १४४
प्राचेतस २४२
प्राग १६
'प्रोमिस्क्विटी' २४
फर्निवल १३६
फिच १३०
फिलिपाइन ७३
फीजी द्वीप ६२
फेशर ३४६
फोही १४
फ्लोरिडा ८१
बाणभट्ट १०३, २६३
बार्टलेट ३४५
बुध सिंह २३५
बुशमेन १७
बोगोरस २६
बोरो ७२
बौधायन ६५, ७८, ८५, ६५, १६२ ३३६

ब्लाख १४, २३
भगवान् लाल इन्द्रजी २४३
भास २६३
भीष्म ५७
भृगु १४७
मत्स्य पुराण २१६
मनु ४४, ६३, ८६, ८८, ९२, १०६, १२९, २१५, २१६
मनूची १३७, २८५
मयूर शर्मन् २५१
मरमोल १६
मलक्का १८
मलगसी ३४१
मसाई २६
महाभारत १८, २१,४५,५७,६६,२१९
मातृदत्त १२७
माद्री ७७, २६२
माधवाचार्य ३०३
मान्धाता २०
मालती - माधव ६७
माहिष्मती २०, २१
मार्शल पेतां ३५२
मिताक्षरा १०३, १४२ १४९,
मुसोलिनी ३५२
मेककाल थील ७३
मेकोसिस ७२
मेन ३४१
मेन्स १४
मेड़ागास्कर ६०, ७३
मेधातिथि ५४
मेलनेशिया २६
मेसेगेटी १५
मैकलेनन १४, २३
मैगस्थनीज़ २६०
मैत्रेयी २३३
मोर्गन २३
मोर्यविन ८२
मोहन दत्त ३०८
मोरोक्को १६
यर्क १०
यहूदी ३४१
याज्ञवल्क्य ४४, ६३, ६९, ८६, ९२, १०३, १६९, १९५
योरुबा ३४०
रत्नावली ६७
रथवीती ४९
राम मोहन राय (राजा) २९०
राजेन्द्र देव २६८
राम-चरित-मानस ३८, १२८
रिमर्स २६

रिस्टोरेशन युग २२६
रूवल ८१
रूस ६१
रोमान्स ६२
लिपर्ट २३
लिण्डसे ३४७
लोकनाथ २५१
लैसन २०
वशिष्ठ ५०
वशिष्ठ धर्मसूत्र ११३
ब्रह्म-पुराण १३५, ३६
वात्स्यायन ६५, २६३
वाजसनेयी संहिता २३२
वाराह गृह्यसूत्र ५०
वाल्मीकि ३८
विक्टोरिया २४०
विज्ञानेश्वर ४४, १४१
विटोटो ७२
विष्णु धर्मसूत्र ५५, १०७
विलियम बैंटिंग (लार्ड) २५८
विल्केन ७३
विवाह
अन्तर जातीय विवाह २४४
आसुर ,, ४६, ७४
आर्ष ,, ८४
गान्धर्व ,, ६३
दैव ,, ६०
पैशाच ,, ५२
प्राजापत्य ,, ८७
राक्षस ,, ५५
ब्राह्म ,, ६१
बहु ,, २३१
बहु पति ,, २४०
विधवा ,, २६४
वृद्ध विवाह ,, २५५
विशाखा १२७
विफांत २५
वृहस्पति ४५
वेस्टरमार्क (डा०) ६-७, १३, २२, २४-२५, ३३४
ब्रेहम ६
शकुन्तला [नाटक] ६६
शतपथ ब्राह्मण ४१
शान्तनु [राजा] ६७, २३४
शारलाट १७
शिशुपाल ५७
शूद्रक २६३
श्वेतकेतु १५, १८
शंख [स्मृतिकार] २१५
शंभु संहिता ३२०
श्रोहर्ण ७०
सकई ७२

सती प्रथा २५६
समोषा ३४१
सहदेव २०
संयोगिता ११७
साइबेरिया ८३
सिदीयन १६, २५८
सुभद्रा ५६
सुमात्रा १८, ६३
सुबानू ८१
सोमाइट २६
सेक्रोपस १५
सैरन्ध्री २६२
सोमरि १
स्काटलैण्ड ३४५
स्टालिन ३५२
स्टील ३०६
स्ट्रेबो १५
स्लाव ६१, २५८
स्लेवानिक १६, ६२
स्वप्नवासवदत्ता ६७
हरदत्त ८७, १२५
हर विलास शारदा १३६
हर्ष चरित १०३
हरिश्चन्द्र २५०
हारीत स्मृति ६३, १०३
हिटलर १०५
हिरण्य गृह्यसूत्र २१३
हेमिल्टन ३४६
हेरोडोटस १५
हेरोरो २६

सन् १६६५ ई० में मारबुर्ग (पश्चिमी जर्मनी) में आयोजित जर्मन लोक - साहित्य सम्मेलन में एकाकी भारतीय प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित। सन् १६६६ ई० में पश्चिम जर्मनी के गाटिंगन विश्वविद्यालय के द्वारा भारतीय लोक - संस्कृति पर व्याख्यान देने के लिए विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में आमंत्रित। इसी समय यूरोप के फ्रान्स, इङ्गलैण्ड, स्वीटजरलैंण्ड, हंगेरी आदि देशों का परिभ्रमण। सन् १६६६ ई० में रूमानिया के बुखारेस्ट नगर में आयोजित "इण्टरनेशनल कांग्रेज फार फोक नरेटिव रिसर्च" के अधिवेशन में भारतीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित। इस कांग्रेस के एक सेक्शन के अध्यक्ष। इसी अवसर पर पूर्वी तथा उत्तरी यूरोप के डेनमार्क, नार्वे, स्वीडेन, फिनलैंण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि देशों के लोक - साहित्य संस्थानों का निरीक्षण तथा अध्ययन।

सन् १६६६ ई० में अमेरिका के इण्डियाना विश्वविद्यालय द्वारा भारतीय लोक साहित्य पर भाषण देने के लिए आमंत्रित। अमेरिका की 'एशियन फोकलोर सोसाइटी' की कार्य - कारिणी समिति के सदस्य। भारतीय लोक - संस्कृति शोध - संस्थान, वाराणसी से प्रकाशित "जर्नल आफ इण्डियन फोक - कल्चर" नामक शोध पत्रिका के प्रधान - सम्पादन (१६७१ ई०)। सन् १६४० ई० से भोजपुरी लोक—साहित्य की सेवा में सतत संलग्न। सन् १६४२ ई० भोजपुरी लोक - गीतों के सर्वप्रथम संग्रह - कर्ता। सन् १६५२ ई० में भोजपुरी लोक - साहित्य के सर्वप्रथम अनुसन्धान कर्ता। सन् १९७२ ई० में "भोजपुरी साहित्य का इतिहास" ग्रन्थ के सर्वप्रथम लेखक। भोजपुरी लोक - साहित्य की सेवा में निरन्तर निरत। भारतीय लोकसाहित्य तथा संस्कृति के मिशनरी। 'भारतीय लोक - संस्कृति ग्रन्थ - माला के प्रवर्तक तथा प्रधान सम्पादक। देश तथा विदेश की विख्यात शोध-पत्रिकाओं में अनेक लेखों का प्रकाशन। लोक - साहित्य तथा संस्कृति संबंधी बीसियों ग्रन्थों के प्रणेता। भोजपुरी तथा भारतीय लोक - साहित्य की सेवा ही जीवन का एकमात्र बल और सम्बल।

लेखक के द्वारा रचित लोक-साहित्य-संबंधी ग्रन्थ

(क) मौलिक—१–भोजपुरी लोक-साहित्य का अध्ययन

२–भोजपुरी और उसका साहित्य

३–भोजपुरी साहित्य का इतिहास

४–लो॰ - साहित्य की भूमिका

५–हिन्दू-विवाह की उत्पत्ति और विकास

६–लोक-जीवन के रेखाचित्र

७–भोजपुरी लोक-साहित्य (प्रेस में)

[illegible]जपुरी लोक-संस्कृति (प्रेस में)

९–फोकलोर आफ उत्तर प्रदेश (प्रेस में, अंग्रेजी)

(ख) सम्पादित—१०–भोजपुरी लोक-गीत भाग—१

११–भोजपुरी लोक-गीत भाग—२

१२–भारतीय लोक-संस्कृति

१३–हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग—१६ (लोक-साहित्य)

१४–स्टडीज इन इण्डियन फोक कल्चर

१५–इन्डियन फोकलोर

१६–अवधी लोक-गीत भाग—१ (प्रेस में)

१७–भोजपुरी लोक-कथा (प्रेस में)

(ग) प्रकाश्य—१८–इण्डियन फोक लिटरेचर

१९–इण्डियन फोक कल्चर

२०–फोकलोर इन एन्शेण्ट इण्डिया

२२–भारतीय लोक-संस्कृति का इतिहास

२३–यूरोप की सांस्कृतिक यात्रा

२४–मानस के पात्रों का [illegible]

(घ) इतर ग्रन्थ—२५–चाह-चरितावली २६–आ[illegible]

२७–विद्यालय संगठन २८–भगवद् गीता (अनुवाद)

२९–निबन्ध-चन्द्रिका ३०–व्रत चन्द्रिका ।